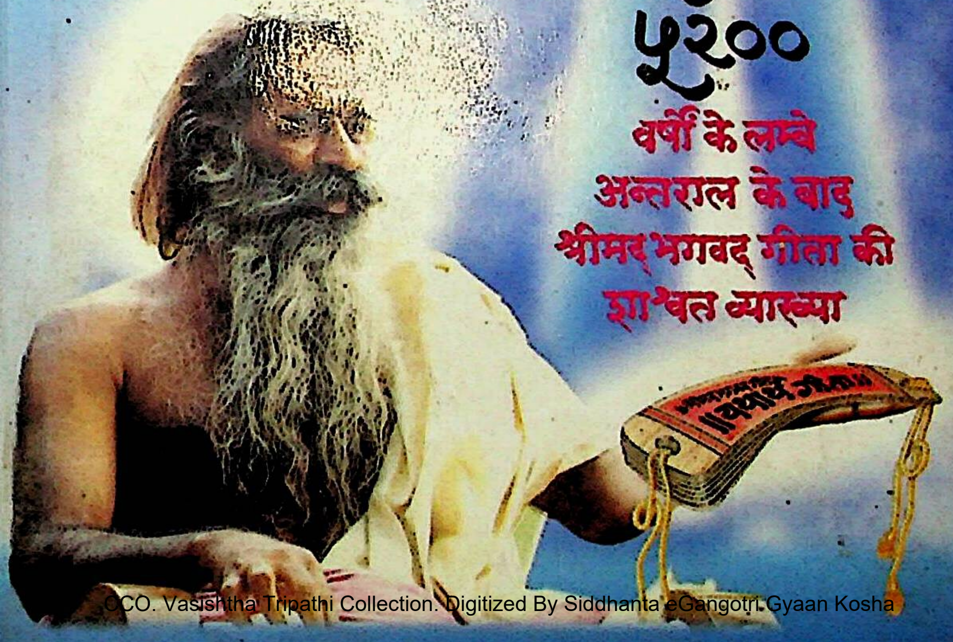
॥ श्रीमद् भगवद् गीता ॥

॥ यथार्थ गीता ॥

''मानव धर्मशास्त्र''

५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००

वर्षों के लम्बे
अन्तराल के बाद
श्रीमद् भगवद् गीता की
शाश्वत व्याख्या



गीता आपका धर्मशास्त्र है।

विश्व में प्रचलित सम्पूर्ण धार्मिक विचारों के आदि उद्गम स्थल भारत के समस्त आध्यात्म और आत्मस्थिति दिलानेवाले सम्पूर्ण शोध के साधन क्रम का स्पष्ट वर्णन इस गीता में है, जिसमें ईश्वर एक, पाने की क्रिया एक पथ में अनुकम्पा एक तथा परिणाम एक है ...वह है प्रभु का दर्शन, भगवतस्वरूप की प्राप्ति और काल से अतीत अनन्त जीवन। देखें - "यथार्थ गीता"।

५२००

५२००

५२००

५२००

५२००

५२००

वर्षों के लम्बे अन्तराल के बाद श्रीमद् भगवद् गीता की शाश्वत व्याख्या



6.5

P No 222121

उदय प्रकाश शुक्ल
D 63/1-B-12-S
गोविन्द नगर
शिवपुरवा
महमूरगंज

।। ॐ नमः सद्गुरुदेवाय ।।

श्रीमद्भगवद्गीता

यथार्थ गीता

'मानव धर्मशास्त्र'

व्याख्याकार :

परमपूज्य श्री परमहंस जी महाराज का कृपाप्रसाद

स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम शक्तेषगढ़

ग्राम पोस्ट - शक्तेषगढ़, जिला - मिर्जापुर

उत्तर प्रदेश, भारत.

फोन : (०५४४३) २२४४०

ॐ

प्रकाशक :

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्द जी आश्रम ट्रस्ट

२९ ए, फ्रेंच रोड (मर्चेंट क्लब के सामने)

चौपाटी, मुंबई-४०० ००७

फोन : २३४ ९०००

फैक्स : (०९१-२२) ३६४३१०९

वेबसाइट : www.yatharthgeeta.com

संस्करण - सन् १९९४ से २००१ तक - ४६,५०० प्रतियाँ

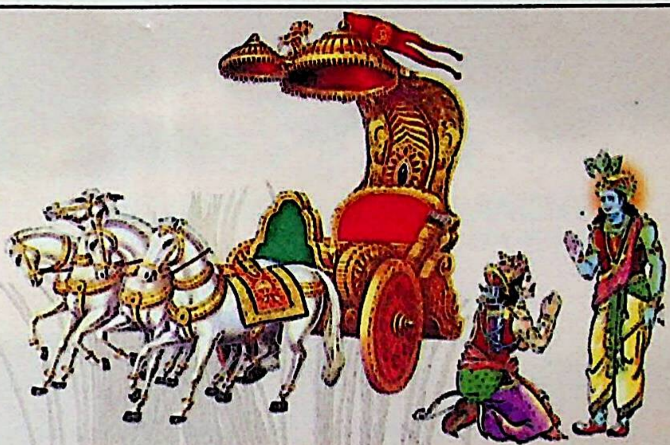
- सन् २००२ (संशोधित) - ५,००० प्रतियाँ

मूल्य : रु. १५०/-

मुद्रक :

प्रिया ग्राफिक्स

मुंबई-४०० ०७२.



श्रीकृष्ण ने जिस समय गीता का उपदेश दिया था, उस समय उनके मनोगत भाव क्या थे? मनोगत समस्त भाव कहने में नहीं आते। कुछ तो कहने में आ पाते हैं, कुछ भाव-भंगिमा से व्यक्त होते हैं और शेष पर्याप्त क्रियात्मक हैं – जिसे कोई पथिक चलकर ही जान सकता है। जिस स्तर पर श्रीकृष्ण थे, क्रमशः चलकर उसी अवस्था को प्राप्त महापुरुष ही जानता है कि गीता क्या कहती है ? वह गीता की पंक्तियाँ ही नहीं दुहराता, बल्कि उनके भावों को भी दर्शा देता है क्योंकि जो दृश्य श्रीकृष्ण के सामने था, वही उस वर्तमान महापुरुष के समक्ष भी है। इसलिये वह देखता है, दिखा देगा; आपमें जागृत भी कर देगा, उस पथ पर चला भी देगा।

'पूज्य श्री परमहंस जी महाराज' भी उसी स्तर के महापुरुष थे। उनकी वाणी तथा अन्तप्रेरणा से गीता का जो अर्थ मिला, उसी का संकलन 'यथार्थ गीता' है।

स्वामी अड़गड़ानन्द

WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT
(विश्व धर्म संसद)

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI - 110 015 (INDIA).

विश्वगौरव सम्मानपत्र

वेदवेदांग आयुर्वेद ज्योतिषादि शास्त्रपरम्परासुरक्षाव्रती, अखिल संस्कृतवाङ्मयसंरक्षण—प्रचार—
प्रसारपक्षधर आर्षसनातनमर्यादाजीवनपद्धतिसदाचारपरायण, "सर्वभूतहिते रतः—वसुधैव कुटुम्बकम्"
के सद्भावना पर्यावरण से ओतप्रोत,

सम्माननीय श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज - परमहंस आश्रम

निवासी शक्तेशगढ़ चुनार (मिर्जापुर) को

अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन में विश्वगौरव सम्मानपत्र से विभूषित किया जाता है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

World Religious Parliament is pleased to confer
The Title of Vishwagaurav
In recognition of his meritorious contribution for World Development
through श्रीमद्भगवद्गीता, धर्मशास्त्र, (भाष्य यथार्थ गीता)
दिनांक कुम्भ मेला 10-4-98 हरिद्वार

Chairman (जगद्गुरु)
Presentation Committee

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman
World Religious Parliament

बीसवीं शताब्दी के अंतिम महाकुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में समस्त शंकराचार्यों, महामंडलेश्वरों, ब्राह्मण महा सभा और ४४ देशों के धर्मशील विद्वानों की उपस्थिति में विश्वधर्म संसद द्वारा पूज्य स्वामी जी को "विश्वगौरव" सम्मान पत्र प्रदान किया गया।

WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT
(विश्व धर्म संसद्)

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI - 110 015 (INDIA).

भारतगौरव सम्मानपत्र

वेदवेदांग आयुर्वेद ज्योतिषादि शास्त्रपरम्परासुरक्षाव्रती, अखिल संस्कृतवाङ्मयसंरक्षण—प्रचार—प्रसारपक्षधर आर्षसनातनमर्यादाजीवनपद्धतिसदाचारपरायण, "सर्वभूतहिते रतः—वसुधैव कुटुम्बकम्" के सद्भावना पर्यावरण से ओतप्रोत,

सम्माननीय श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी महाराज

निवासी ______ को

अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन में भारतगौरव सम्मानपत्र से विभूषित किया जाता है।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

World Religious Parliament is pleased to confer
The Title of Bharatgaurav
In recognition of his meritorious contribution for World Development
through Spiritual Discourse

Chairman ......, कर्नाटक
Presentation Committee

Acharya Prabhakar Mishra
Chairman
World Religious Parliament

मानव मात्र का धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवत गीता, की विशुद्ध व्याख्या "यथार्थ गीता" को धर्म संसद द्वारा दि. १०.४.९८ को महाकुम्भ के अवसर पर 'भारतगौरव' के सम्मान पत्र से सम्मानित किया गया।

विश्व धर्म संसद्
WORLD RELIGIOUS PARLIAMENT

C-121, KIRTI NAGAR, NEW DELHI 110 015 (INDIA)

सम्मान प्रमाणपत्र

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" के मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित विश्व में निरोगसमाज की स्थापना तथा शारीरिक मानसिक बौद्धिक सामाजिक स्वास्थ्य की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील एवं बाह्य तथा आन्तरिक पर्यावरण की स्वच्छता के लिए संकल्पित विश्व धर्मसंसद् प्राच्यअर्वाच्य ज्ञान विज्ञान की किसी भी शाखा के माध्यम से मानवता की सेवाओं में समर्पित व्यक्तियों को सम्मान करने में गौरव समझती है।

इसी धारणा-अवधारणा के दृष्टिकोण से उल्लेखनीय ज्ञान तथा सेवाओं के लिए

श्री विश्वमानव को एक धर्मशास्त्र दाता विश्वगौरव स्वामी अड़गड़ानन्द जी को

— यथार्थ गीता धार्मिक — क्षेत्र/विषय में — विश्वगुरु — सम्माननीय उपाधि से

सम्मानित तथा जनसेवा के क्षेत्र में अग्रणी प्रमाणित करती है।

श्रीमद् भगवद् गीता भाष्य "यथार्थ गीता" धर्मशास्त्र है।

World Religious Parliament is pleased to confer the above Title in recognition of his meritorious contribuiton for World Development through ______________________

26-1-2001

ACharya Prabhakar Mishra
Chairman
Presentation Committee
or
Presiding Authority

महाकुम्भ मेला प्रयाग

WRP

Acharya Prabhakar Mishra
Acharya Prabhakar Mishra
Chairman (Indian Region)
World Religious Parliament

विश्व धर्म परिषद ने विश्व मानव धर्मशास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य 'यथार्थ गीता' पर परम पूज्य विश्व गौरव परमहंस स्वामी श्री अड़गड़ानन्द महाराजजी को प्रयाग के परम पावन पर्व महाकुम्भ के अवसर पर दिनांक २६-१-२००१ के 'विश्व गुरु' की उपाधी से विभूषित किया।

गीता मानवमात्र का धर्मशास्त्र है।

- महर्षि वेदव्यास

श्रीकृष्णकालीन महर्षि वेदव्यास से पूर्व कोई भी शास्त्र पुस्तक के रूप में उपलब्ध नहीं था। श्रुतज्ञान की इस परम्परा को तोड़ते हुए उन्होंने चार वेद, ब्रह्मसूत्र, महाभारत, भागवत एवं गीता जैसे ग्रन्थों में पूर्व संचित भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानराशि को संकलित कर अन्त में स्वयं ही निर्णय दिया कि 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन' सारे वेदों के प्राण, उपनिषदों का भी सार है गीता - जिसे गोपाल श्रीकृष्ण ने दुहा और अशान्त जीव को परमात्मा के दर्शन और साधन की स्थिति शाश्वत शान्ति की स्थिति तक पहुँचाया। उन महापुरुष ने अपनी कृतियों में से गीता को शास्त्र की संज्ञा देते हुए स्तुति की और कहा, 'गीता सुगीता कर्तव्या' गीता भली प्रकार मनन करके हृदय में धारण करने योग्य है, जो पद्मनाभ भगवान के श्रीमुख से निःसृत वाणी है फिर अन्य शास्त्रों के संग्रह की क्या आवश्यकता?

गीता का सारांश इस श्लोक से प्रकट होता है :

एकं शास्त्रं देवकीपुत्र गीतम्, एको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मंत्रस्तस्य नामानि यानि, कर्माप्येको तस्य देवस्य सेवा।।

अर्थात् एक ही शास्त्र है जो देवकी पुत्र भगवान ने श्रीमुख से गायन किया-गीता! एक ही प्राप्त करने योग्य देव है। उस गायन में जो सत्य बताया-आत्मा! सिवाय आत्मा के कुछ भी शाश्वत नहीं है। उस गायन में उन महायोगेश्वर ने क्या जपने के लिये कहा - ओम्! अर्जुन! ओम् अक्षय परमात्मा का नाम है, उसका जप कर और ध्यान मेरा धर! एक ही धर्म है गीता में वर्णित परमदेव एक परमात्मा की सेवा! उन्हें श्रद्धा से अपने हृदय में धारण करो। अस्तु, आरम्भ से ही गीता आपका शास्त्र रहा है। भगवान श्रीकृष्ण के हजारों वर्ष पश्चात् परवर्ती जिन महापुरुषों ने एक ईश्वर को सत्य बताया, गीता के ही

संदेशवाहक हैं। ईश्वर से ही लौकिक एवं पारलौकिक सुखों की कामना, ईश्वर से डरना, अन्य किसी को ईश्वर न मानना यहाँ तक तो सभी महापुरुषों ने बताया किन्तु ईश्वरीय साधना, ईश्वर तक की दूरी तय करना यह केवल गीता में ही सांगोपांग क्रमवद्ध सुरक्षित है। गीता से सुख-शान्ति तो मिलती ही है किन्तु यह अक्षय अनामय पद भी देती है। देखिये गीता की गौरव प्राप्त टीका - "यथार्थ गीता"।

यद्यपि विश्व में सर्वत्र गीता का समादर है फिर भी यह किसी मजहब या सम्प्रदाय का साहित्य नहीं बन सका क्योंकि सम्प्रदाय किसी न किसी रूढ़ि से जकड़े हैं। भारत में प्रकट हुई गीता विश्व मनीषा की धरोहर है, अतः इसे राष्ट्रीय शास्त्र का मान देकर ऊँच-नीच, भेद-भाव तथा कलह परम्परा से पीड़ित विश्व की सम्पूर्ण जनता को शान्ति देने का प्रयास करें।

।।ॐ।।

प्राचीनकाल से लेकर अद्यतन मनीषियों द्वारा दिये गये तैथिक क्रमानुसार संदेश

(श्री परमहंस आश्रम जगतानन्द, ग्रा. पो. बरैनी, कछवा, जिला मिर्जापुर (उ. प्र.) में अपने निवास की अवधि में स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी ने प्रवेश-द्वार के पास इस तालिका को गंगा दशहरा (१९९३ ई.) के पावन पर्व पर बोर्ड पर अंकित कराया।)

// विश्वगुरु भारत //

- **वैदिक ऋषि (अनादि काल - नारायण सूक्त) -**
  कण-कण में व्याप्त ब्रह्म ही सत्य है। उसे विदित करने के अतिरिक्त मुक्ति का कोई अन्य उपाय नहीं है।

- **भगवान श्रीराम (त्रेता-लाखों वर्ष पूर्व-रामायण) -**
  एक परमात्मा के भजन के विना जो कल्याण चाहता है वह मूढ़ है।

- **योगेश्वर श्रीकृष्ण (५००० वर्ष पूर्व-गीता) -**
  परमात्मा ही सत्य है। चिन्तन की पूर्ति में उस सनातन ब्रह्म की प्राप्ति संभव है। देवी-देवताओं की पूजा मूढ़बुद्धि की देन है।

- **महात्मा मूसा (३००० वर्ष पूर्व - यहूदी धर्म) -**
  तुमने ईश्वर से श्रद्धा हटायी, मूर्ति बनायी - इससे ईश्वर नाराज है। प्रार्थना में लग जाओ।

- **महात्मा जरथुस्त्र (२७०० वर्ष पूर्व-पारसी धर्म) -**
  अहुरमज्दा (ईश्वर) की उपासना द्वारा हृदय में स्थित विकारों को नष्ट करो, जो दुःख के कारण हैं।

- **भगवान महावीर (२६०० वर्ष पूर्व-जैन ग्रन्थ) -**
  आत्मा ही सत्य है। कठोर तपस्या से इसी जन्म में जाना जा सकता है।

- **गौतम बुद्ध (२५०० वर्ष पूर्व - महापरिनिव्वान सुत्त) -**
  मैंने उस अविनाशी पद को प्राप्त किया है जिसे पूर्व महर्षियों ने प्राप्त किया था - यही मोक्ष है।

- **मसीह ईसा (२००० वर्ष पूर्व - ईसाई धर्म) -**
  ईश्वर प्रार्थना से प्राप्त होता है। मेरे अर्थात् सद्‌गुरु के पास आओ, इसलिए कि ईश्वर के पुत्र कहलाओगे।

- **हज़रत मुहम्मद साहब (१४०० वर्ष पूर्व - इस्लाम धर्म) -**
  'ला इलाह इल्लल्लाह मुहम्मदुर्र रसूलल्लाह' - जर्रे-जर्रे में व्याप्त खुदा (ईश्वर) के सिवाय कोई पूजनीय नहीं है। मुहम्मद अल्लाह के सन्देशवाहक हैं।

- **आदि शंकराचार्य (१२०० वर्ष पूर्व) -**
  जगत् मिथ्या है। इसमें सत्य हैं केवल हरि और उनका नाम!

- **सन्त कबीर (६०० वर्ष पूर्व) -**
  'राम नाम अति दुर्लभ, औरन ते नहीं काम। आदि मध्य और अन्तहूँ, रामहिं ते संग्राम।।' राम से संघर्ष करो, वही कल्याणकारी हैं।

- **गुरु नानक (५०० वर्ष पूर्व) -**
  'एक ओंकार सतगुरु प्रसादि।' एक ओंकार ही सत्य है किन्तु वह सद्‌गुरु की कृपा का प्रसाद है।

- **स्वामी दयानन्द सरस्वती (२०० वर्ष पूर्व) -**
  अजर, अमर, अविनाशी एक परमात्मा की उपासना करें। उस ईश्वर का मुख्य नाम ओम् है।

- **स्वामी श्री परमानन्द जी (१९१२-१९६९ ई.) -**
  भगवान जव कृपा करते हैं तो शत्रु मित्र हो जाते हैं, विपत्ति सम्पत्ति हो जाती है। भगवान सर्वत्र से देखते हैं।

।।ॐ।।

अनन्तश्री विभूषित,

योगिराज, युग पितामह

परमपूज्य श्री स्वामी परमानन्द जी

श्री परमहंस आश्रम अनुसुइया

(चित्रकूट)

के परम पावन चरणों में

सादर समर्पित

- अन्तस्प्रेरणा

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्‌गुरुदेव भगवान्‌ की जय ।।

जय सद्‌गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

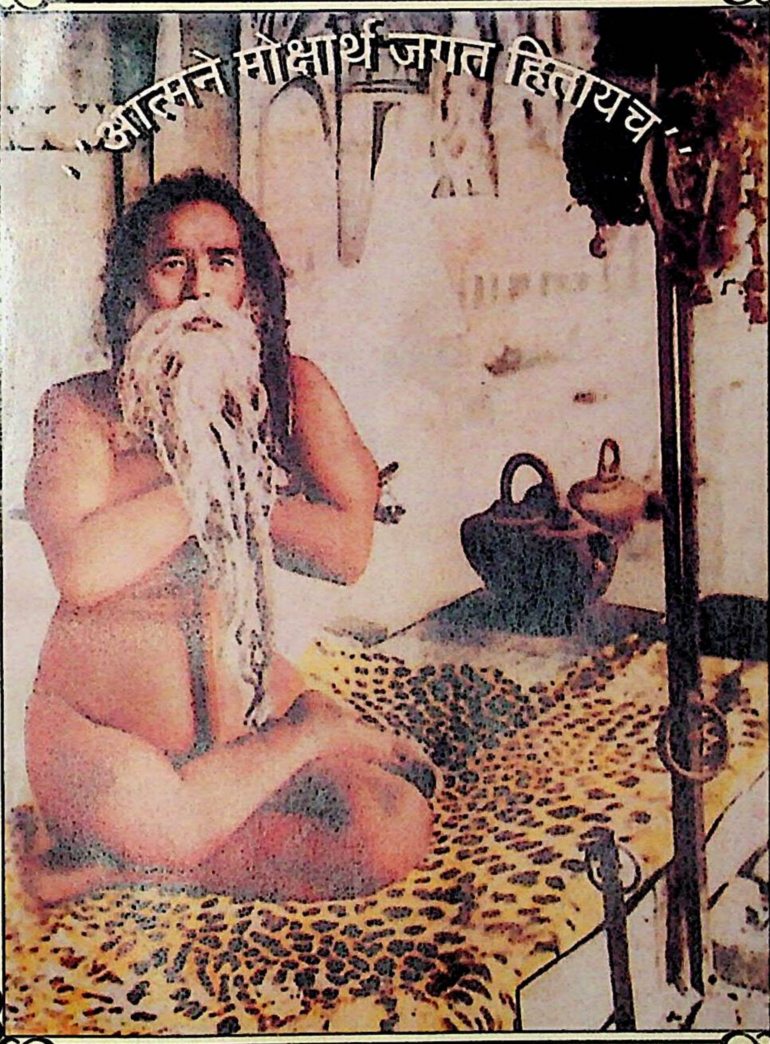
अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वैष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसूइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्‌-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्‌गुरु.....भारी।।

।। ॐ ।।

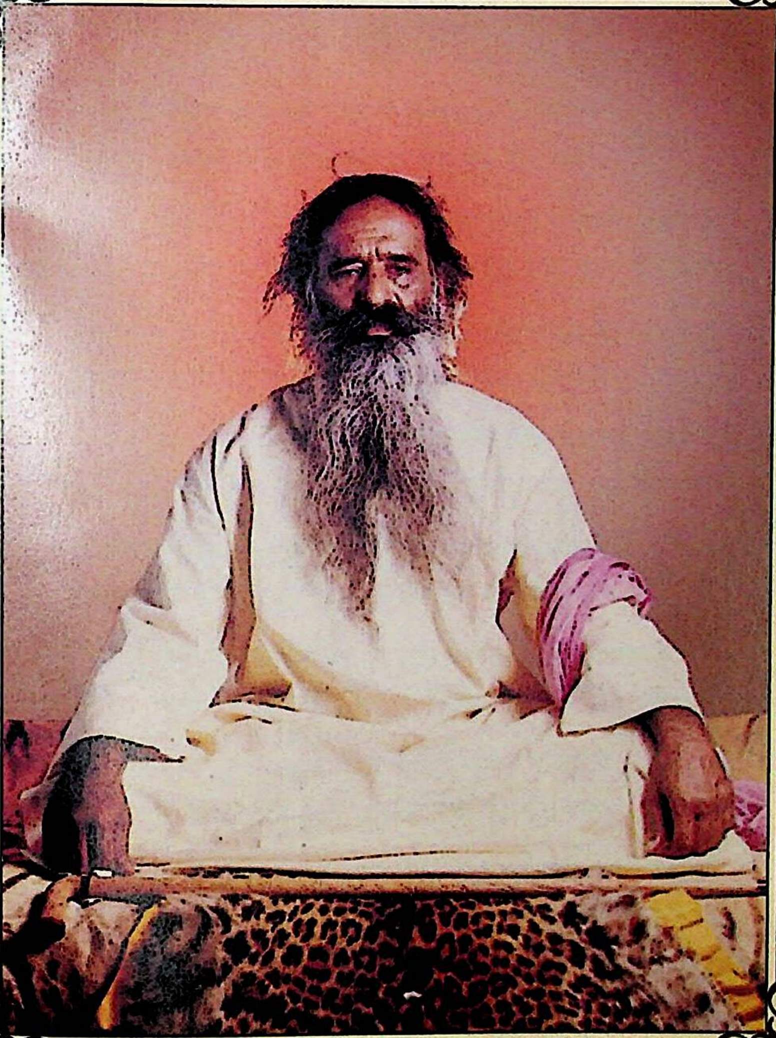


श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (१९१२ ई.)

महाप्रयाण ज्येष्ठ शुक्ल ७, २०२६ दिनांक २३/०५/१९६९

परमहंस आश्रम अनुसुइया (चित्रकूट)



श्री स्वामी अड़गड़ानन्द जी

(परमहंस महाराज का कृपा प्रसाद)

वन्दना

भवसागर-तारण कारण हे, रविनन्दन-बन्धन-खण्डन हे।
शरणागत किंकर भीत मने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

हृदि-कन्दर-तांमस-भास्कर हे, तुम विष्णु प्रजापति शंकर हे।
परब्रह्म परात्पर वेद भणें, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

मन-वारण-कारण अंकुश हे, नर त्राण करे हरि चाक्षुष हे।
गुण-गान-परायण देवगणे, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

कुल-कुण्डलिनी तुम भंजक हे, हृदि-ग्रन्थ विदारण कारण हे।
महिमा तव गोचर शुद्ध मने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

अभिमान-प्रभाव-विमर्दक हे, अति हीन जने तुम रक्षक हे।
मन-कम्पित-वंचित-भक्ति-घने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

रिपुसूदन मंगलनायक हे, सुख-शान्ति-वराभय दायक हे।
भव-ताप हरे तव नाम गुणे, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

तव नाम सदा सुख-साधक हे, पतिताधम-मानव पावक हे।
मम मानस चंचल रात्रि दिने, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

जय सद्‌गुरु ईश्वर प्रापक हे! भवरोग-विकार विनाशक हे।
मन लीन रहे तव श्रीचरणे, गुरुदेव दया कर दीन जने।।

।। ॐ श्री सद्‌गुरुदेव भगवान् की जय ।।

अनुक्रमणिका

धर्म-सिद्धान्त - एक

१) सभी प्रभु के पुत्र-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।१५/७

सभी मानव ईश्वर की सन्तान हैं।

२) मानव तन की सार्थकता-

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।९/३३

सुखरहित, क्षणभंगुर किन्तु दुर्लभ मानव तन को पाकर मेरा भजन कर अर्थात् भजन का अधिकार मनुष्य शरीरधारी को है।

३) मनुष्य की केवल दो जाति -

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु।।१६/६

मनुष्य केवल दो प्रकार के हैं - देवता और असुर। जिसके हृदय में दैवी सम्पत्ति कार्य करती है वह देवता है तथा जिसके हृदय में आसुरी सम्पत्ति कार्य करती है वह असुर है। तीसरी कोई अन्य जाति सृष्टि में नहीं है।

४) हर कामना ईश्वर से सुलभ-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्
अश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।९/२०

मुझे भजकर लोग स्वर्ग तक की कामना करते हैं, मैं उन्हें देता हूँ। अर्थात् सब कुछ एक परमात्मा से सुलभ है।

५) भगवान् की शरण से पापों का नाश-

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।४/३६

सम्पूर्ण पापियों से अधिक पाप करने वाला भी ज्ञानरूपी नौका से निःसन्देह पार हो जायेगा।

६) ज्ञान-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१३/११

आत्मा के आधिपत्य में आचरण, तत्त्व के अर्थ रूप मुझ परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है अज्ञान है। अतः ईश्वर की प्रत्यक्ष जानकारी ही ज्ञान है।

७) भजन का अधिकार सबको-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।९/३०-३१

अत्यन्त दुराचारी भी मेरा भजन करके शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है एवं सदा रहनेवाली शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लेता है। अतः धर्मात्मा वह है जो एक परमात्मा के प्रति समर्पित है और भजन करने का अधिकार दुराचारी तक को है।

८) भगवत्पथ में बीज का नाश नहीं-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।२/४०

इस आत्मदर्शन की क्रिया का स्वल्प आचरण भी जन्म-मरण के महान् भय से उद्धार करने वाला होता है।

९) ईश्वर का निवास-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।१८/६१

ईश्वर सभी भूत-प्राणियों के हृदय में रहता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।१८/६२

सम्पूर्ण भाव से उस एक परमात्मा की शरण में जाओ जिसकी कृपा से तू परमशान्ति, शाश्वत परम धाम को प्राप्त होगा।

१०) यज्ञ-

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।४/२७

सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार को, मन की चेष्टाओं को ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्मा में संयम रूपी योगाग्नि में हवन करते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।४/२९

बहुत से योगी श्वास को प्रश्वास में हवन करते हैं और बहुत से प्रश्वास को श्वास में। इससे उन्नत अवस्था होने पर अन्य श्वास-प्रश्वास की गति रोककर प्राणायाम परायण हो जाते हैं। इस प्रकार योग-साधना की विधि-विशेष का नाम यज्ञ है। उस यज्ञ को कार्य रूप देना कर्म है।

११) यज्ञ करने का अधिकार-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।४/३१

यज्ञ न करने वालों को दुबारा मनुष्य-शरीर भी नहीं मिलता अर्थात् यज्ञ करने का अधिकार उन सबको है जिन्हें मनुष्य-शरीर मिला है।

१२) ईश्वर देखा जा सकता है-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।११/५४

अनन्य भक्ति के द्वारा मैं प्रत्यक्ष देखने-जानने तथा प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२/२९

इस अविनाशी आत्मा को कोई विरला ही आश्चर्य की तरह देखता है अर्थात् यह प्रत्यक्ष दर्शन है।

१३) आत्मा ही सत्य है, सनातन है-

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२/२४

यह आत्मा सर्वव्यापक, अचल स्थिर रहनेवाला और सनातन है। आत्मा ही सत्य है।

१४) विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है-

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।८/१६

ब्रह्मा और उनसे निर्मित सृष्टि, देवता और दानव दुःखों की खानि, क्षणभंगुर और नश्वर हैं।

१५) देव-पूजा-

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।७/२०

कामनाओं से जिनकी बुद्धि आक्रान्त है ऐसे मूढ़वुद्धि ही परमात्मा के अतिरिक्त अन्य देवताओं की पूजा करते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।९/२३

देवताओं को पूजने वाला मेरी ही पूजा करता है किन्तु यह पूजन अविधिपूर्वक है, इसलिये नष्ट हो जाता है।

शास्त्रविधि का त्याग -

अर्जुन, शास्त्रविधि को त्याग कर भजने वाले सात्विक श्रद्धावाले देवताओं को, राजस पुरुष यक्ष-राक्षसों को और तामस पुरुष भूत-प्रेतों को पूजते हैं किन्तु -

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।१७/४-६

वे शरीर रूप में स्थित भूत समुदाय और अंतर्यामी रूप से स्थित मुझ परमात्मा को कृश करने वाले हैं। उनको तू असुर जान। अर्थात् देवताओं को पूजने वाले भी आसुरी वृत्ति के अंतर्गत हैं।

१६) अधम-

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेष योनिषु।।१६/७-१९

जो यज्ञ की नियत विधि छोड़ कल्पित विधियों से यजन करते हैं वे ही क्रूरकर्मी, पापाचारी तथा मनुष्यों में अधम हैं। अन्य कोई अधम नहीं हैं।

१७) नियत विधि क्या है?

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।८/१३

ॐ, जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है उसका जप तथा मुझ एक परमात्मा का स्मरण, तत्त्वदर्शी महापुरुष के संरक्षण में ध्यान।

१८) शास्त्र-

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।१५/२०

इस प्रकार यह अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। स्पष्ट है कि शास्त्र गीता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।१६/२४

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्धारण में शास्त्र ही प्रमाण है। अतः गीता में निर्धारित विधि से आचरण करें।

१९) धर्म-

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।१८/६६

धार्मिक उथल-पुथल को छोड़ एकमात्र मेरी शरण हो जा अर्थात् एक भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण ही धर्म का मूल है; उस प्रभु को पाने की नियत विधि का आचरण ही धर्माचरण है (अध्याय २, श्लोक ४०) और जो उसे करता है वह अत्यन्त पापी भी शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है (अध्याय ९, श्लोक ३०)।

२०) धर्म प्राप्त कहाँ से करें?

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।१४/२७

उस अविनाशी ब्रह्म का, अमृत का, शाश्वत धर्म का और अखण्ड एकरस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् परमात्म स्थित सद्गुरु ही इन सबका आश्रय है।

नोट : विश्व के सारे धर्मों की सत्यधारा गीता का ही प्रसारण है।

प्राक्कथन

वस्तुतः गीता पर टीका लिखने की अब कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती; क्योंकि इस पर सैकड़ों टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं, जिनमें पचासों तो केवल संस्कृत में ही हैं। गीता को लेकर पचासों मत हैं, जबकि सबकी आधारशिला एकमात्र गीता है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तो कोई एक बात कही होगी, फिर यह मतभेद क्यों? वस्तुतः वक्ता एक ही बात कहता है; किन्तु श्रोता यदि दस बैठे हों तो दस प्रकार के आशय ग्रहण करते हैं। व्यक्ति की बुद्धि पर तामसी, राजसी अथवा सात्त्विक गुणों का जितना प्रभाव है, उसी स्तर से उस वार्त्ता को पकड़ पाता है। इससे आगे वह समझ नहीं पाता। अतः मतभेद स्वाभाविक है।

विभिन्न मतवादों से और कभी-कभी एक ही सिद्धान्त को अलग-अलग काल और भाषाओं में व्यक्त करने से साधारण मनुष्य संशय में पड़ जाता है। बहुत-सी टीकाओं के बीच वह सत्य-धारा भी प्रवाहित है; किन्तु शुद्ध अर्थवाली एक पुस्तक हजारों टीकाओं के बीच रख दी जाय, तो उनमें यह पहचानना कठिन हो जाता है कि यथार्थ कौन है? वर्तमान काल में गीता की बहुत-सी टीकाएँ हो गयी हैं, सभी अपनी सत्यता का उद्घोष करती हैं; किन्तु गीता के शुद्ध अर्थ से वे बहुत दूर हैं। निःसन्देह कुछ महापुरुषों ने सत्य का स्पर्श भी किया किन्तु कतिपय कारणों से वे उसे समाज के समक्ष प्रस्तुत न कर सके।

श्रीकृष्ण के आशय को हृदयंगम न कर पाने का मूल कारण है कि वे एक योगी थे। श्रीकृष्ण जिस स्तर की बात करते हैं, क्रमशः चलकर उसी स्तर पर खड़ा होनेवाला कोई महापुरुष ही अक्षरशः बता सकेगा कि श्रीकृष्ण ने जिस समय गीता का उपदेश दिया था, उस समय उनके मनोगत भाव क्या थे? मनोगत समस्त भाव कहने में नहीं आते। कुछ तो कहने में आ पाते हैं, कुछ भाव-भंगिमा से व्यक्त होते हैं और शेष पर्याप्त क्रियात्मक हैं - जिसे कोई पथिक चलकर ही जान सकता है। जिस स्तर पर श्रीकृष्ण थे, क्रमशः चलकर उसी अवस्था को प्राप्त महापुरुष ही जानता है कि गीता क्या कहती है? वह गीता की पंक्तियाँ ही नहीं दुहराता, बल्कि उनके भावों को भी दर्शा देता है क्योंकि जो दृश्य

श्रीकृष्ण के सामने था, वही उस वर्तमान महापुरुष के समक्ष भी है। इसलिये वह देखता है, दिखा देगा; आपमें जागृत भी कर देगा, उस पथ पर चला भी देगा।

'पूज्य श्री परमहंस जी महाराज' भी उसी स्तर के महापुरुष थे। उनकी वाणी तथा अन्तर्प्रेरणा से मुझे गीता का जो अर्थ मिला, उसी का संकलन 'यथार्थ गीता' है। इसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। यह 'क्रियात्मक' है। साधन अपनानेवाले प्रत्येक पुरुष को इसी परिधि से गुजरना होगा। जब तक वह इससे अलग है, तब तक स्पष्ट है कि वह साधन नहीं करता, किसी-न-किसी प्रकार की लकीर अवश्य पीटता है; अतः किसी महापुरुष की शरण लें। श्रीकृष्ण ने किसी अन्य सत्य को नहीं बताया - 'ऋषिभिर्बहुधा गीतं' - ऋषियों ने अनेकों बार जिसका गायन किया है, वही कहने जा रहा हूँ। उन्होंने यह नहीं कहा कि उस ज्ञान को केवल मैं ही जानता हूँ या मैं ही बताऊँगा, बल्कि कहा - "किसी 'तत्त्वदर्शी' के पास जाओ, निष्कपट भाव से सेवा करके उस ज्ञान को प्राप्त करो।" श्रीकृष्ण ने महापुरुषों द्वारा शोधित सत्य को ही उद्घाटित किया है।

गीता सुबोध संस्कृत में है। यदि अन्वयार्थ ही लें तो गीता का अधिकांश आप स्वयं हृदयंगम कर सकेंगे, किन्तु आप ज्यों-का-त्यों अर्थ नहीं लेते। उदाहरण के लिए, श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा कि "यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है"; फिर भी आप कहते हैं कि खेती करना कर्म है। यज्ञ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि यज्ञ में बहुत से योगीजन प्राण को अपान में हवन करते हैं, बहुत से अपान को प्राण में हवन करते हैं, बहुत से योगी प्राण-अपान दोनों को रोककर प्राणायाम-परायण हो जाते हैं। बहुत से योगी इन्द्रियों की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को संयमाग्नि में हवन करते हैं। इस प्रकार श्वास-प्रश्वास का चिन्तन यज्ञ है। मनसहित इन्द्रियों का संयम यज्ञ है। शास्त्रकार ने स्वयं यज्ञ बताया, फिर भी आप कहते हैं कि विष्णु के निमित्त स्वाहा बोलना, अग्नि में जौ-तिल-घी का हवन करना यज्ञ है। उन योगेश्वर ने ऐसा एक शब्द भी नहीं कहा।

क्या कारण है कि आप समझ नहीं पाते? बाल की खाल निकालकर रटने पर भी क्यों वाक्य-विन्यास ही आपके हाथ लगता है? आप अपने को यथार्थ जानकारी से शून्य ही क्यों पाते है? वस्तुतः मनुष्य जन्म लेकर क्रमशः बड़ा होता है, तो पैतृक सम्पत्ति (घर, दूकान, जमीन-जायदाद, पद-प्रतिष्ठा, गाय,

भैंस, यन्त्र-उपकरण इत्यादि) उसे विरासत में मिलते हैं। ठीक इसी प्रकार उसे कुछ रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, पूजा-पद्धतियाँ भी विरासत में मिल जाती हैं। तैंतीस करोड़ देवी-देवता तो भारत में बहुत पहले गिने गये थे, विश्व में उनके अनगिनत रूप हैं। शिशु ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, अपने माता-पिता, भाई-बहन, पास-पड़ोस में इनकी पूजा देखता है। परिवार में प्रचलित पूजा-पद्धतियों की अमिट छाप उसके मस्तिष्क पर पड़ जाती है। देवी की पूजा मिली तो जीवन भर देवी-देवी रटता है, परिवार में भूत-पूजा मिली तो भूत-भूत रटता है। कोई शिव तो कोई कृष्ण, तो कोई कुछ पकड़े ही रहता है। उन्हें वह छोड़ नहीं सकता।

ऐसे भ्रान्तपुरुष को गीता-जैसा कल्याणकारी शास्त्र मिल भी जाय, तो वह उसे नहीं समझ सकता। पैतृक सम्पदा को कदाचित् वह छोड़ भी सकता है, किन्तु इन रूढ़ियों और मज़हबी पचड़ों को नहीं मिटा सकता। पैतृक सम्पत्ति को हटाकर आप हजारों मील दूर जा सकते हैं, किन्तु दिल-दिमाग में अंकित ये रूढ़िगत विचार वहाँ भी आपका पिण्ड नहीं छोड़ते। आप सिर काटकर अलग तो रख नहीं सकते। अतः आप यथार्थ शास्त्र को भी उन्हीं रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, मान्यताओं और पूजा-पद्धतियों के अनुरूप ढालकर देखना चाहते हैं। यदि उनके अनुरूप बात ढलती है, वार्त्ता का क्रम बैठता है तो आप उसे सही मानते हैं और नहीं ढलती तो गलत मानते हैं। इसीलिये आप गीता का रहस्य नहीं देख पाते। गीता का रहस्य, रहस्य ही बनकर रह जाता है। इसके वास्तविक पारखी सन्त अथवा सद्गुरु हैं। वही बता सकते हैं कि गीता क्या कहती है? सब नहीं जान सकते। सबके लिए सुलभ उपाय यही है कि इसे किसी महापुरुष के सान्निध्य में समझें, जिसके लिए श्रीकृष्ण ने बल दिया है।

गीता किसी विशिष्ट व्यक्ति, जाति, वर्ग, पन्थ, देश-काल या किसी रूढ़िग्रस्त सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है बल्कि यह सार्वलौकिक, सार्वकालिक धर्मग्रन्थ है। यह प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति तथा प्रत्येक स्तर के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिए, सबके लिए है। केवल दूसरों से सुनकर या किसी से प्रभावित होकर मनुष्य को ऐसा निर्णय नहीं लेना चाहिए, जिसका प्रभाव सीधे उसके अपने अस्तित्व पर पड़ता हो। पूर्वाग्रह की भावना से मुक्त होकर सत्यान्वेषियों के लिये यह आर्षग्रन्थ आलोक-स्तम्भ है। हिन्दुओं का आग्रह है कि वेद ही प्रमाण हैं। वेद

का अर्थ है ज्ञान, परमात्मा की जानकारी। परमात्मा न संस्कृत में है न संहिताओं में। पुस्तक तो उसका संकेतमात्र है। वह वस्तुतः हृदय में जागृत होता है।

विश्वामित्र चिन्तन कर रहे थे। उनकी भक्ति देखकर ब्रह्मा आये, बोले, "आज से तुम ऋषि हो।" विश्वामित्र को सन्तोष नहीं हुआ, चिन्तन में लगे रहे। कुछ काल पश्चात् देवताओं सहित ब्रह्मा पुनः आये और बोले - "आज से तुम राजर्षि हो"; किन्तु विश्वामित्र का समाधान न हुआ। वे अनवरत चिन्तन में लगे रहे। ब्रह्मा दैवी सम्पदाओं के साथ पुनः आये और बताया कि आज से आप महर्षि हुए। विश्वामित्र ने कहा - "नहीं, मुझे जितेन्द्रिय ब्रह्मर्षि कहें।" ब्रह्मा ने कहा, "अभी तुम जितेन्द्रिय नहीं हो।" विश्वामित्र पुनः तपस्या में लग गये, उनके मस्तिष्क से तपस्या का धुआँ निकलने लगा, तव देवताओं ने ब्रह्मा से निवेदन किया। ब्रह्मा उसी प्रकार विश्वामित्र से बोले - "अव तुम ब्रह्मर्षि हो।" विश्वामित्र ने कहा, "यदि मैं ब्रह्मर्षि हूँ, तो वेद हमारा वरण करें।" वेद विश्वामित्र के हृदय में उतर आये। जो तत्त्व विदित नहीं था, विदित हो गया। यही वेद हैं, न कि पोथी। जहाँ विश्वामित्र रहते थे, वहाँ वेद रहता था।

यही श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि, "संसार अविनाशी पीपल का वृक्ष है, ऊपर परमात्मा जिसका मूल और नीचे प्रकृतिपर्यन्त शाखाएँ हैं। जो इस प्रकृति का अन्त करके परमात्मा को विदित कर लेता है, वह वेदवित् है। अर्जुन! मैं भी वेदवित् हूँ।" अतः प्रकृति के प्रसार और अन्त के साथ परमात्मा की अनुभूति का नाम 'वेद' है। यह अनुभूति ईश्वर प्रदत्त है, इसलिए वेद अपौरुषेय कहा जाता है। महापुरुष अपौरुषेय होता है, उसके माध्यम से परमात्मा ही वोलता है। वे परमात्मा के संदेश-प्रसारक (ट्रांसमीटर) हो जाते हैं। केवल शब्द-ज्ञान के आधार पर उनकी वाणी में निहित यथार्थ को परखा नहीं जा सकता। उन्हें वही जान पाता है, जिसने क्रियात्मक पथ से चलकर इस अपौरुषेय (Non-Person) स्थिति को पाया हो, जिसका पुरुष (अहं) परमात्मा में विलीन हो चुका हो।

वस्तुतः वेद अपौरुषेय हैं; किन्तु बोलनेवाले सौ-डेढ़ सौ महापुरुष ही थे। उन्हीं की वाणी का संकलन 'वेद' कहलाता है। किन्तु जब शास्त्र लिखने में आ जाता है, तो सामाजिक व्यवस्था के नियम भी उसके साथ लिख दिये जाते हैं। महापुरुष के नाम पर जनता उनका भी पालन करने लगती है, यद्यपि धर्म से

उनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहता। आधुनिक युग में मन्त्रियों के आगे-पीछे घूमकर साधारण नेता भी अधिकारियों से अपना काम करा लेते हैं, जबकि मन्त्री ऐसे नेताओं को जानते भी नहीं। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्थाकार महापुरुष की ओट में जीने-खाने की व्यवस्था भी ग्रन्थों में लिपिबद्ध कर देते हैं। उनका सामाजिक उपयोग तत्सामयिक ही होता है। वेदों के सम्बन्ध में भी यही है। उनके चिरन्तन सत्य उपनिषदों में संग्रहीत हैं। उन्हीं उपनिषदों का सारांश योगेश्वर श्रीकृष्ण की वाणी `गीता' है। सारांशतः गीता अपौरुषेय `वेद'-रसार्णव से समुद्भूत उपनिषद्-सुधा का सार सर्वस्व है।

इसी प्रकार प्रत्येक महापुरुष जो परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, स्वयं में धर्मग्रन्थ है। उसकी वाणी का संकलन विश्व में कहीं भी हो, शास्त्र कहलाता है; किन्तु कतिपय धर्मावलम्बियों का यह कथन है कि- "जितना कुरान में लिखा है उतना ही सच है। अब कुरान नहीं उतरेगा।", "ईसामसीह पर विश्वास किये बिना स्वर्ग नहीं मिल सकता, वह ईश्वर का इकलौता बेटा था।"; "अब ऐसा महापुरुष नहीं हो सकता" - उनकी रूढ़िवादिता है। यदि उसी तत्त्व को साक्षात् कर लिया जाय, तो वही बात फिर होगी।

गीता सार्वभौम है। धर्म के नाम पर प्रचलित विश्व के समस्त धर्मग्रन्थों में गीता का स्थान अद्वितीय है। यह स्वयं में धर्मशास्त्र ही नहीं, बल्कि अन्य धर्मग्रन्थों में निहित सत्य का मानदण्ड भी है। गीता वह कसौटी है, जिसपर प्रत्येक धर्मग्रन्थ में अनुस्यूत सत्य अनावृत्त हो उठता है, परस्पर विरोधी कथनों का समाधान निकल आता है। प्रत्येक धर्मग्रन्थ में संसार में जीने-खाने की कला और कर्मकाण्डों का बाहुल्य है। जीवन को आकर्षक बनाने के लिए उन्हें करने तथा न करने के रोचक-भयानक वर्णनों से धर्मग्रन्थ भरे पड़े हैं। कर्मकाण्डों की इसी परम्परा को जनता धर्म समझने लगती है। जीवन-निर्वाह की कला के लिए निर्मित पूजा-पद्धतियों में देश-काल और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन स्वाभाविक है। धर्म के नाम पर समाज में कलह का यही एकमात्र कारण है। `गीता' इन क्षणिक व्यवस्थाओं से ऊपर उठकर आत्मिकपूर्णता में प्रतिष्ठित करने का क्रियात्मक अनुशीलन है, जिसका एक भी श्लोक भौतिक जीवनयापन के लिये नहीं है। इसका प्रत्येक श्लोक आपसे आन्तरिक युद्ध - `आराधना' की माँग

करता है। तथाकथित धर्मग्रन्थों की भाँति यह आपको स्वर्ग या नरक के द्वन्द्व में फँसाकर नहीं छोड़ता; बल्कि उस अमरत्व की उपलब्धि कराता है, जिसके पीछे जन्म-मृत्यु का बन्धन नहीं रह जाता।

प्रत्येक महापुरुष की अपनी शैली और कुछ अपने विशिष्ट शब्द होते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी गीता में `कर्म', `यज्ञ', `वर्ण', `वर्णसंकर', `युद्ध', `क्षेत्र', `ज्ञान' इत्यादि शब्दों पर बार-बार बल दिया है। इन शब्दों का अपना आशय है और पुनरावृत्ति में भी इनका अपना सौन्दर्य है। हिन्दी रूपान्तरण में इन शब्दों को उसी आशय में लिया गया है तथा आवश्यक स्थलों की व्याख्या भी की गई है। गीता के आकर्षण निम्नलिखित प्रश्न हैं, जिनका आशय आधुनिक समाज खो चुका है। वे इस प्रकार हैं, जिन्हें `यथार्थ गीता' में आप पायेंगे-

१. **श्रीकृष्ण** - एक योगेश्वर थे।

२. **सत्य** - आत्मा ही सत्य है।

३. **सनातन** - आत्मा सनातन है, परमात्मा सनातन है।

४. **सनातन धर्म** - परमात्मा से मिलानेवाली क्रिया है।

५. **युद्ध** - दैवी एवं आसुरी सम्पदाओं का संघर्ष युद्ध है, ये अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ हैं। इन दोनों का मिटना परिणाम है।

६. **युद्ध-स्थान** - यह मानव-शरीर और मनसहित इन्द्रियों का समूह `युद्धस्थल' है।

७. **ज्ञान** - परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी `ज्ञान' है।

८. **योग** - संसार के संयोग-वियोग से रहित अव्यक्त ब्रह्म के मिलन का नाम `योग' है।

९. **ज्ञानयोग** - आराधना ही कर्म है। अपने पर निर्भर होकर कर्म में प्रवृत्त होना ज्ञानयोग है।

१०. **निष्काम कर्मयोग** - इष्ट पर निर्भर होकर समर्पण के साथ कर्म में प्रवृत्त होना निष्काम कर्मयोग है।

११. **श्रीकृष्ण ने किस सत्य को बताया?** - श्रीकृष्ण ने उसी सत्य को बताया, जिसको तत्त्वदर्शियों ने पहले देख लिया था और आगे भी देखेंगे।

१२. यज्ञ - साधना की विधि-विशेष का नाम `यज्ञ' है।

१३. कर्म - यज्ञ को कार्यरूप देना ही कर्म है।

१४. वर्ण - आराधना की एक ही विधि, जिसका नाम कर्म है जिसको चार श्रेणियों में बाँटा है; वही चार वर्ण हैं। यह एक ही साधक का ऊँचा-नीचा स्तर है, न कि जाति।

१५. वर्णसंकर - परमात्म-पथ से च्युत होना, साधन में भ्रम उत्पन्न हो जाना `वर्णसंकर' है।

१६. मनुष्य की श्रेणी - अन्तःकरण के स्वभाव के अनुसार मनुष्य दो प्रकार का होता है - एक देवताओं-जैसा, दूसरा असुरों-जैसा। यही मनुष्य की दो जातियाँ हैं, जो स्वभाव द्वारा निर्धारित हैं और यह स्वभाव घटता-बढ़ता रहता है।

१७. देवता - हृदय-देश में परमदेव का देवत्व अर्जित करानेवाले गुणों का समूह है। वाह्य देवताओं की पूजा मूढ़बुद्धि की देन है।

१८. अवतार - व्यक्ति के हृदय में होता है, बाहर नहीं।

१९. विराट्-दर्शन - योगी के हृदय में ईश्वर के द्वारा दी गई अनुभूति है। भगवान साधक में दृष्टि बनकर खड़े हों; तभी दिखायी पड़ते हैं।

२०. पूजनीय देव `इष्ट' - एकमात्र परात्पर ब्रह्म ही "पूजनीय देव" है। उसे खोजने का स्थान हृदय-देश है। उसकी प्राप्ति का स्रोत उसी अव्यक्त स्वरूप में स्थित `प्राप्ति वाले महापुरुषों' के द्वारा है।

अब इनमें से योगेश्वर श्रीकृष्ण का स्वरूप समझने के लिए अध्याय तीन तक आपको पढ़ना होगा, और अध्याय तेरह तक आप स्पष्ट समझने लगेंगे कि श्रीकृष्ण योगी थे। अध्याय दो से ही सत्य निखर जायेगा। सनातन और सत्य एक दूसरे के पूरक हैं; यह अध्याय दो से ही स्पष्ट होगा; वैसे पूर्तिपर्यन्त चलेगा। युद्ध अध्याय चार तक स्पष्ट होने लगेगा, ग्यारह तक संशय निर्मूल हो जायेगा, वैसे अध्याय सोलह तक देखना चाहिए। `युद्ध-स्थल' के लिए अध्याय `तेरह' बार-बार देखें।

`ज्ञान' अध्याय चार से स्पष्ट होगा तथा अध्याय तेरह में भली प्रकार समझ में आयेगा कि प्रत्यक्ष दर्शन का नाम `ज्ञान' है। `योग' अध्याय छः तक

आप समझ सकेंगे, वैसे पूर्तिपर्यन्त योग के विभिन्न अंशों की परिभाषा है। `ज्ञानयोग' अध्याय तीन से छः तक स्पष्ट हो जायेगा, आगे देखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। `निष्काम कर्मयोग' अध्याय दो से आरम्भ होकर पूर्तिपर्यन्त है। `यज्ञ' आप अध्याय तीन से चार तक पढ़ें, स्पष्ट हो जायेगा।

`कर्म' का नाम अध्याय २/३९ में प्रथम बार दिया गया है। इसी श्लोक से अध्याय चार तक पढ़ लें, तो स्पष्ट हो जायेगा कि कर्म का अर्थ आराधना-भजन क्यों है? अध्याय सोलह और सत्रह, यह विचार स्थिर कर देता है कि यही सत्य है। `वर्णसंकर' अध्याय तीन में और `अवतार' अध्याय चार में स्पष्ट हो जायेगा। वर्ण-व्यवस्था के लिए अध्याय अठारह देखना होगा; वैसे संकेत अध्याय तीन-चार में भी है। मनुष्य की देवासुर जातियों के लिए अध्याय सोलह द्रष्टव्य है। `विराट्दर्शन' अध्याय दस से ग्यारह तक स्पष्ट हो गया है। अध्याय सात, नौ और पन्द्रह में भी इस पर प्रकाश डाला गया है। अध्याय सात, नौ और सत्रह में बाह्य देवताओं की अस्तित्वहीनता स्पष्ट हो जाती है। परमात्मा के पूजन की स्थली हृदय-देश ही है, जिसमें ध्यान, श्वास-प्रश्वास के चिन्तन इत्यादि की क्रियाएँ, जो एकान्त में बैठकर (मन्दिर-मूर्ति के सामने नहीं) की जाती हैं - अध्याय तीन, चार, छः और अठारह में स्पष्ट है। बहुत सोचने-विचारने से क्या प्रयोजन है? यदि अध्याय छः तक ही अध्ययन कर लें, तो भी `यथार्थ गीता' का मूल आशय आपकी समझ में आ जायेगा।

गीता जीविका-संग्राम का साधन नहीं अपितु जीवन-संग्राम में शाश्वत विजय का क्रियात्मक प्रशिक्षण है, इसलिये युद्ध-ग्रन्थ है, जो वास्तविक विजय दिलाता है; किन्तु गीतोक्त युद्ध तलवार, धनुष, वाण, गदा और फरसे से लड़ा जानेवाला सांसारिक युद्ध नही है और न इन युद्धों में शाश्वत विजय निहित है। यह सदसत् प्रवृत्तियों का संघर्ष है, जिनके रूपकात्मक वर्णन की परम्परा रही है। वेद में इन्द्र और वृत्र, विद्या और अविद्या, पुराणों में देवासुर संग्राम, महाकाव्यों में राम और रावण, कौरव एवं पाण्डव के संघर्ष को ही गीता में धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र, दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद्, सजातीय एवं विजातीय, सद्गुण एवं दुर्गुणों का संघर्ष कहा गया है।

यह संघर्ष जहाँ होता है, वह स्थान कहाँ है? गीता का धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र भारत का कोई भू-खण्ड नहीं, वल्कि स्वयं गीताकार के शब्दों में - "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" - कौन्तेय! यह शरीर ही एक क्षेत्र है, जिसमें वोया हुआ भला और बुरा बीज संस्कार-रूप से सदैव उगता है। दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त,अहंकार, पाँचों विकार और तीनों गुणों का विकार इस क्षेत्र का विस्तार है। प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणों से विवश होकर मनुष्य को कर्म करना पड़ता है। वह क्षणमात्र भी कर्म किये विना नहीं रह सकता। "पुनरपि जननम् पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननी जठरे शयनम्" जन्म-जन्मान्तरों से करते ही तो वीत रहा है। यही कुरुक्षेत्र है। सद्‌गुरु के माध्यम से साधना के सही दौर में पड़कर साधक जब परमधर्म परमात्मा की ओर अग्रसर होता है, तब यह क्षेत्र धर्मक्षेत्र वन जाता है। यह शरीर ही क्षेत्र है।

इसी शरीर के अन्तराल में अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं - दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। दैवी सम्पद में हैं - पुण्यरूपी पाण्डु और कर्त्तव्यरूपी कुन्ती। पुण्य जागृत होने से पहले मनुष्य जो कुछ भी कर्त्तव्य समझकर करता है, अपनी समझ से वह कर्त्तव्य ही करता है, किन्तु उससे कर्त्तव्य होता नहीं - क्योंकि पुण्य के बिना कर्त्तव्य को समझा ही नहीं जा सकता। कुन्ती ने पाण्डु से सम्बन्ध होने से पूर्व जो कुछ भी अर्जित किया, वह था - कर्ण। आजीवन कुन्ती के पुत्रों से लड़ता रह गया। पाण्डवों का दुर्धर्ष शत्रु यदि कोई था, तो वह था - `कर्ण'! विजातीय कर्म ही कर्ण है, जो बन्धनकारी है, जिससे परम्परागत रूढ़ियों का चित्रण होता है - पूजा-पद्धतियाँ पिण्ड नहीं छोड़तीं। पुण्य जागृत होने पर धर्मरूपी `युधिष्ठिर', अनुरागरूपी `अर्जुन', भावरूपी `भीम', नियमरूपी `नकुल', सत्संगरूपी `सहदेव', सात्त्विकतारूपी `सात्यकि', काया में सामर्थ्यरूपी `काशीराज', कर्त्तव्य के द्वारा भव पर विजय `कुन्तिभोज' इत्यादि इष्टोन्मुखी मानसिक प्रवृत्तियों का उत्कर्ष होता है, जिसकी गणना सात अक्षौहिणी है। `अक्ष' दृष्टि को कहते हैं। सत्यमयी दृष्टिकोण से जिसका गठन है, वह है - दैवी सम्पद्। परमधर्म परमात्मा तक की दूरी तय कराने वाली ये सात सीढ़ियाँ `सात भूमिकाएँ' हैं, न कि कोई गणना-विशेष। वस्तुतः ये प्रवृत्तियाँ अनन्त हैं।

दूसरी ओर है `कुरुक्षेत्र', जिसमें दस इन्द्रियाँ और एक मन ग्यारह

अक्षौहिणी सेना है। मनसहित इन्द्रियमयी दृष्टिकोण से जिसका गठन है, वह है - आसुरी सम्पद्, जिसमें हैं अज्ञानरूपी 'धृतराष्ट्र', जो सत्य जानते हुए भी अन्धा बना रहता है। उसकी सहचारिणी है 'गान्धारी' - इन्द्रिय आधारवाली प्रवृत्ति। इसके साथ हैं - मोहरूपी 'दुर्योधन', दुर्बुद्धिरूपी 'दुःशासन', विजातीय कर्मरूपी 'कर्ण', भ्रमरूपी 'भीष्म', द्वैत के आचरणरूपी 'द्रोणाचार्य', आसक्तिरूपी 'अश्वत्थामा', विकल्परूपी 'विकर्ण', अधूरी साधना में कृपा के आचरणरूपी 'कृपाचार्य' और इन सबके बीच जीवरूपी 'विदुर' है, जो रहता है अज्ञान में किन्तु दृष्टि सदैव पाण्डवों पर है, पुण्य से प्रवाहित प्रवृत्ति पर है; क्योंकि आत्मा परमात्मा का शुद्ध अंश है। इस प्रकार आसुरी सम्पद् भी अनन्त है। क्षेत्र एक ही है - यह शरीर, इसमें लड़नेवाली प्रवृत्तियाँ दो हैं। एक प्रकृति में विश्वास दिलाती है, नीच-अधम योनियों का कारण बनती है, तो दूसरी परमपुरुष परमात्मा में विश्वास और प्रवेश दिलाती है। तत्त्वदर्शी महापुरुष के संरक्षण में क्रमशः साधन करने पर दैवी सम्पद् का उत्कर्ष और आसुरी सम्पद् का सर्वथा शमन हो जाता है। जब कोई विकार ही नहीं रहा, मन का सर्वथा निरोध और निरुद्ध मन का भी विलय हो जाता है तो दैवी सम्पद् की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अर्जुन ने देखा कि कौरव-पक्ष के अनन्तर पाण्डव-पक्ष के योद्धा भी योगेश्वर में समाहित हो रहे हैं। पूर्ति के साथ दैवी सम्पद् भी विलय हो जाती है, अन्तिम शाश्वत परिणाम निकल आता है। इसके पश्चात् महापुरुष यदि कुछ करता है, तो केवल अनुयायियों के मार्ग-दर्शन के लिए ही करता है।

लोक-संग्रह की इसी भावना से महापुरुषों ने सूक्ष्म मनोभावों का वर्णन उन्हें ठोस स्थूलरूप देकर किया है। 'गीता' छन्दोबद्ध है, व्याकरणसम्मत है; किन्तु इसके पात्र प्रतीकात्मक हैं, अमूर्त योग्यताओं के मूर्तरूप मात्र हैं। गीता के आरम्भ में तीस-चालीस पात्रों का नाम लिया गया है जिनमें आधे सजातीय हैं, आधे विजातीय। कुछ पाण्डव-पक्ष के हैं, कुछ कौरव-पक्ष के। 'विश्वरूप दर्शन' के समय इनमें से चार-छः नाम पुनः आये हैं, अन्यथा सम्पूर्ण गीता में इन नामों की चर्चा तक नहीं है। एकमात्र अर्जुन ही ऐसा पात्र है, जो आरम्भ से अन्त तक योगेश्वर के समक्ष है। वह अर्जुन भी केवल योग्यता का प्रतीक है, न कि व्यक्ति-विशेष। गीता के आरम्भ में अर्जुन सनातन कुलधर्म के लिए विकल है,

किन्तु योगेश्वर कृष्ण ने इसे अज्ञान बताया और निर्देश दिया कि आत्मा ही सनातन है, शरीर नाशवान् है, इसलिए युद्ध कर। इस आदेश से यह स्पष्ट नहीं होता कि अर्जुन कौरवों को ही मारे। पाण्डव-पक्ष के भी शरीरधारी ही तो थे, दोनों ओर सम्बन्धी ही तो थे। संस्कारों पर आधारित शरीर क्या तलवार से काटने पर समाप्त हो सकेगा? जब शरीर नाशवान् है, जिसका अस्तित्व है ही नहीं, तो अर्जुन कौन था? श्रीकृष्ण किसकी रक्षा में खड़े थे? क्या किसी शरीरधारी की रक्षा में खड़े थे? श्रीकृष्ण ने कहा - "जो शरीर के लिए परिश्रम करता है, वह पापायु-मूढ़बुद्धि पुरुष व्यर्थ ही जीता है।" यदि श्रीकृष्ण किसी शरीरधारी की रक्षा में खड़े हैं, तब तो वे भी मूढ़बुद्धि हैं, व्यर्थ ही जीने वाले हैं। वस्तुतः अनुराग ही अर्जुन है।

अनुरागी के लिए महापुरुष सदैव खड़े हैं। अर्जुन शिष्य था और श्रीकृष्ण एक सद्‌गुरु थे। विनयावनत होकर उसने कहा था कि धर्म के मार्ग में मोहितचित्त मैं आपसे पूछता हूँ, जो श्रेय (परम कल्याणकारक) हो, वह उपदेश मेरे प्रति कहिए। अर्जुन श्रेय चाहता था, प्रेय (भौतिक पदार्थ) नहीं। केवल कहिए ही नहीं, साधिये-सँभालिये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ। इसी प्रकार गीता में स्थान-स्थान पर स्पष्ट है कि अर्जुन आर्त्त अधिकारी है और योगेश्वर श्रीकृष्ण एक सद्‌गुरु हैं। वे सद्‌गुरु अनुरागी के साथ सदैव रहते हैं, उनका मार्गदर्शन करते हैं।

जब भावुकतावश कोई व्यक्ति 'पूज्य महाराज जी' के पास रहने का आग्रह करने लगता था, तब वे कहा करते थे - "जाओ, शरीर से कहीं रहो, मन से मेरे पास आते रहो। प्रातः-सायं राम, शिव, ॐ किसी एक दो-ढाई अक्षर के नाम का जाप करो और मेरे स्वरूप का हृदय में ध्यान धरो। एक मिनट भी स्वरूप पकड़ लोगे, तो जिसका नाम भजन है, वह मैं तुम्हें दूँगा। इससे अधिक पकड़ने लगोगे, तो हृदय से रथी बनकर सदैव तुम्हारे साथ रहूँगा।" जब सुरत पकड़ में आ जाती है, तो इसके बाद महापुरुष इतना ही पास में रहता है जितना हाथ-पाँव, नाक-कान इत्यादि आपके पास हैं। आप हजारों किलोमीटर दूर क्यों न हों, वह सदैव समीप हैं। मन में विचारों के उठने से भी पहले वे मार्ग-दर्शन

करने लग जाते हैं। अनुरागी के हृदय में वह महापुरुष सदैव आत्मा से अभिन्न होकर जाग्रत रहता है। अर्जुन अनुराग का प्रतीक है।

गीता के ग्यारहवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य देखने पर अर्जुन अपनी क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करने लगा। श्रीकृष्ण ने क्षमा किया और याचना के अनुरूप सौम्य स्वरूप में आकर कहा, "अर्जुन! मेरे इस स्वरूप को न पहले किसी ने देखा है और न भविष्य में कोई देख सकेगा।" तब तो गीता हम लोगों के लिए व्यर्थ है, क्योंकि उस दर्शन की योग्यताएँ अर्जुन तक सीमित थीं। जवकि उसी समय संजय देख रहा था। पहले भी उन्होंने कहा था, "बहुत से योगीजन ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।" अन्ततः वे महापुरुष कहना क्या चाहते हैं? वस्तुतः अनुराग ही `अर्जुन' है, जो आपके हृदय की भावना-विशेष है। अनुरागविहीन पुरुष न कभी पूर्व में देख सका है और न अनुरागविहीन पुरुष भविष्य में कभी देख सकेगा-"मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप ग्यान विरागा।।" अतः अर्जुन एक प्रतीक है। यदि प्रतीक नहीं है तो गीता का पीछा छोड़ दें, गीता आपके लिए नहीं है, तव तो उस दर्शन की योग्यता अर्जुन तक ही सीमित थी।

अध्याय के अन्त में योगेश्वर निर्णय देते हैं - "अर्जुन! अनन्य भक्ति और श्रद्धा द्वारा मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने के लिए (जैसा तूने देखा), तत्त्व से स्पष्ट जानने के लिए और प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ।" अनन्य भक्ति अनुराग का ही दूसरा रूप है और यही अर्जुन का स्वरूप भी है। अर्जुन पथिक का प्रतीक है। इस प्रकार गीता के पात्र प्रतीकात्मक हैं। यथास्थान उनका संकेत है।

रहे हों कोई ऐतिहासिक कृष्ण और अर्जुन, हुआ हो कोई विश्वयुद्ध, गीता में भौतिक युद्ध का चित्रण कदापि नहीं है। उस ऐतिहासिक युद्ध के मुहाने पर घवड़ाया तो था अर्जुन, न कि सेना। सेना तो लड़ने को तैयार खड़ी थी।

क्या गीता का उपदेश देकर श्रीकृष्ण ने सव्यसाची अर्जुन को सेना की योग्यता का वनाया? वस्तुतः साधन लिखने में नहीं आता। सब कुछ पढ़ लेने के बाद भी चलना शेष ही रहता है। यही प्रेरणा `यथार्थ गीता' है।

श्री गुरु पूर्णिमा
२४ जुलाई, १९८३ ई.

सद्गुरु कृपाश्रयी, जगत्बन्धु
स्वामी अड़गड़ानन्द

ॐ

श्री परमात्मने नमः

यथार्थ गीता

(श्रीमद्‌भगवद्‌गीता)

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।१।।

धृतराष्ट्र ने पूछा - "हे संजय! धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में एकत्र युद्ध की इच्छावाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?"

अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र और संयमरूपी संजय। अज्ञान मन के अन्तराल में रहता है। अज्ञान से आवृत्त मन धृतराष्ट्र जन्मान्ध है; किन्तु संयमरूपी संजय के माध्यम से यह देखता है, सुनता है। वह समझता है कि परमात्मा ही सत्य है, फिर भी जब तक इससे उत्पन्न मोहरूपी दुर्योधन जीवित है, इसकी दृष्टि सदैव कौरवों पर रहती है, विकारों पर ही रहती है।

शरीर एक क्षेत्र है। जब हृदय-देश में दैवी सम्पत्ति का बाहुल्य होता है, तो यह शरीर धर्मक्षेत्र बन जाता है और जब इसमें आसुरी सम्पत्ति का बाहुल्य होता है, तो यह शरीर कुरुक्षेत्र बन जाता है। `कुरु' अर्थात् करो - यह शब्द आदेशात्मक है। श्रीकृष्ण कहते हैं - प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों द्वारा परवश होकर मनुष्य कर्म करता है, वह क्षणमात्र भी कर्म किये विना नहीं रह सकता। गुण उससे करा लेते हैं। सो जाने पर भी कर्म बन्द नहीं होता, वह भी स्वस्थ शरीर की आवश्यक खुराक मात्र है। तीनों गुण मनुष्य को देवता से कीटपर्यन्त शरीरों में ही बाँधते हैं। जब तक प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न गुण जीवित हैं, तब तक `कुरु'

लगा रहेगा। अतः जन्म-मृत्युवाला क्षेत्र, विकारोंवाला क्षेत्र कुरुक्षेत्र है और परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाली पुण्यमयी प्रवृत्तियों (पाण्डवों) का क्षेत्र धर्मक्षेत्र है।

पुरातत्वविद् पंजाब में, काशी-प्रयाग के मध्य तथा अनेकानेक स्थलों पर कुरुक्षेत्र की शोध में लगे हैं; किन्तु गीताकार ने स्वयं बताया है कि जिस क्षेत्र में यह युद्ध हुआ, वह कहाँ है - `इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।' "अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र है और जो इसको जानता है, इसका पार पा लेता है, वह क्षेत्रज्ञ है।" आगे इन्होंने क्षेत्र का विस्तार बताया, जिसमें दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार, पाँचों विकार और तीनों गुणों का वर्णन है। शरीर ही क्षेत्र है, एक अखाड़ा है। इसमें लड़नेवाली प्रवृत्तियाँ दो हैं - `दैवी सम्पद्' और `आसुरी सम्पद्' - `पाण्डु की सन्तान' और `धृतराष्ट्र की सन्तान', `सजातीय और विजातीय प्रवृत्तियाँ'।

अनुभवी महापुरुष की शरण जाने पर इन दोनों प्रवृत्तियों में संघर्ष का सूत्रपात् होता है। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संघर्ष है और यही वास्तविक युद्ध है। विश्वयुद्धों से इतिहास भरा पड़ा है, किन्तु उनमें जीतनेवालों को भी शाश्वत विजय नहीं मिलती। ये तो आपसी बदले हैं। प्रकृति का सर्वथा शमन करके प्रकृति से परे की सत्ता का दिग्दर्शन करना और उसमें प्रवेश पाना ही वास्तविक विजय है। यही एक ऐसी विजय है, जिसके पीछे हार नहीं है। यही मुक्ति है, जिसके पीछे जन्म-मृत्यु का बन्धन नहीं है।

इस प्रकार अज्ञान से आच्छादित प्रत्येक मन संयम के द्वारा जानता है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के युद्ध में क्या हुआ? अब जैसा जिसके संयम का उत्थान है, वैसे-वैसे उसे दृष्टि आती जायेगी।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूह-रचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखकर द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा -

द्वैत के आचरण ही `द्रोणाचार्य' हैं। जब जानकारी हो जाती है कि हम परमात्मा से अलग हो गये हैं (यही द्वैत का भान है), वहाँ उसकी प्राप्ति के लिये तड़प पैदा हो जाती है; तभी हम गुरु की तलाश में निकलते हैं। दोनों प्रवृत्तियों के बीच यही प्राथमिक गुरु है; यद्यपि बाद के सद्गुरु योगेश्वर श्रीकृष्ण होंगे, जो योग की स्थितिवाले होंगे।

राजा दुर्योधन आचार्य के पास जाता है। मोहरूपी दुर्योधन! मोह सम्पूर्ण व्याधियों का मूल है, राजा है। दुर्योधन - दुर् अर्थात् दूषित, यो धन अर्थात् वह धन। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। उसमें जो दोष उत्पन्न करता है, वह है मोह। यही प्रकृति की ओर खींचता है और वास्तविक जानकारी के लिये प्रेरणा भी प्रदान करता है। मोह है, तभी तक पूछने का प्रश्न भी है, अन्यथा सभी पूर्ण ही हैं।

अतः व्यूह-रचनायुक्त पाण्डवों की सेना को देखकर अर्थात् पुण्य से प्रवाहित सजातीय वृत्तियों को संगठित देखकर मोहरूपी दुर्योधन ने प्रथम गुरु द्रोण के पास जाकर यह कहा-

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

हे आचार्य! अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस भारी सेना को देखिये।

शाश्वत अचल पद में आस्था रखनेवाला दृढ़ मन ही `धृष्टद्युम्न' है। यही पुण्यमयी प्रवृत्तियों का नायक है। `साधन कठिन न मन कर टेका।' - साधन कठिन नहीं, मन की दृढ़ता कठिन होनी चाहिये।

अब देखें सेना का विस्तार-

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

इस सेना में `महेष्वासा' - महान् ईश में वास दिलानेवाले, भावरूपी `भीम', अनुरागरूपी `अर्जुन' के समान बहुत से शूरवीर; जैसे-सात्त्विकतारूपी `सात्यकि',

`विराटः' - सर्वत्र ईश्वरीय प्रवाह की धारणा, महारथी राजा द्रुपद अर्थात् अचल स्थिति तथा -

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।

`धृष्टकेतुः' - दृढ़कर्त्तव्य, `चेकितानः' - जहाँ भी जाय, वहाँ से चित्त को खींचकर इष्ट में स्थिर करना, `काशिराजः' - कायारूपी काशी में ही वह साम्राज्य है, `पुरुजित्' - स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों पर विजय दिलानेवाला पुरुजित्, `कुन्तिभोजः' - कर्त्तव्य से भव पर विजय, नरों में श्रेष्ठ `शैब्य' अर्थात् सत्य व्यवहार -

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

और पराक्रमी `युधामन्यु' - युद्ध के अनुरूप मन की धारणा, `उत्तमौजाः' - शुभ की मस्ती, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु - जब शुभ आधार आ जाता है, तो मन भय से रहित हो जाता है - ऐसा शुभ आधार से उत्पन्न अभय मन, ध्यानरूपी द्रौपदी के पाँचों पुत्र - वात्सल्य, लावण्य, सहृदयता, सौम्यता, स्थिरता सब के सब महारथी हैं। साधन-पथ पर सम्पूर्ण योग्यता के साथ चलने की क्षमताएँ हैं।

इस प्रकार दुर्योधन ने पाण्डव-पक्ष के पन्द्रह-बीस नाम गिनाये, जो दैवी सम्पद् के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। विजातीय प्रवृत्ति का राजा होते हुए भी `मोह' ही सजातीय प्रवृत्तियों को समझने के लिए बाध्य करता है।

दुर्योधन अपना पक्ष संक्षेप में कहता है। यदि कोई बाह्य युद्ध होता तो अपनी फौज बढ़ा-चढ़ाकर गिनाता। विकार कम गिनाये गये; क्योंकि उन पर विजय पाना है, वे नाशवान् हैं। केवल पाँच-सात विकार बताये गये, जिनके अन्तराल में सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवृत्ति विद्यमान है। जैसे-

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

द्विजोत्तम! हमारे पक्ष में जो-जो प्रधान हैं, उन्हें भी आप समझ लें। आपको जानने के लिये मेरी सेना के जो नायक हैं, उनको कहता हूँ-

बाह्य युद्ध में सेनापति के लिए द्विजोत्तम सम्बोधन असामयिक है। वस्तुतः `गीता' में अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियों का संघर्ष है। जिसमें द्वैत का आचरण ही `द्रोण' है। जब तक हम लेशमात्र भी आराध्य से अलग हैं, तब तक प्रकृति विद्यमान है, द्वैत बना है। इस `द्वि' पर जय पाने की प्रेरणा प्रथम गुरु द्रोणाचार्य से मिलती है। अधूरी शिक्षा ही पूर्ण जानकारी के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। वह पूजास्थली नहीं, वहाँ शौर्यसूचक सम्बोधन होना चाहिये।

विजातीय प्रवृत्ति के नायक कौन-कौन हैं?-

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।८।।

एक तो स्वयं आप (द्वैत के आचरणरूपी द्रोणाचार्य) हैं, भ्रमरूपी पितामह `भीष्म' हैं। भ्रम इन विकारों का उद्गम है, अन्त तक जीवित रहता है, इसलिये पितामह है। समूची सेना मर गई, यह जीवित था। शरशय्या पर अचेत था, फिर भी जीवित था। यह है भ्रमरूपी `भीष्म'। भ्रम अन्त तक रहता है। इसी प्रकार विजातीय कर्मरूपी `कर्ण' तथा संग्रामविजयी `कृपाचार्य' हैं। साधनावस्था में साधक द्वारा कृपा का आचरण ही `कृपाचार्य' है। भगवान कृपाधाम हैं और प्राप्ति के पश्चात् सन्त का भी वही स्वरूप है; किन्तु साधनकाल में जब तक हम अलग हैं, परमात्मा अलग है, विजातीय प्रवृत्ति जीवित है, मोहमयी घिराव है - ऐसी परिस्थिति में साधक यदि कृपा का आचरण करता है, तो वह नष्ट हो जाता है। सीता ने दया की, तो कुछ काल लंका में प्रायश्चित करना पड़ा। विश्वामित्र दयार्द्र हुए, पतित होना पड़ा। योग सूत्रकार महर्षि पतंजलि भी यही कहते हैं - `ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (३/३७) व्युत्थान-काल में सिद्धियाँ प्रकट होती हैं, वे वास्तव में सिद्धियाँ हैं; किन्तु कैवल्य-प्राप्ति के लिए उतनी ही बड़ी विघ्न हैं - जितने काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि। गोस्वामी तुलसीदास का भी यही निर्णय है -

छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। विघ्न अनेक करइ तब माया।।
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहिं लोभ दिखावहिं आई।।

(रामचरितमानस, ७/११७/६-७)

माया अनेक विघ्न करती है। ऋद्धियाँ प्रदान करती है, यहाँ तक कि सिद्ध बना देती है। ऐसी अवस्थावाला साधक बगल से निकल भर जाय, मरणासन्न रोगी भी जी उठेगा। वह भले ठीक हो जाय, किन्तु साधक उसे अपनी देन मान बैठे तो नष्ट हो जायेगा। एक रोगी के स्थान पर हजारों रोगी घेर लेंगे, भजन-चिन्तन का क्रम अवरुद्ध हो जायेगा और उधर बहकते-बहकते प्रकृति का बाहुल्य हो जायेगा। यदि लक्ष्य दूर है और साधक कृपा करता है, तो कृपा का अकेला आचरण ही `समितिंजय'-समूची सेना को जीत लेगा। इसलिये साधक को पूर्तिपर्यन्त इससे सतर्क रहना चाहिए। `दया बिनु सन्त कसाई, दया करी तो आफत आई।' लेकिन अधूरी अवस्था में यह विजातीय प्रवृत्ति का दुर्धर्ष योद्धा है। इसी प्रकार आसक्तिरूपी अश्वत्थामा, विकल्परूपी विकर्ण और भ्रममयी श्वास ही भूरिश्रवा है। ये सभी बहिर्मुखी प्रवाह के नायक हैं।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

और भी बहुत से शूरवीर अनेक शस्त्रों से युक्त मेरे लिये जीवन की आशा को त्यागकर युद्ध में डटे हैं। सभी मेरे लिये प्राण त्यागनेवाले हैं; किन्तु उनकी कोई ठोस गणना नहीं है। अब कौन-सी सेना किन भावों द्वारा सुरक्षित है? इस पर कहते हैं-

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की सेना जीतने में सुगम है। `पर्याप्त' और `अपर्याप्त' जैसे श्लिष्ट शब्द का प्रयोग दुर्योधन की आशंका को व्यक्त करता है। अतः देखना है कि भीष्म कौन-सी सत्ता है, जिस पर कौरव निर्भर करते हैं तथा भीम कौन-सी सत्ता है, जिस पर (दैवी सम्पद्) सम्पूर्ण पाण्डव निर्भर हैं। दुर्योधन अपनी व्यवस्था देता है कि -

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

इसलिए सब मोर्चों पर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सब-के-सब भीष्म की ही सब ओर से रक्षा करें। यदि भीष्म जीवित हैं, तो हम अजेय हैं। इसलिए आप पाण्डवों से न लड़कर केवल भीष्म की ही रक्षा करें। कैसा योद्धा है भीष्म, जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर पा रहा है, कौरवों को उसकी रक्षा-व्यवस्था करनी पड़ रही है? यह कोई वाह्य योद्धा नहीं, भ्रम ही भीष्म है। जब तक भ्रम जीवित है, तब तक विजातीय प्रवृत्तियाँ (कौरव) अजेय हैं। अजेय का यह अर्थ नहीं कि जिसे जीता ही न जा सके, बल्कि अजेय का अर्थ दुर्जय है, जिसे कठिनाई से जीता जा सकता हो-

महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो बीर।।

रामचरितमानस, ६/८०

यदि भ्रम समाप्त हो जाय तो अविद्या अस्तित्वहीन हो जाय, मोह इत्यादि जो आंशिक रूप से बचे भी हैं - शीघ्र ही समाप्त हो जायेंगे। भीष्म की इच्छा-मृत्यु थी। इच्छा ही भ्रम है। इच्छा का अन्त और भ्रम का मिटना एक ही बात है। इसी को सन्त कबीर ने सरलता से कहा -

इच्छा काया इच्छा माया, इच्छा जग उपजाया।
कह कबीर जे इच्छा विवर्जित, ताका पार न पाया।।

जहाँ भ्रम नहीं होता, वह अपार और अव्यक्त है। इस शरीर के जन्म का कारण इच्छा है। इच्छा हीं माया है और इच्छा ही जगत् की उत्पत्ति का कारण है। ['सोऽकामयत' तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय इति' (छान्दोग्य. ६/२/३)]। कबीर कहते हैं, जो इच्छाओं से सर्वथा रहित हैं, 'तिनका पार न पाया' - वे अपार, अनन्त, असीम तत्त्व में प्रवेश पा जाते हैं। ['योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।' (वृहदारण्यक. ४/४/६)] जो कामनाओं से रहित आत्मा में स्थिर आत्म स्वरूप है, उसका कभी पतन नहीं होता। वह ब्रह्म के साथ एक हो जाता है। आरम्भ में इच्छायें अनन्त होती हैं और अन्ततोगत्वा परमात्म-प्राप्ति की इच्छा शेष रहती है। जब यह इच्छा भी पूरी हो जाती है, तब इच्छा भी मिट जाती है। यदि उससे भी बड़ी कोई वस्तु होती, तो आप उसकी इच्छा अवश्य करते। जब उससे आगे कोई वस्तु है ही नहीं, तो इच्छा किसकी होगी। जब प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्य न रह जाय तो इच्छा भी समूल नष्ट हो जाती है और इच्छा के मिटते ही भ्रम का

सर्वथा अन्त हो जाता है। यही भीष्म की इच्छामृत्यु है। इस प्रकार भीष्म द्वारा रक्षित हम लोगों की सेना सव प्रकार से अजेय है। जव तक भ्रम है, तभी तक अविद्या का भी अस्तित्व है। भ्रम शान्त हुआ, तो अविद्या भी समाप्त हो जाती है।

भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की सेना जीतने में सुगम है। भावरूपी भीम। `भावे विद्यते देवः' - भाव में वह क्षमता है कि अविदित परमात्मा भी विदित हो जाता है। `भाव वस्य भगवान, सुख निधान करुना अयन' (रामचरितमानस, ७/९२ख)। श्रीकृष्ण ने इसे श्रद्धा कहकर सम्वोधित किया है। भाव में वह क्षमता है कि भगवान को भी वश में कर लेता है। भाव से ही सम्पूर्ण पुण्यमयी प्रवृत्तियों का विकास है। यह पुण्य का संरक्षक है। है तो इतना बलवान कि परमदेव परमात्मा को संभव वनाता है; किन्तु साथ ही इतना कोमल भी है कि आज भाव है, तो कल अभाव में बदलते देर नहीं लगती। आज आप कहते हैं कि महाराज वहुत अच्छे हैं। कल कह सकते हैं कि नहीं, हमने तो देखा महाराज खीर खाते हैं -

घास पात जे खात हैं, तिन्हहि सतावै काम।
दूध मलाई खात जे, तिनकी जाने राम।।

इष्ट में लेशमात्र भी त्रुटि प्रतीत होने पर भाव डगमगा जाता है, पुण्यमयी प्रवृत्ति विचलित हो उठती है, इष्ट से सम्वन्ध टूट जाता है, इसलिए भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की सेना जीतने में सुगम है। महर्षि पतंजलि का भी यही निर्णय है - `स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः' (योगसूत्र, १/१४)। दीर्घकाल तक निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक किया हुआ साधन ही दृढ़ हो पाता है।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

इस प्रकार अपने वलावल का निर्णय लेकर शंखध्वनि हुई। शंखध्वनि पात्रों के पराक्रम की घोषणा है कि जीतने पर कौन-सा पात्र आपको क्या देगा? कौरवों में वृद्ध प्रतापवान् पितामह भीष्म ने उस दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वर से सिंहनाद के समान भयप्रद शंख बजाया। सिंह प्रकृति के

भयावह पहलू का प्रतीक है। घोर जंगल के नीरव एकान्त में शेर की दहाड़ कान में पड़ जाय तो रोंगटे खड़े हो जायेंगे, हृदय काँपने लगेगा; यद्यपि शेर आपसे मीलों दूर है। भय प्रकृति में होता है, परमात्मा में नहीं; वह तो अभय सत्ता है। भ्रमरूपी भीष्म यदि विजयी होता है, तो प्रकृति के जिस भयारण्य में आप हैं उससे भी अधिक भय के आवरण में बाँध देगा। भय की एक परत और बढ़ जायेगी, भय का आवरण घना हो उठेगा। यह भ्रम इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकेगा। अतः प्रकृति से निवृत्ति ही गन्तव्य का मार्ग है। संसार में प्रवृत्ति तो भवाटवी है, घोर अन्धकार की छाया है। इसके आगे कौरवों की कोई घोषणा नहीं है। कौरवों की ओर से कई बाजे एक साथ बजे; किन्तु कुल मिलाकर वे भी भय ही प्रदान करते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। प्रत्येक विकार कुछ-न-कुछ भय तो देता ही है। इसलिए उन्होंने भी घोषणा की-

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

तदनन्तर अनेक शंख, नगाड़े, ढोल और नरसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे। उनका शब्द भी बड़ा भयंकर हुआ। भय का संचार करने के अतिरिक्त कौरवों की कोई घोषणा नहीं है। बहिर्मुखी विजातीय प्रवृत्ति सफल होने पर मोहमयी वन्धन और घना कर देती है।

अब पुण्यमयी प्रवृत्तियों की ओर से घोषणाएँ हुईं, जिनमें पहली घोषणा योगेश्वर श्रीकृष्ण की है -

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

इसके उपरान्त श्वेत घोड़ों से युक्त (जिनमें लेशमात्र कालिमा, दोष नहीं है - श्वेत सात्त्विक, निर्मलता का प्रतीक है) - 'महति स्यन्दने' - महान् रथ पर बैठे हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अलौकिक शंख बजाये। अलौकिक का अर्थ है, लोकों से परे। मृत्युलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक, जहाँ तक जन्म-मरण का भय है, उन समस्त लोकों से परे पारलौकिक, पारमार्थिक स्थिति प्रदान करने की घोषणा योगेश्वर श्रीकृष्ण की है। सोने-चाँदी-काठ का रथ नहीं, रथ अलौकिक,

शंख अलौकिक, अतः घोषणा भी अलौकिक ही है। लोकों से परे एकमात्र ब्रह्म है, सीधा उससे सम्पर्क स्थापित कराने की घोषणा है। वे कैसे यह स्थिति प्रदान करेंगे?

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

`हृषीकेशः' - जो हृदय के सर्वस्व ज्ञाता हैं, उन श्रीकृष्ण ने `पांचजन्य शंख' बजाया। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को पंच तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) के रसों से समेटकर अपने जन (भक्त) की श्रेणी में ढालने की घोषणा की। विकराल रूप से बहकती हुई इन्द्रियों को समेटकर उन्हें अपने सेवक की श्रेणी में खड़ा कर देना हृदय से प्रेरक सद्गुरु की देन है। श्रीकृष्ण एक योगेश्वर, सद्गुरु थे। `शिष्यस्तेऽहं'- भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ। बाह्य विषय वस्तुओं को छोड़कर ध्यान में इष्ट के अतिरिक्त दूसरा न देखें, दूसरा न सुनें, न दूसरे का स्पर्श करें; यह सद्गुरु के अनुभव संचार पर निर्भर करता है।

`देवदत्तं धनंजयः' दैवी सम्पत्ति को अधीन करनेवाला अनुराग ही अर्जुन है। इष्ट के अनुरूप लगाव - जिसमें विरह, वैराग्य, अश्रुपात् हो; `गद्गद् गिरा नयन वह नीरा' रोमांच हो, इष्ट के अतिरिक्त अन्य विषयवस्तु का लेशमात्र टकराव न होने पाये; उसी को `अनुराग' कहते हैं। यदि यह सफल होता है, तो परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलाने वाली दैवी सम्पद् पर आधिपत्य प्राप्त कर लेता है। इसी का दूसरा नाम धनंजय भी है। एक धन तो बाहरी सम्पत्ति है, जिससे शरीर निर्वाह की व्यवस्था होती है, आत्मा से इसका कोई सम्वन्ध नहीं है। इससे परे स्थिर आत्मिक सम्पत्ति ही निज सम्पत्ति है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को यही समझाया कि धन से सम्पन्न पृथ्वी के स्वामित्व से भी अमृतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसका उपाय आत्मिक सम्पत्ति है।

भयानक कर्मवाले भीमसेन ने पौण्ड्र अर्थात् प्रीति नामक महाशंख बजाया। भाव का उद्गम और निवास-स्थान हृदय है, इसलिए इसका नाम वृकोदर है। आपका भाव-लगाव बच्चे में होता है; किन्तु वस्तुतः वह लगाव आपके हृदय में है जो बच्चे में जाकर मूर्त्त होता है। यह भाव अथाह और महान् वलशाली है,

उसने प्रीति नामक महाशंख बजाया। भाव में ही वह प्रीति निहित है, इसीलिए भीम ने `पौण्ड्र' (प्रीति) नामक महाशंख बजाया। भाव महान् बलवान् है; किन्तु प्रीति संचार के माध्यम से।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।।
(रामचरितमानस, १/१८४/५)

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने `अनन्त विजय' नामक शंख बजाया। कर्त्तव्यरूपी कुन्ती और धर्मरूपी युधिष्ठिर। धर्म पर स्थिरता रहेगी तो `अनन्त विजय' - अनन्त परमात्मा में स्थिति दिलायेगा। युद्धे स्थिरः सः युधिष्ठिरः। प्रकृति पुरुष क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष में स्थिर रहता है, महान् दुःख से भी विचलित नहीं होता तो एक दिन जो अनन्त है, जिसका अन्त नहीं है वह है - परमतत्त्व परमात्मा, उस पर विजय दिला देता है।

नियमरूपी नकुल ने `सुघोष' नामक शंख बजाया। ज्यों-ज्यों नियम उन्नत होगा, अशुभ का शमन होता जायेगा, शुभ घोषित होता जायेगा। सत्संगरूपी सहदेव ने `मणिपुष्पक' शंख बजाया। मनीषियों ने प्रत्येक श्वास को बहुमूल्य मणि की संज्ञा दी है। `हीरा जैसी स्वाँसा बातों में बीती जाय।' एक सत्संग तो वह है, जो आप सत्पुरुषों की वाणी से सुनते हैं; किन्तु यथार्थ सत्संग आन्तरिक है। श्रीकृष्ण के अनुसार आत्मा ही सत्य है, सनातन है। चित्त सब ओर से सिमटकर आत्मा की संगत करने लगे, यही वास्तविक सत्संग है। यह सत्संग चिन्तन, ध्यान और समाधि के अभ्यास से सम्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों सत्य के सान्निध्य में सुरत टिकती जायेगी, त्यों-त्यों एक-एक श्वास पर नियंत्रण मिलता जायेगा; मनसहित इंद्रियों का निरोध होता जायेगा। जिस दिन सर्वथा निरोध होगा, वस्तु प्राप्त हो जायेगी। वाद्ययन्त्रों की तरह चित्त का आत्मा के स्वर में स्वर मिलाकर संगत करना ही सत्संग है।

बाह्य-मणि कठोर है, किन्तु श्वास-मणि पुष्प से भी कोमल है। पुष्प तो विकसित होने या टूटने पर कुम्हलाता है; किन्तु आप अगले श्वास तक जीवित

रहने की गारण्टी नहीं दे सकते। किन्तु सत्संग सफल होने पर प्रत्येक श्वास पर नियंत्रण दिलाकर परम लक्ष्य की प्राप्ति करा देता है। इसके आगे पांडवों की कोई घोषणा नहीं है; किन्तु प्रत्येक साधन कुछ-न-कुछ निर्मलता के पथ में दूरी तय कराता है। आगे कहते हैं-

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।

कायारूपी काशी। पुरुष जब सब ओर से मनसहित इन्द्रियों को समेटकर काया में ही केन्द्रित करता है, तो 'परमेष्वासः' - परम ईश में वास का अधिकारी हो जाता है। परम ईश में वास दिलाने में सक्षम काया ही काशी है। काया में ही परम ईश का निवास है। 'परमेष्वास' का अर्थ श्रेष्ठ धनुषवाला नहीं बल्कि परम+ईश+वास है।

शिखा-सूत्र का त्याग ही 'शिखण्डी' है। आजकल लोग सिर के बाल कटा लेते हैं और सूत्र के नाम पर गले की जनेऊ हटा लेते हैं, अग्नि जलाना छोड़ देते हैं। हो गया संन्यास उनका। नहीं, वस्तुतः शिखा लक्ष्य का प्रतीक है, जिसे आपको पाना है और सूत्र है संस्कारों का। जब तक आगे परमात्मा को पाना शेष है, पीछे संस्कारों का सूत्रपात् लगा हुआ है, तब तक त्याग कैसा? संन्यास कैसा? अभी तो चलनेवाले पथिक हैं। जब प्राप्तव्य प्राप्त हो जाय, पीछे लगे हुए संस्कारों की डोर कट जाय, ऐसी अवस्था में भ्रम सर्वथा शान्त हो जाता है। इसलिये शिखण्डी ही भ्रमरूपी भीष्म का विनाश करता है। शिखण्डी चिन्तन-पथ की विशिष्ट योग्यता है, महारथी है।

'धृष्टद्युम्न'- दृढ़ और अचल मन तथा 'विराटः' सर्वत्र विराट् ईश्वर का प्रसार देखने की क्षमता इत्यादि दैवी सम्पद् के प्रमुख गुण हैं। सात्त्विकता ही सात्यकि है। सत्य के चिन्तन की प्रवृत्ति अर्थात् सात्त्विकता यदि बनी है, तो कभी गिरावट नहीं आने पायेगी। इस संघर्ष में पराजित नहीं होने देगी।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

अचल पददायक द्रुपद और ध्यानरूपी द्रौपदी के पाँचों पुत्र - सहृदयता, वात्सल्य, लावण्य, सौम्यता, स्थिरता इत्यादि साधन में महान् सहायक महारथी हैं तथा बड़ी भुजावाला अभिमन्यु - इन सबने पृथक्-पृथक् शंख बजाये। भुजा कार्य-क्षेत्र का प्रतीक है। जब मन भय से रहित हो जाता है, तो उसकी पहुँच दूर तक हो जाती है।

हे राजन्! इन सबने अलग-अलग शंख बजाये। कुछ-न-कुछ दूरी सभी तय कराते हैं, इनका पालन आवश्यक है, इसलिए इनके नाम गिनाये। इसके अतिरिक्त कुछ दूरी ऐसी भी है, जो मन-बुद्धि से परे है। भगवान स्वयं ही अन्तःकरण में विराजकर तय कराते हैं। इधर दृष्टि बनकर आत्मा से खड़े हो जाते हैं और सामने स्वयं खड़ा होकर अपना परिचय करा लेते हैं।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।१९।।

उस घोर शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये। सेना तो पाण्डवों की ओर भी थी, किन्तु हृदय विदीर्ण हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के। वस्तुतः पाञ्चजन्य, दैवी शक्ति पर आधिपत्य, अनन्त पर विजय, अशुभ का शमन और शुभ की घोषणा धारावाही होने लगे तो कुरुक्षेत्र, आसुरी सम्पद्, वहिर्मुखी प्रवृत्तियों का हृदय विदीर्ण हो जायेगा। उनका बल शनैः-शनैः क्षीण होने लगता है। सर्वथा सफलता मिलने पर मोहमयी प्रवृत्तियाँ सर्वथा शान्त हो जाती हैं।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।२१।।

संयमरूपी संजय ने अज्ञान से आवृत्त मन को समझाया कि हे राजन्! उसके उपरान्त 'कपिध्वजः' - वैराग्यरूपी हनुमान! वैराग्य ही ध्वज है जिसका। ध्वज राष्ट्र का प्रतीक माना जाता है। कुछ लोग कहते हैं - ध्वजा चंचल थी, इसलिए

कपिध्वज कहा गया। किन्तु नहीं, यहाँ कपि साधारण बन्दर नहीं स्वयं हनुमान थे - जिन्होंने मान-अपमान का हनन किया था - `सम मान निरादर आदरहीं।' प्रकृति की देखी-सुनी वस्तुओं से, विषयों से राग का त्याग ही `वैराग्य' है। अतः वैराग्य ही जिसकी ध्वजा है, उस अर्जुन ने व्यवस्थित रूप से धृतराष्ट्र-पुत्रों को खड़े देखकर शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर `हृषिकेशम्' - जो हृदय के सर्वस्व ज्ञाता हैं, उन योगेश्वर श्रीकृष्ण से यह वचन कहा - "हे अच्युत! (जो कभी च्युत नहीं होता) मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच खड़ा करिये।" यहाँ सारथी को दिया गया आदेश नहीं, इष्ट (सद्गुरु) से की गई प्रार्थना है। किसलिये खड़ा करें?

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।

जब तक मैं इन स्थित हुए युद्ध की कामनावालों को अच्छी प्रकार देख न लूँ कि इस युद्ध के उद्योग में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है - इस युद्ध-व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है?

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहनेवाले जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आये हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देखूँगा, इसलिये खड़ा करें। मोहरूपी दुर्योधन! मोहमयी प्रवृत्तियों का कल्याण चाहने वाले जो-जो राजा इस युद्ध में आये हैं, उनको मैं देख लूँ।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।२४।।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।२५।।

संजय बोला - निद्राजयी अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर हृदय के ज्ञाता श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच भीष्म, द्रोण और `महीक्षिताम्' - शरीररूपी पृथ्वी पर अधिकार जमाये हुए सम्पूर्ण राजाओं के बीच उत्तम रथ को खड़ा करके कहा कि - पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख। यहाँ उत्तम रथ सोने-चांदी का रथ नहीं है। संसार में उत्तम की परिभाषा नश्वर के प्रति अनुकूलता-प्रतिकूलता से की जाती है - यह परिभाषा अपूर्ण है। जो हमारे आत्मा, हमारे स्वरूप का सदैव साथ दे, वही उत्तम है जिसके पीछे `अनुत्तम' - मलिनता न हो।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।२६।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

इसके उपरान्त अचूक लक्ष्यवाले, पार्थिव शरीर को रथ बनानेवाले पार्थ ने उन दोनों सेनाओं में स्थित पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामाओं को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को, मित्रों को, श्वसुरों को और सुहृदों को देखा। दोनों सेनाओं में अर्जुन को केवल अपना परिवार, मामा का परिवार, ससुराल का परिवार, सुहृद और गुरुजन दिखाई पड़े। महाभारत काल की गणना के अनुसार अठारह अक्षौहिणी लगभग चालीस लाख के समकक्ष होता है किन्तु प्रचलित गणना के अनुसार अठारह अक्षौहिणी साढ़े छः अरब के लगभग होता है, जो आज के विश्व की जनसंख्या के समकक्ष है। इतने मात्र के लिए यदा-कदा विश्व स्तर पर आवास, खाद्य-समस्या बन जाती है। इतना बड़ा जनसमूह अर्जुन के तीन-चार रिश्तेदारों का परिवार मात्र था। क्या इतना बड़ा भी किसी का परिवार होता है? कदापि नहीं। यह हृदय-देश का चित्रण है।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

इस प्रकार खड़े हुए उन सम्पूर्ण बन्धुओं को देखकर अत्यन्त करुणा से आवृत्त वह कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ बोला। अर्जुन शोक करने लगा; क्योंकि उसने देखा कि यह सब तो अपना परिवार ही है, अतः बोला-

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।२८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

हे कृष्ण! युद्ध की इच्छावाले खड़े हुए इस स्वजन समुदाय को देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं, मुख सूखा जाता है और मेरे शरीर में कम्प तथा रोमाञ्च हो रहा है। इतना ही नहीं-

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।३०।।

हाथ से गाण्डीव गिरता है, त्वचा भी जल रही है। अर्जुन को ज्वर-सा हो आया, संतप्त हो उठा कि यह कैसा युद्ध है, जिसमें स्वजन ही खड़े हैं? अर्जुन को भ्रम हो गया। वह कहता है - अब मैं खड़ा रह पाने में भी अपने को असमर्थ पा रहा हूँ, अब आगे देखने की सामर्थ्य नहीं है।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।३१।।

हे केशव! इस युद्ध का लक्षण भी विपरीत ही देखता हूँ। युद्ध में अपने कुल को मारकर परमकल्याण भी नहीं देखता हूँ। कुल को मारने से कल्याण कैसे होगा?

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।३२।।

सम्पूर्ण परिवार युद्ध के मुहाने पर है। इन्हें युद्ध में मारकर विजय, विजय से मिलनेवाला राज्य और राज्य से मिलने वाला सुख अर्जुन को नहीं चाहिए। वह कहता है - कृष्ण! मैं विजय नहीं चाहता, राज्य तथा सुख भी नहीं चाहता। गोविन्द! हमें राज्य या भोग अथवा जीवन से भी क्या प्रयोजन है? क्यों? इस पर कहता है -

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

हमें जिनके लिए राज्य,भोग और सुखादि इच्छित हैं, वे ही परिवार जीवन की आशा त्यागकर युद्ध के मैदान में खड़े हैं। हमें राज्य इच्छित था तो परिवार को लेकर; भोग,सुख और धन की पिपासा थी, तो स्वजन और परिवार के साथ उन्हें भोगने की थी; किन्तु जब सब-के-सब प्राणों की आशा त्यागकर खड़े हैं, तो मुझे सुख,राज्य या भोग नहीं चाहिए। यह सब इन्हीं के लिए प्रिय थे। इनसे अलग होने पर हमें इनकी आवश्यकता नहीं है। जब तक परिवार रहेगा, तभी तक ये वासनाएँ भी रहती हैं। झोपड़ी में रहनेवाला भी अपने परिवार, मित्र और स्वजन को मारकर विश्व का साम्राज्य स्वीकार नहीं करेगा। अर्जुन भी यही कहता है कि हमें भोग प्रिय थे, विजय प्रिय थी; किन्तु जिनके लिए थी, जब वे ही नहीं रहेंगे तो भोगों से क्या प्रयोजन? इस युद्ध में मारना किसे है?-

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।३४।।

इस युद्ध में आचार्य, ताऊ, चाचे, लड़के और इसी प्रकार दादा, मामा, श्वसुर, पोते, साले तथा समस्त सम्बन्धी ही हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

हे मधुसूदन! मुझे मारने पर भी अथवा तीन लोक के राज्य के लिए भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वी के लिये कहना ही क्या है?

अठारह अक्षौहिणी सेना में अर्जुन को अपना परिवार ही दिखायी पड़ा। इतने अधिक स्वजन वास्तव में क्या हैं? वस्तुतः अनुराग ही अर्जुन है। भजन के आरम्भ में प्रत्येक अनुरागी के समक्ष यही समस्या रही है। सभी चाहते हैं कि हम भजन करें, उस परमसत्य को पा लें। किन्तु किसी अनुभवी सद्गुरु के संरक्षण में कोई अनुरागी जब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष को समझता है कि हमें किनसे लड़ना

है, तो वह हताश हो जाता है। वह चाहता है कि हमारे पिता का परिवार, ससुराल का परिवार, मामा का परिवार, सुहृद, मित्र और गुरुजन साथ रहें, सभी सुखी रहें और इन सबकी व्यवस्था करते हुए हम परमात्म स्वरूप की प्राप्ति भी कर लें। किन्तु जब वह समझता है कि आराधना में अग्रसर होने के लिए परिवार छोड़ना होगा, इन सम्बन्धों का मोह समाप्त करना होगा, तो वह अधीर हो उठता है।

पूज्य महाराज जी कहा करते थे - 'मरना और साधु होना बराबर है।' साधु के लिए सृष्टि में दूसरा कोई जीवित है भी; किन्तु घरवालों के नाम पर कोई नहीं है। यदि कोई है, तो लगाव है; मोह समाप्त कहाँ हुआ? जहाँ तक लगाव है उसका पूर्ण त्याग, उस लगाव के सअस्तित्व मिटने पर ही उसकी विजय है। इन सम्बन्धों का प्रसार ही तो जगत् है, अन्यथा जगत् में हमारा क्या है? 'तुलसीदास कह चिद् विलास जग, बूझत बूझत बूझै।' मन का प्रसार ही जगत् है। योगेश्वर कृष्ण ने भी मन के प्रसार को ही जगत् कहकर सम्बोधित किया। जिसने इसके प्रभाव को रोक लिया, उसने चराचर जगत् ही जीत लिया - 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।' (गीता-५/१९)

केवल अर्जुन अधीर था, ऐसी बात नहीं है। अनुराग सबके हृदय में है। प्रत्येक अनुरागी अधीर होता है, उसे सम्बन्धी याद आने लगते हैं। पहले वह सोचता था कि भजन से कुछ लाभ होगा, तो ये सब सुखी होंगे। इनके साथ रहकर उसे भोगेंगे। जब ये साथ ही नहीं रहे, तो सुख लेकर क्या करेंगे? अर्जुन की दृष्टि राज्य-सुख तक ही सीमित थी। वह त्रिलोकी के साम्राज्य को ही सुख की पराकाष्ठा समझता था। इसके आगे भी कोई सत्य है, इसकी जानकारी अर्जुन को अभी नहीं है।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।।३६।।

हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी? जहाँ धृतराष्ट्र अर्थात् धृष्टता का राष्ट्र है, उससे उत्पन्न मोहरूपी दुर्योधन इत्यादि को मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही तो

लगेगा। जो जीवन-यापन के तुच्छ लाभ के लिए अनीति अपनाता है, वह आततायी कहलाता है; किन्तु वस्तुतः इससे भी बड़ा आततायी वह है, जो आत्मा के पथ में अवरोध उत्पन्न करता है। आत्मदर्शन में बाधक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का समूह ही आततायी है।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३७।।

इससे हे माधव! अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिये हम योग्य नहीं हैं। स्व-बान्धव कैसे? वे तो शत्रु थे न! वस्तुतः शरीर के रिश्ते अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। यह मामा है, ससुराल है, स्वजन समुदाय है - यह सब अज्ञान ही तो है। जब शरीर ही नश्वर है, तब इसके रिश्ते ही कहाँ रहेंगे? मोह है तभी तक सुहृद् हैं, हमारा परिवार है, हमारी दुनिया है। मोह नहीं तो कुछ भी नहीं। इसीलिए वे शत्रु भी अर्जुन को स्वजन दिखायी पड़े। वह कहता है कि अपने कुटुम्ब को मारकर हम कैसे सुखी होंगे। यदि अज्ञान और मोह न रहे तो कुटुम्ब का अस्तित्व न हो। यह अज्ञान ज्ञान का प्रेरक भी है। भर्तृहरि, तुलसी इत्यादि अनेक महानुभावों को वैराग्य की प्रेरणा पत्नी से मिली, तो कोई सौतेली माँ के व्यवहार से खिन्न होकर वैराग्य-पथ पर अग्रसर हुआ दिखायी देता है।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३८।।

यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल-नाश के दोष और मित्र-द्रोह के पाप को नहीं देखते हैं; यह उनकी कमी है, फिर भी-

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३९।।

हे जनार्दन! कुल-नाश से होनेवाले दोषों को जाननेवाले हमलोगों को इस पाप से हटने के लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिए? मैं ही पाप करता हूँ, ऐसी बात नहीं - आप भी भूल करने जा रहे हैं. श्रीकृष्ण पर भी आरोप लगाया।

अभी वह समझ में अपने को श्रीकृष्ण से कम नहीं मानता। प्रत्येक नया साधक सद्गुरु की शरण जाने पर इसी प्रकार तर्क करता है और अपने को जानकारी में कम नहीं समझता। यही अर्जुन भी कहता है कि ये भले न समझें; किन्तु हम-आप तो समझदार हैं। कुल-नाश के दोषों पर हमें विचार करना चाहिए। कुल-नाश में दोष क्या है?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।४०।।

कुल के नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्जुन कुलधर्म कुलाचार को ही सनातन धर्म समझ रहा था। धर्म के नाश होने पर सम्पूर्ण कुल को पाप भी वहुत दबा लेता है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।।४१।।

हे कृष्ण! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है। अर्जुन की मान्यता थी कि कुल की स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर होता है; किन्तु श्रीकृष्ण ने इसका खण्डन करते हुए आगे वताया कि मैं अथवा स्वरूप में स्थित महापुरुष यदि आराधना-क्रम में भ्रम उत्पन्न कर दें, तव वर्णसंकर होता है। वर्णसंकर के दोषों पर अर्जुन प्रकाश डालता है-

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४२।।

वर्णसंकर कुलघातियों और कुल को नरक में ले जाने के लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्डक्रियावाले इनके पितर लोग भी गिर जाते हैं। वर्तमान नष्ट हो जाता है, अतीत के पितर गिर जाते हैं और भविष्यवाले भी गिरेंगे। इतना ही नहीं;

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४३।।

इन वर्णसंकर-कारक दोषों से कुल और कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्जुन मानता था कि कुलधर्म सनातन है, कुलधर्म ही शाश्वत है। किन्तु श्रीकृष्ण ने इसका खण्डन किया और आगे बताया कि आत्मा ही सनातन-शाश्वत धर्म है। वास्तविक सनातन धर्म को जानने से पहले मनुष्य धर्म के नाम पर किसी न किसी रूढ़ि को जानता है। ठीक इसी प्रकार अर्जुन भी जानता है, जो श्रीकृष्ण के शब्दों में एक रूढ़ि है।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४४।।

हे जनार्दन! नष्ट हुए कुलधर्मवाले मनुष्यों का अनन्तकाल तक नरक में वास होता है, ऐसा हमने सुना है। केवल कुलधर्म ही नहीं नष्ट होता, बल्कि शाश्वत सनातन धर्म भी नष्ट हो जाता है। जब धर्म ही नष्ट हो गया, तो ऐसे पुरुष का अनन्तकाल तक नरक में निवास होता है, ऐसा हमने सुना है। देखा नहीं, सुना है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४५।।

अहो! शोक है कि हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करने को तैयार हुए हैं। राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिये उद्यत हुए हैं।

अभी अर्जुन अपने को कम ज्ञाता नहीं समझता। आरम्भ में प्रत्येक साधक इसी प्रकार बोलता है। महात्मा बुद्ध का कथन है कि मनुष्य जब अधूरी जानकारी रखता है, तो अपने को महान् ज्ञानी समझता है और जब आधे से आगे की जानकारी हासिल करने लगता है, तो अपने को महान् मूर्ख समझता है। ठीक इसी प्रकार अर्जुन भी अपने को ज्ञानी ही समझता है। वह श्रीकृष्ण को ही समझाता है कि उस पाप से परम कल्याण हो, ऐसी बात भी नहीं, केवल राज्य और सुख के लोभ में पड़कर हमलोग कुल-नाश करने को उद्यत हुए हैं- महान् भूल कर रहे हैं। हम ही भूल कर रहे हैं - ऐसी बात नहीं, आप भी भूल कर रहे हैं। एक धक्का श्रीकृष्ण को भी दिया। अन्त में अर्जुन अपना निर्णय देता है -

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४६।।

यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करनेवाले को शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें, तो उनका वह मारना भी मेरे लिये अति कल्याणकारक होगा। इतिहास तो कहेगा कि अर्जुन समझदार था, जिसने अपनी बलि देकर युद्ध बचा लिया। लोग प्राणों की आहुति दे डालते हैं कि भोले-भाले मासूम बच्चे सुखी रहें, कुल तो बचा रहे। मनुष्य विदेश चला जाय, वैभवपूर्ण प्रासाद में रहे; किन्तु दो दिन बाद उसे अपनी छोड़ी हुई झोपड़ी याद आने लगती है। मोह इतना प्रबल होता है। इसीलिये अर्जुन कहता है कि शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ न प्रतिकार करनेवाले को रण में मार दें, तब भी वह मेरे लिये अति कल्याणकारी होगा ताकि लड़के तो सुखी रहें।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४७।।

संजय बोला कि रणभूमि में शोक से उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाणसहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष में भाग लेने से पीछे हट गया।

निष्कर्ष :

गीता क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के युद्ध का निरूपण है। यह ईश्वरीय विभूतियों से सम्पन्न भगवत्स्वरूप को दिखानेवाला गायन है। यह गायन जिस क्षेत्र में होता है, वह युद्ध-क्षेत्र शरीर है। जिसमें दो प्रवृत्तियाँ हैं - धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र। इन सेनाओं का स्वरूप और उनके बल का आधार बताया, शंखध्वनि से उनके पराक्रम की जानकारी मिली। तदनन्तर जिस सेना से लड़ना है, उसका निरीक्षण हुआ। जिसकी गणना अठारह अक्षौहिणी (लगभग साढ़े छः अरब) कही जाती है; किन्तु वस्तुतः वे अनन्त हैं। प्रकृति के दृष्टिकोण दो हैं - एक इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति - 'दैवी सम्पद्', दूसरी बहिर्मुखी प्रवृत्ति - 'आसुरी सम्पद्'। दोनों प्रकृति ही

हैं। एक इष्ट की ओर उन्मुख करती है, परमधर्म परमात्मा की ओर ले जाती है और दूसरी प्रकृति में विश्वास दिलाती है। पहले दैवी सम्पद् को साधकर आसुरी सम्पद् का अन्त किया जाता है, फिर शाश्वत सनातन परब्रह्म के दिग्दर्शन और उसमें स्थिति के साथ दैवी सम्पद् की आवश्यकता शेष हो जाती है, युद्ध का परिणाम निकल आता है।

अर्जुन को सैन्य निरीक्षण में अपना परिवार ही दिखायी पड़ता है, जिसे मारना है। जहाँ तक सम्वन्ध है, उतना ही जगत् है। अनुराग के प्रथम चरण में पारिवारिक मोह बाधक बनता है। साधक जब देखता है कि मधुर सम्बन्धों से इतना विच्छेद हो जायेगा, जैसे वे थे ही नहीं, तो उसे घबराहट होने लगती है। स्वजनासक्ति को मारने में उसे अकल्याण दिखायी देने लगता है। वह प्रचलित रूढ़ियों में अपना बचाव ढूँढ़ने लगता है, जैसा अर्जुन ने किया। उसने कहा - "कुलधर्म ही सनातन धर्म है। इस युद्ध से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा, कुल की स्त्रियाँ दूषित होंगी, वर्णसंकर पैदा होगा, जो कुल और कुलघातियों को अनन्तकाल तक नरक में ले जाने के लिये ही होता है।" अर्जुन अपनी समझ से `सनातन धर्म' की रक्षा के लिये विकल है। उसने श्रीकृष्ण से अनुरोध किया कि हमलोग समझदार होकर भी यह महान् पाप क्यों करें? अर्थात् श्रीकृष्ण भी पाप करने जा रहे हैं। अन्ततोगत्वा पाप से बचने के लिये `मैं युद्ध नहीं करूँगा' - ऐसा कहता हुआ हताश अर्जुन रथ के पिछले भाग में बैठ गया; क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष से पीछे हट गया।

टीकाकारों ने इस अध्याय को `अर्जुन विषाद योग' कहा है। अर्जुन अनुराग का प्रतीक है। सनातन धर्म के लिये विकल होनेवाले अनुरागी का विषाद योग का कारण वनता है। यही विषाद मनु को हुआ था। `हृदय बहुत दुःख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।' रामचरितमानस, १/१४२ संशय में पड़कर ही मनुष्य विषाद करता है। उसे संदेह था कि वर्णसंकर पैदा होगा, जो नरक में ले जायेगा। सनातन धर्म के नष्ट होने का भी उसे विषाद था। अतः `संशय-विषाद-योग' का सामान्य नामकरण इस अध्याय के लिये उपयुक्त है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे `संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'संशय-विषाद-योग' नामक प्रथम अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'संशयविषादयोगो' नाम प्रथमोऽध्यायः।।१।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथम अध्याय गीता की प्रवेशिका है, जिसमें आरम्भ में पथिक को प्रतीत होनेवाली उलझनों का चित्रण है। लड़नेवाले सम्पूर्ण कौरव और पाण्डव थे; किन्तु संशय का पात्र मात्र अर्जुन है। अनुराग ही अर्जुन है। इष्ट के अनुरूप राग ही पथिक को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष के लिये प्रेरित करता है। अनुराग आरम्भिक स्तर है। पूज्य महाराज जी कहते थे - "सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ग्लानि होने लगे, अश्रुपात् होता हो, कण्ठ अवरुद्ध होता हो, तो समझना कि यहीं से भजन आरम्भ हो गया।" अनुराग में यह सब कुछ आ जाता है। उसमें धर्म, नियम, सत्संग, भाव सभी विद्यमान होंगे।

अनुराग के प्रथम चरण में पारिवारिक मोह वाधक बनता है। पहले मनुष्य चाहता है कि वह उस परम सत्य को प्राप्त कर लें; किन्तु आगे बढ़ने पर वह देखता है कि इन मधुर सम्बन्धों का उच्छेद करना होगा, तब हताश हो जाता है। वह पहले से जो कुछ धर्म-कर्म मानकर करता था, उतने में ही सन्तोष करने लगता है। अपने मोह की पुष्टि के लिये वह प्रचलित रूढ़ियों का प्रमाण भी प्रस्तुत करता है - जैसा अर्जुन ने किया कि कुलधर्म सनातन है। युद्ध से सनातन धर्म का लोप होगा, कुलक्षय होगा, स्वैराचार फैलेगा। यह अर्जुन का उत्तर नहीं था, बल्कि सद्गुरु के सान्निध्य से पूर्व अपनायी गई एक कुरीति मात्र थी।

इन्हीं कुरीतियों में फँसकर मनुष्य पृथक्-पृथक् धर्म, अनेक संप्रदाय, छोटे-बड़े गुट और असंख्य जातियों की रचना कर लेता है। कोई नाक दबाता है, कोई कान फाड़ता है, किसी के छूने से धर्म नष्ट होता है, तो कहीं रोटी-पानी से धर्म नष्ट होता है। तो क्या अछूत या छूनेवालों का दोष है? कदापि नहीं। दोष हमारे भ्रमदाताओं का है। धर्म के नाम पर हम कुरीति के शिकार हैं इसलिये दोष हमारा है।

महात्मा बुद्ध के समय में केश-कम्बल एक सम्प्रदाय था, जिसमें केश को बढ़ाकर कम्बल की तरह प्रयोग करने को पूर्णता का मानदण्ड माना जाता था। कोई गोव्रतिक (गाय की भाँति रहनेवाला) था, तो कोई कुक्कुरव्रतिक (कुत्ते की तरह खाने-पीने, रहनेवाला) था। ब्रह्मविद्या का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्प्रदाय और कुरीतियाँ पहले भी थीं, आज भी हैं। ठीक इसी प्रकार कृष्ण-काल में भी सम्प्रदाय थे, कुरीतियाँ थीं। उनमें से एकाध कुरीति का शिकार अर्जुन भी था। उसने चार तर्क प्रस्तुत किये - १. ऐसे युद्ध से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा, २. वर्णसंकर पैदा होगा, ३. पिंडोदक क्रिया लोप होगी, और ४. हम लोग कुलक्षय द्वारा महान पाप करने को उद्यत हुए हैं। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा-

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

करुणा से व्याप्त, अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रोंवाले उस अर्जुन के प्रति 'मधुसूदन' - मद का विनाश करनेवाले भगवान ने यह वचन कहा -

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

अर्जुन! इस विषम स्थल में तुझे यह अज्ञान कहाँ से हो गया? विषम स्थल अर्थात् जिसकी समता का सृष्टि में कोई स्थल है ही नहीं, पारलौकिक है लक्ष्य जिसका, ऐसे निर्विवाद स्थल पर तुझे अज्ञान कहाँ से हुआ? अज्ञान क्यों? अर्जुन तो सनातन धर्म की रक्षा के लिये कटिबद्ध है। क्या सनातन धर्म की रक्षा के लिये प्राण-पण से तत्पर होना अज्ञान है? श्रीकृष्ण कहते हैं - हाँ, यह अज्ञान है। न तो सम्भावित पुरुषों द्वारा इसका आचरण किया गया है, न स्वर्ग ही देनेवाला है और न यह कीर्ति को ही करनेवाला है। सन्मार्ग पर जो दृढ़तापूर्वक आरूढ़ है, उसे आर्य कहते हैं। परिवार के लिये मरना-मिटना यदि अज्ञान न होता, तो महापुरुष उस पर अवश्य चले होते। यदि कुलधर्म ही सत्य होता, तो स्वर्ग और

कल्याण की निःश्रेणी अवश्य बनता। यह कीर्तिदायक भी नहीं है। मीरा भजन करने लगी तो 'लोग कहें मीरा भई बावरी, सास कहे कुलनाशी रे।' जिस परिवार, कुल और मर्यादा के लिये मीरा की सास बिलख रही थी, आज उस कुलवन्ती सास को कोई नहीं जानता; मीरा को विश्व जानता है। ठीक इसी प्रकार परिवार के लिये जो परेशान हैं, उनकी भी कीर्ति कब तक रहेगी? जिसमें कीर्ति नहीं, कल्याण नहीं, श्रेष्ठ पुरुषों ने भूलकर भी जिसका आचरण नहीं किया, तो सिद्ध है कि वह अज्ञान है। अतः-

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।३।।

अर्जुन! नपुंसकता को मत प्राप्त हो। क्या अर्जुन नपुंसक था? क्या आप पुरुष हैं? नपुंसक वह है, जो पौरुष से हीन हो। सब अपनी समझ से पुरुषार्थ ही तो करते हैं। किसान रात-दिन खून-पसीना एक करके खेत में पुरुषार्थ ही तो करता है। कोई व्यापार में पुरुषार्थ समझता है, तो कोई पद का दुरुपयोग करके पुरुषार्थी बनता है। जीवन भर पुरुषार्थ करने पर भी खाली हाथ जाना पड़ता है। स्पष्ट है कि यह पुरुषार्थ नहीं है। शुद्ध पुरुषार्थ है - 'आत्म-दर्शन'। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से कहा-

"नपुंसक पुमान् ज्ञेयो यो न वेत्ति हृदि स्थितम्।
पुरुषं स्वप्रकाशं तस्मानन्दात्मानमव्ययम्।।"

वह पुरुष होते हुए भी नपुंसक है, जो हृदयस्थ आत्मा को नहीं पहचानता। वह आत्मा ही पुरुषस्वरूप, स्वयं प्रकाश, उत्तम, आनन्दयुक्त और अव्यक्त है। उसे पाने का प्रयास ही पौरुष है। अर्जुन! तू नपुंसकता को न प्राप्त हो। यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिए खड़ा हो। आसक्ति का त्याग करो। यह हृदय की दुर्बलता मात्र है। इस पर अर्जुन ने तीसरा प्रश्न प्रस्तुत किया-

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अहंकार का शमन करनेवाले मधुसूदन! मैं रणभूमि में पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण से किस प्रकार वाणों से युद्ध करूँगा; क्योंकि अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं।

द्वैत ही द्रोण है। प्रभु अलग हैं, हम अलग हैं - द्वैत का यह भान ही प्राप्ति की प्रेरणा का आरंभिक स्रोत है। यही द्रोणाचार्य का गुरुत्व है। भ्रम ही भीष्म है। जब तक भ्रम है तभी तक बच्चे, परिवार, रिश्तेदार सभी अपने लगते हैं। अपना लगने में भ्रम ही माध्यम है। आत्मा इन्हीं को पूज्य मानकर इनके साथ रहता है कि ये पिता हैं, दादा हैं, कुलगुरु हैं इत्यादि। साधन के पूर्तिकाल में `गुरु न चेला, पुरुष अकेला।'

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः।
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।।

जब चित्त उस परम आनन्द में विलीन हो जाता है, तब न गुरु ज्ञानदाता और न शिष्य ग्रहणकर्त्ता ही रह जाता है। यही परम की स्थिति है। गुरु का गुरुत्व प्राप्त कर लेने पर गुरुत्व एक-जैसा हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, `अर्जुन तू मुझमें निवास करेगा।' जैसे श्रीकृष्ण वैसा ही अर्जुन और ठीक वैसा ही प्राप्तिवाला महापुरुष हो जाता है। ऐसी अवस्था में गुरु का भी विलय हो जाता है, गुरुत्व हृदय में प्रवाहित हो जाता है। अर्जुन गुरु-पद की ढाल बनाकर इस संघर्ष में प्रवृत्त होने से कतराना चाहता है। वह कहता है-

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न भी श्रेयस्कर समझता हूँ। यहाँ भिक्षा का अर्थ उदर-पोषण के लिये भीख माँगना नहीं बल्कि सत्पुरुषों की टूटी-फूटी सेवा द्वारा उनसे कल्याण की याचना ही भिक्षा है। `अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्तिरीय. ३/२/१) अन्न एकमात्र परमात्मा है, जिसे

प्राप्त करके आत्मा सदा के लिये तृप्त हो जाता है। कभी अतृप्त नहीं रहता। हम महापुरुषों की सेवा और याचना द्वारा शनैः-शनैः ब्रह्म-पीयूष प्राप्त करें, किन्तु यह परिवार न छूटे, यही अर्जुन के भिक्षान्न की कामना है। संसार में अधिकांश लोग ऐसा ही करते हैं। वे चाहते हैं कि पारिवारिक स्नेह-सम्बन्ध न मारना पड़े और मुक्ति भी शनैः-शनैः मिल जाय। किन्तु चलनेवाले पथिक के लिये, जिसके संस्कार इनसे ऊपर हैं, जिसमें संघर्ष की क्षमता है, स्वभाव में क्षत्रियत्व प्रवाहित है, उसके लिये इस भिक्षान्न का विधान नहीं है। स्वयं न करके याचना करना भिक्षान्न है। गौतम बुद्ध ने भी मज्झिम निकाय के धम्मदायाद-सुत्त (१/१/३) में इस भिक्षान्न को आमिष-दायाद कहकर हेय माना है, जब कि शरीरयापन से सभी भिक्षु थे।

इन गुरुजनों को मारकर मिलेगा क्या? इस लोक में रुधिर से सने अर्थ और काम के भोग ही तो भोगने को मिलेंगे! अर्जुन कदाचित् सोचता था कि भजन से भौतिक सुखों की मात्रा में अभिवृद्धि होगी। इतना संघर्ष झेलने के बाद भी इस शरीर के पोषक अर्थ और काम के भोग ही तो मिलेंगे। वह पुनः तर्क देता है-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

यह भी निश्चित नहीं है कि वह भोग मिलेगा ही। यह भी हम नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना श्रेयस्कर है; क्योंकि जो कुछ हमने कहा, वह अज्ञान प्रमाणित हो गया। यह भी ज्ञात नहीं है कि हम जीतेंगे अथवा वे ही जीतेंगे। जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं। अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र से उत्पन्न मोह इत्यादि स्वजन समुदाय मिट ही जायेंगे, तब हम जीकर ही क्या करेंगे? अर्जुन पुनः सोचता है कि जो कुछ हमने कहा, कदाचित् यह भी अज्ञान हो, अतः प्रार्थना करता है-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

कायरता के दोष से नष्ट स्वभाववाला, धर्म के विषय में सर्वथा मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ। जो कुछ निश्चित परम कल्याणकारी हो, वह साधन मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में हूँ, मुझे साधिये; केवल शिक्षा न दीजिये, बल्कि जहाँ लड़खड़ाऊँ वहाँ संभालिये। लाद दे लदाय दे और लदानेवाला साथ चले - कदाचित् गट्ठर गिर पड़ा, तब कौन लदवायेगा।" - ऐसा ही समर्पण अर्जुन का है।

यहाँ अर्जुन ने पूर्ण समर्पण कर दिया। अभी तक वह श्रीकृष्ण को अपने स्तर का ही समझता था, अनेक विद्याओं में अपने को कुछ आगे ही मानता था। यहाँ उसने अपनी बागडोर श्रीकृष्ण को वस्तुतः सौंप दी। सद्गुरु पूर्तिपर्यन्त हृदय में रहकर साधक के साथ चलते हैं। यदि वे साथ न रहें, तो साधक पार न हो। युवा कन्या के परिवारवाले जिस प्रकार शादी विवाह तक उसको संयम की शिक्षा देते हुए सँभाल ले जाते हैं, ठीक उसी प्रकार सद्गुरु अपने शिष्य की अन्तरात्मा से रथी होकर उसे प्रकृति की घाटियों से निकालकर पार कर देते हैं। अर्जुन निवेदन करता है कि भगवन्! एक बात और है-

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

भूमि पर निष्कण्टक धन-धान्यसम्पन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपन इन्द्र-पद को पाकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता, जो मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके। जब शोक बना ही है, तो यह सब लेकर ही मैं क्या करूँगा? यदि इतना ही मिलना है, तो क्षमा करें। अर्जुन ने सोचा, अब इसके आगे बतावेंगे भी क्या?

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

संजय बोला - हे राजन्! मोहनिशाजयी अर्जुन ने हृदय के सर्वज्ञ श्रीकृष्ण से यह कहकर कि `गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गया। अभी तक अर्जुन की दृष्टि पौराणिक है, जिसमें कर्मकाण्डों के साथ भोगों की उपलब्धि का विधान है, जिसमें स्वर्ग ही सवकुछ माना जाता है - जिस पर श्रीकृष्ण प्रकाश डालेंगे कि यह विचारधारा भी गलत है।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

उसके उपरान्त हे राजन्! अन्तर्यामी योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकयुक्त अर्जुन को हँसते हुए से यह वचन कहा--

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

अर्जुन! तू न शोक करने योग्यों के लिये शोक करता है और पण्डितों के-से वचन कहता है; किन्तु वुद्धिसम्पन्न पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये तथा जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी शोक नहीं करते; क्योंकि वे भी मर जायेंगे। तू पण्डितों-जैसी बातें भर करता है, वस्तुतः ज्ञाता है नहीं; क्योंकि-

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

न तो ऐसा ही है कि मैं अर्थात् सद्गुरु किसी काल में नहीं था अथवा तू अनुरागी अधिकारी अथवा `जनाधिपाः' - राजा लोग अर्थात् राजसी वृत्ति में पाया जानेवाला अहं नहीं था और न ऐसा ही है कि आगे हम सब नहीं रहेंगे। सद्गुरु सदैव रहता है, अनुरागी सदैव रहते हैं। यहाँ योगेश्वर ने योग की

अनादिता पर प्रकाश डालते हुए भविष्य में भी उसकी विद्यमानता पर बल दिया। मरनेवालों के लिये शोक न करने के लिये कारण बताते हुए उन्होंने कहा-

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

जैसे जीवात्मा की इस देह में कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य-अन्य शरीर की प्राप्ति में धीर पुरुष मोहित नहीं होता है। कभी आप बालक थे, शनैः-शनैः युवा हुए, तब आप मर तो नहीं गये? पुनः वृद्ध हुए। पुरुष एक ही है; उसी प्रकार लेशमात्र भी दरार नये देह की प्राप्ति पर नहीं पड़ती। कलेवर का यह परिवर्तन तब तक चलेगा, जब तक परिवर्तन से परे की वस्तु नहीं मिल जाती।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

हे कुन्तीपुत्र! सुख-दुःख, सर्दी और गर्मी को देनेवाले इन्द्रियों और विषयों के संयोग तो अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं। अतः भरतवंशी अर्जुन! तू इसका त्याग कर। अर्जुन इन्द्रिय और विषय के संयोगजन्य सुख का स्मरण करके ही विकल था। कुलधर्म, कुलगुरुओं की पूज्यता इत्यादि इन्द्रियों के लगाव के अन्तर्गत हैं। ये क्षणिक हैं, झूठे हैं, नाशवान् हैं। विषयों का संयोग न सदैव मिलेगा और न सदैव इन्द्रियों में क्षमता ही रहेगी। अतः अर्जुन! तू इनका त्याग कर, सहन कर। क्यों? क्या हिमालय की लड़ाई थी, जो अर्जुन सर्दी सहन करता? अथवा क्या यह रेगिस्तान की लड़ाई है, जहाँ अर्जुन गर्मी सहन करे? 'कुरुक्षेत्र' जैसा कि लोग बाहर बताते हैं, समशीतोष्ण स्थली है। कुल अठारह दिन तो लड़ाई हुई, इतने में कहाँ जाड़ा-गर्मी बीत गया? वस्तुतः सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख, मान-अपमान को सहन करना एक योगी पर निर्भर करता है। यह हृदय-देश की लड़ाई का चित्रण है, यह बाहर युद्ध के लिये गीता नहीं कहती। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संघर्ष है जिसमें आसुरी सम्पद् का सर्वथा शमन कर परमात्मा में स्थिति दिलाकर दैवी सम्पद् भी शान्त हो जाती है। जब विकार हैं ही नहीं, तो सजातीय प्रवृत्तियाँ किस पर आक्रमण करें। अतः पूर्णत्व के साथ वे भी शान्त हो जाती हैं, इससे पहले नहीं।

गीता अन्तर्देश की लड़ाई का चित्रण है। इस त्याग से मिलेगा क्या? इससे लाभ क्या है? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुख को समान समझनेवाले जिस धीर पुरुष को इन्द्रियों और विषयों के संयोग व्यथित नहीं कर पाते, वह मृत्यु से परे अमृत-तत्त्व की प्राप्ति के योग्य हो जाता है। यहाँ श्रीकृष्ण ने एक उपलब्धि `अमृत' की चर्चा की। अर्जुन सोचता था कि युद्ध के परिणाम में स्वर्ग मिलेगा या पृथ्वी; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि न स्वर्ग मिलेगा और न पृथ्वी, बल्कि अमृत मिलेगा। अमृत क्या है?

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है, वह है ही नहीं, उसे रोका नहीं जा सकता और सत्य का तीनों काल में अभाव नहीं है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। अर्जुन ने पूछा - क्या भगवान होने के नाते आप कहते हैं? श्रीकृष्ण ने बताया - मैं तो कहता ही हूँ, इन दोनों का यह अन्तर हमारे साथ-साथ तत्त्वदर्शियों द्वारा भी देखा गया है। श्रीकृष्ण ने वही सत्य दोहराया जो तत्त्वदर्शियों ने कभी देख लिया था। श्रीकृष्ण भी एक तत्त्वदर्शी महापुरुष थे। परमतत्त्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करके उसमें स्थितिवाले तत्त्वदर्शी कहलाते हैं। सत् और असत् हैं क्या? इस पर कहते हैं-

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

नाशरहित तो वह है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस `अव्ययस्य' - अविनाशी का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है; किन्तु इस `अविनाशी', `अमृत' का नाम क्या है? वह है कौन?

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अविनाशी, अप्रमेय, नित्यस्वरूप आत्मा के ये सभी शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिये भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर। आत्मा ही अमृत है। आत्मा ही अविनाशी है, जिसका तीनों काल में नाश नहीं होता। आत्मा ही सत् है। शरीर नाशवान् है यही असत् है, जिसका तीनों काल में अस्तित्व नहीं है।

'शरीर नाशवान् है, इसलिये तू युद्ध कर' - इस आदेश से यह स्पष्ट नहीं होता कि अर्जुन केवल कौरवों को मारे। पाण्डव-पक्ष में भी तो शरीर ही खड़े थे, क्या पाण्डव के शरीर अविनाशी थे? यदि शरीर नाशवान् है, तो श्रीकृष्ण किसकी रक्षा में खड़े थे? क्या अर्जुन कोई शरीरधारी था? शरीर जो असत् है, जिसका अस्तित्व नहीं है, जिसे रोका नहीं जा सकता, क्या श्रीकृष्ण उस शरीर की रक्षा में खड़े हैं? यदि ऐसा है, तो वे भी अविवेकी और मूढ़ हैं; क्योंकि आगे श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि जो केवल शरीर के लिये ही पचता है, श्रम करता है (३/१३) वह अविवेकी और मूढ़बुद्धि है। वह पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है। अन्ततः अर्जुन कौन था?

वस्तुतः अनुराग ही अर्जुन है। अनुरागी के लिये इष्ट सदैव रथी बनकर साथ में रहते हैं। सखा की भाँति उसका मार्ग-दर्शन करते हैं। आप शरीर नहीं हैं। शरीर तो आवरण है, रहने का मकान है। उसमें रहनेवाला अनुरागपूरित आत्मा है। भौतिक युद्ध मारने-काटने से शरीरों का अन्त नहीं होता। यह शरीर छूटेगा, तो आत्मा दूसरा शरीर धारण कर लेगा। इसी सन्दर्भ में श्रीकृष्ण कह चुके हैं कि जिस प्रकार बाल्यकाल से युवा या वृद्धावस्था आती है, उसी प्रकार देहान्तर की प्राप्ति होती है। शरीर काटेंगे तो जीवात्मा नया वस्त्र बदल लेगा।

शरीर संस्कारों के आश्रित है और संस्कार मन पर आधारित है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' मन का सर्वथा निरोध होना, अचल-स्थिर ठहरना और अन्तिम संस्कार का विलय एक ही क्रिया है। संस्कारों की सतह का टूट जाना ही शरीरों का अन्त है। इसे तोड़ने के लिये आपको आराधना करनी होगी, जिसे श्रीकृष्ण ने कर्म या निष्काम कर्मयोग की संज्ञा दी है।

श्रीकृष्ण ने स्थान-स्थान पर अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा दी, किन्तु एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो भौतिक युद्ध या मार-काट का समर्थन करता हो। यह युद्ध सजातीय-विजातीय प्रवृत्तियों का है, अन्तर्देश में है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

जो इस आत्मा को मारनेवाला मानता है तथा जो इस आत्मा को मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही आत्मा को नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा न तो मारता है और न मारा ही जाता है। पुनः इसी पर बल देते हैं-

न जायते म्रियते वा कदाचित्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

यह आत्मा किसी काल में न तो जन्मता है और न मरता है; क्योंकि यह वस्त्र ही तो बदलता है। न यह आत्मा होकर अन्य कुछ होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। आत्मा ही सत्य है, आत्मा ही पुरातन है, आत्मा ही शाश्वत और सनातन है। आप कौन हैं? सनातन धर्म के अनुयायी। सनातन कौन है? आत्मा! आप आत्मा के अनुयायी हैं! आत्मा, परमात्मा और ब्रह्म एक दूसरे के पर्याय हैं। आप कौन हैं? शाश्वत धर्म के उपासक! शाश्वत कौन है? आत्मा! अर्थात् हम आप आत्मा के उपासक हैं। यदि आप आत्मिक पथ को नहीं जानते तो आपके पास शाश्वत-सनातन नाम की कोई वस्तु नहीं है। उसके लिये आप आहें भरते हैं तो प्रत्याशी अवश्य हैं; किन्तु सनातनधर्मी नहीं हैं। सनातन धर्म के नाम पर किसी कुरीति के शिकार हैं।

देश-विदेश में, मानवमात्र में आत्मा एक ही-जैसा है। इसलिये विश्व में कहीं भी कोई आत्मा की स्थिति दिलानेवाली क्रिया-जानता है और उस पर चलने के लिये प्रयत्नशील है, तो वह सनातनधर्मी है; चाहे वह अपने को ईसाई, मुसलमान, यहूदी या कुछ भी क्यों न कह ले।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

पार्थिव शरीर को रथ बनाकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य पर अचूक निशाना लगानेवाला पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यक्त जानता है, वह पुरुष कैसे किसी को मरवाता है और कैसे किसी को मारता है? अविनाशी का विनाश असम्भव है। अजन्मा जन्म नहीं लेता। अतः शरीर के लिये शोक नहीं करना चाहिए। इसी को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

जैसे मनुष्य `जीर्णानि वासांसि' - जीर्ण-शीर्ण पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है। जीर्ण होंने पर ही नया शरीर धारण करना है तो शिशु क्यों मर जाते हैं? यह वस्त्र तो और विकसित होना चाहिये। वस्तुतः यह शरीर संस्कारों पर आधारित है। जब संस्कार जीर्ण होते हैं तो शरीर छूट जाता है। यदि संस्कार दो दिन का है तो दूसरे दिन ही शरीर जीर्ण हो गया। इसके बाद मनुष्य एक श्वास भी अधिक नहीं जीता। संस्कार ही शरीर है। आत्मा संस्कारों के अनुसार नया शरीर धारण कर लेता है - `अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा इहैव, तथैव प्रेत्य भवति। कृतं लोकं पुरुषोऽभिजायते।' (छान्दोग्योपनिषद्, ३/१४) अर्थात् यह पुरुष निश्चय ही संकल्पमय है। इस लोक में पुरुष जैसा निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँ से मरकर जाने पर होता है। अपने संकल्प से बनाये हुए शरीरों में पुरुष उत्पन्न होता है। इस प्रकार मृत्यु शरीर का परिवर्तन मात्र है, आत्मा नहीं मरता। पुनः इसकी अजरता-अमरता पर बल देते हैं -

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

अर्जुन! इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काटते। अग्नि इसे जला नहीं सकती। जल इसे गीला नहीं कर सकता और न वायु इसे सुखा ही सकता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

यह आत्मा अच्छेद्य है - इसे छेदा नहीं जा सकता। यह अदाह्य है - इसे जलाया नहीं जा सकता। यह अक्लेद्य है - इसे गीला नहीं किया जा सकता। आकाश इसे अपने में समाहित नहीं कर सकता। यह आत्मा निःसन्देह अशोष्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है।

अर्जुन ने कहा था कि कुल-धर्म सनातन है। ऐसा युद्ध करने से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। किन्तु श्रीकृष्ण ने इसे अज्ञान माना और आत्मा को ही सनातन बताया। आप कौन हैं? सनातन धर्म के अनुयायी। सनातन कौन है? आत्मा। यदि आप आत्मापर्यन्त दूरी तय करनेवाली विधि-विशेष से अवगत नहीं हैं, तो आप सनातन धर्म नहीं जानते। इसका कुपरिणाम साम्प्रदायिकता में फँसे धर्मभीरु लोगों को भोगना पड़ रहा है। मध्यकालीन भारत में बाहर से आनेवाले मुसलमान मात्र बारह हजार थे। आज अट्ठाइस करोड़ हैं। बारह हजार से बढ़कर लाखों हो जाते, अधिक से अधिक करोड़ के लगभग हो जाते और कितने हो जाते? यह अट्ठाइस करोड़ से भी आगे बढ़ रहे हैं। सब हिन्दू ही तो हैं, आपके सगे भाई हैं, जो छूने और खाने से नष्ट हो गये। वे नष्ट नहीं हुए बल्कि उनका सनातन, अपरिवर्तनशील धर्म नष्ट हो गया।

जब मैटर (matter) क्षेत्र में पैदा होनेवाली कोई वस्तु इस सनातन का स्पर्श नहीं कर सकती, तो छूने-खाने से सनातन धर्म नष्ट कैसे हो सकता है? यह धर्म नहीं, एक कुरीति-परिस्थिति थी, जिससे भारत में साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ा, देश का विभाजन हुआ और राष्ट्रीय एकता की आज भी समस्या बनी हुई है।

इन कुरीतियों के कथानक इतिहास में भरे पड़े हैं। हमीरपुर जिले में पचास-साठ परिवार कुलीन क्षत्रिय थे। आज वे सब मुसलमान हैं। न उनपर तोप का हमला हुआ, न तलवार का। हुआ क्या? अर्द्धरात्रि में दो-एक मौलवी उस गाँव के एकमात्र कुएँ के समीप छिप गये कि कर्मकाण्डी ब्राह्मण सबसे पहले

यहाँ स्नान करने आयेगा। जहाँ वे आये तो उन्हें पकड़ लिया, उनका मुँह बन्द कर दिया। उनके सामने उन्होंने कुएँ से पानी निकाला, मुँह लगाकर पिया और बचा हुआ पानी कुएँ में डाल दिया, रोटी का एक टुकड़ा भी डाल दिया। पण्डितजी देखते ही रह गये, विवश थे। तत्पश्चात् पण्डितजी को भी साथ लेकर वे चले गए। अपने घर में उन्हें बन्द कर दिया।

दूसरे दिन उन्होंने हाथ जोड़कर पण्डितजी से भोजन के लिये निवेदन किया तो वे बिगड़ पड़े - "अरे, तुम यवन हो मैं ब्राह्मण, भला कैसे खा सकता हूँ?" उन्होंने कहा - "महाराज! हमें आप-जैसे विचारवान् लोगों की बड़ी आवश्यकता है। क्षमा करें।" पण्डितजी को छोड़ दिया गया।

पण्डितजी अपने गाँव आये। देखा, लोग कुएँ का प्रयोग पूर्ववत् कर रहे थे। वे अनशन करने लगे। लोगों ने कारण पूछा, तो बोले - यवन इस कुएँ की जगत पर चढ़ गये थे। मेरे सामने उन्होंने इस कुएँ को जूठा किया और इसमें रोटी का टुकड़ा भी डाल दिया। गाँव के लोग स्तब्ध रह गये, पूछा - "अब क्या होगा?" पण्डितजी ने बताया-"अब क्या? धर्म तो नष्ट हो गया।"

उस समय लोग शिक्षित नहीं थे। स्त्रियों और शूद्रों से पढ़ने का अधिकार न जाने कब से छीन लिया गया था। वैश्य धनोपार्जन ही अपना धर्म मान बैठे थे। क्षत्रिय चारणों के प्रशस्ति-गायन में खोये थे कि अन्नदाता की तलवार चमकी तो बिजली कौंधने लगी, दिल्ली का तख्त डगमगाने लगा। सम्मान वैसे ही प्राप्त है, तो पढ़े क्यों? धर्म से उन्हें क्या लेना-देना? धर्म केवल ब्राह्मणों की वस्तु बनकर रह गया था। वे ही धर्मसूत्रों के रचयिता, वे ही उसके व्याख्याकार और वही उसके झूठ-सच के निर्णायक थे। जबकि प्राचीनकाल में स्त्रियों, शूद्रों, वैश्यों, क्षत्रियों और ब्राह्मणों को सबको वेद पढ़ने का अधिकार था। प्रत्येक वर्ग के ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों की रचना की है, शास्त्रार्थनिर्णय में भाग लिया है। प्राचीन राजाओं ने धर्म के नाम पर आडम्बर फैलानेवालों को दण्ड दिया, धर्म परायणों का समादर किया था।

किन्तु मध्यकालीन भारत में सनातन धर्म की यथार्थ जानकारी न रखने से उपर्युक्त गाँव के निवासी भेंड़ की तरह एक कोने में खड़े होते गये कि धर्म नष्ट

हो गया। कई लोगों ने इस अप्रिय शब्द को सुनकर आत्महत्या कर ली; किन्तु सब कहाँ तक प्राणान्त करते। अटूट श्रद्धा के पश्चात् भी विवश होकर अन्य हल खोजना पड़ा। आज भी वे बाँस गाड़कर, मूसल रखकर हिन्दुओं की तरह विवाह करते हैं; बाद में एक मौलवी निकाह पढ़ाकर चला जाता है। सब-के-सब शुद्ध हिन्दू हैं, सब-के-सव मुसलमान बन गये।

हुआ क्या था? पानी पिया था, अनजाने में मुसलमानों का छुआ खा लिया था इसलिये धर्म नष्ट हो गया। धर्म तो हो गया छुई-मुई। यह (लाजवन्ती) एक पौधा होता है। आप छू दें, तो उसकी पत्तियाँ संकुचित हो जाती हैं और हाथ हटाते ही पुनः विकसित हो जाती हैं। यह पौधा हाथ हटाने पर विकसित हो जाता हैं; किन्तु धर्म तो ऐसा मुरझाया कि कभी विकसित नहीं होगा। वे मर गये, सदा के लिये उनके राम-कृष्ण और परमात्मा मर गये। जो शाश्वत थे, वे मर गये। वास्तव में वह शाश्वत के नाम पर कोई कुरीति थी, जिसे लोग धर्म मान बैठे थे।

धर्म की शरण हम क्यों जाते हैं; क्योंकि हम मरणधर्मा (मरने-जीनेवाले) हैं और धर्म कोई ठोस चीज है, जिसकी शरण जाकर हम भी अमर हो जायँ। हम तो मारने से मरेंगे और यह धर्म केवल छूने और खाने से मर जायेगा, तो हमारी क्या रक्षा करेगा? धर्म तो आपकी रक्षा करता है, आपसे शक्तिशाली है। आप तलवार से मरेंगे और धर्म? वह छूने से नष्ट हो गया। कैसा है आपका धर्म? कुरीतियाँ नष्ट होती हैं, न कि सनातन।

सनातन तो ऐसी ठोस वस्तु है जिसे शस्त्र नहीं काटते, अग्नि जला नहीं सकती, जल इसे गीला नहीं कर सकता। खान-पान तो दूर, प्रकृति में उत्पन्न कोई वस्तु उसका स्पर्श भी नहीं कर पाती, तो वह सनातन नष्ट कैसे हो गया?

ऐसी ही कतिपय कुरीतियाँ अर्जुन-काल में भी थीं। उनका शिकार अर्जुन भी था। उसने विलाप करते हुए गिड़गिड़ाकर कहा कि कुल-धर्म सनातन है। युद्ध से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। कुल-धर्म नष्ट होने से हम अनन्तकाल तक नरक में चले जायेंगे। किन्तु श्रीकृष्ण ने कहा-"तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया?" सिद्ध है कि वह कोई कुरीति थी, तभी तो श्रीकृष्ण ने उसका निराकरण किया और बताया कि आत्मा ही सनातन है। यदि आप आत्मिक पथ नहीं जानते, तो सनातन धर्म में आपका अभी तक प्रवेश नहीं हुआ है।

जब यह सनातन-शाश्वत आत्मा सबके अन्दर व्याप्त है, तो खोजा किसे जाय? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा इसे समझा नहीं जा सकता। जब तक इन्द्रियों और विषयों का संयोग है, तब तक आत्मा तो है; किन्तु उसे समझा नहीं जा सकता। वह अचिन्त्य है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है, तब तक वह शाश्वत है तो; किन्तु हमारे दर्शन, उपभोग और प्रवेश के लिये नहीं है। अतः चित्त का निरोध करें।

पीछे श्रीकृष्ण बता आये हैं कि असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का तीनों काल में अभाव नहीं है। वह सत् है आत्मा। आत्मा ही अपरिवर्तनशील, शाश्वत, सनातन और अव्यक्त है। तत्त्वदर्शियों ने आत्मा को इन विशेष गुणधर्मों से युक्त देखा। न दस भाषाओं के ज्ञाता ने देखा, न किसी समृद्धशाली ने देखा; बल्कि तत्त्वदर्शियों ने देखा। श्रीकृष्ण ने आगे बताया कि तत्त्व है परमात्मा। मन के निरोधकाल में साधक उसका दर्शन और उसमें प्रवेश पाता है। प्राप्तिकाल में भगवान मिलते हैं और दूसरे ही क्षण वह अपनी आत्मा को ईश्वरीय गुणधर्मों से विभूषित देखता है। वह देखता है कि आत्मा ही सत्य, सनातन और परिपूर्ण है। यह आत्मा अचिन्त्य है। यह विकाररहित अर्थात् न बदलनेवाला कहा जाता है। अतः अर्जुन! आत्मा को ऐसा जानकर तू शोक करने योग्य नहीं है। अब श्रीकृष्ण अर्जुन के विचारों में विरोधाभास दिखाते हैं, जो सामान्य तर्क है-

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

यदि तू इसे सदैव जन्मनेवाला और सदा मरनेवाला माने तब भी तुझे शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

ऐसा मान लेने पर भी जन्मनेवाले की निश्चित मृत्यु और मरने वाले का निश्चित जन्म सिद्ध होता है। इसलिये भी तू बिना उपाय वाले इस विषय में शोक करने लायक नहीं है। जिसका कोई इलाज नहीं, उसके लिये शोक करना एक अन्य दुःख को आमन्त्रित करना है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले बिना शरीरवाले और मरने के बाद भी बिना शरीरवाले हैं। जन्म के पूर्व और पश्चात् भी दिखायी नहीं पड़ते। केवल जन्म-मृत्यु के बीच में ही शरीर धारण किये हुए दिखायी देते हैं। अतः इस परिवर्तन के लिये व्यर्थ की चिन्ता क्यों करते हो? इस आत्मा को देखता कौन है? इस पर कहते हैं-

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

पहले श्रीकृष्ण ने कहा था कि इस आत्मा को तत्त्वदर्शियों ने देखा है; अब तत्त्वदर्शन की दुर्लभता पर प्रकाश डालते हैं कि कोई विरला महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है। सुनता नहीं, प्रत्यक्ष देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही आश्चर्य की तरह इसके तत्त्व को कहता है। जिसने देखा है, वही यथार्थ कह सकता है। दूसरा कोई विरला साधक इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है - सब सुनते भी नहीं, क्योंकि यह अधिकारी के लिए ही है। हे अर्जुन! कोई-कोई तो सुनकर भी इस आत्मा को नहीं जान पाते; क्योंकि साधन पार नहीं लगता। आप लाख ज्ञान की बातें सुनें, समझें - बाल की खाल निकालकर समझें, लालायित भी रहें; किन्तु मोह बड़ा प्रबल है, थोड़ी देर बाद ही आप अपनी सांसारिक व्यवस्थाओं में लिप्त मिलेंगे।

अन्त में श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीर में सदैव अवध्य है, अकाट्य है। इसलिए सम्पूर्ण भूत प्राणियों के लिये तू शोक करने योग्य नहीं है।

`आत्मा ही सनातन है' - इस तथ्य का प्रतिपादन करके, इसका प्रभुता सहित वर्णन करके यह प्रश्न यहीं पूरा हो जाता है। अब प्रश्न खड़ा होता है कि इसकी प्राप्ति कैसे हो? सम्पूर्ण गीता, में इसके लिये दो ही मार्ग हैं - पहला मार्ग निष्काम कर्मयोग और दूसरा ज्ञानयोग। दोनों मार्गों में किया जानेवाला कर्म एक ही है। उस कर्म की अनिवार्यता पर बल देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ज्ञानयोग के विषय में कहते हैं-

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

अर्जुन! स्वधर्म देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है; क्योंकि धर्मसंयुक्त युद्ध से बढ़कर अन्य कोई परम कल्याणकारी मार्ग क्षत्रिय के लिए नहीं है। अभी तक तो `आत्मा शाश्वत है', `आत्मा सनातन है', `वही एकमात्र धर्म है' कहा गया है। अब यह स्वधर्म कैसा? धर्म तो एकमात्र आत्मा ही है। वह तो अचल स्थिर है, तो धर्माचरण क्या? वस्तुतः इस आत्म-पथ में प्रवृत्त होने की क्षमता हर व्यक्ति की अलग-अलग होती है। स्वभाव से उत्पन्न इस क्षमता को स्वधर्म कहा गया है।

इसी एक सनातन आत्मिक पथ पर चलनेवाले साधकों को महापुरुष ने स्वभाव से उनकी क्षमता के अनुसार चार श्रेणियों में बाँटा - शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण। साधना की प्रारंभिक अवस्था में प्रत्येक साधक शूद्र अर्थात् अल्पज्ञ होता है। घण्टों भजन में बैठने पर वह दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाता। वह प्रकृति के माया-जाल को काट नहीं पाता। इस अवस्था में महापुरुष की सेवा से उसके स्वभाव में सद्गुण आते हैं। वह वैश्य श्रेणी का साधक बन जाता है। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसका वह शनैः-शनैः संग्रह और गोपालन अर्थात् इन्द्रियों की सुरक्षा करने में सक्षम हो जाता है। काम-क्रोध

इत्यादि से इन्द्रियों की हिंसा होती है तथा विवेक-वैराग्य से इनकी सुरक्षा होती है; किन्तु प्रकृति को निर्बीज करने की क्षमता उसमें नहीं होती। क्रमशः उन्नति करते-करते साधक के अन्तःकरण में तीनों गुणों को काटने की क्षमता अर्थात् क्षत्रियत्व आ जाता है। इसी स्तर पर प्रकृति और उसके विकारों को नाश करने की क्षमता आ जाती है, इसलिये युद्ध यहीं से आरम्भ होता है। क्रमशः साधन करके साधक ब्राह्मणत्व की श्रेणी में बदल जाता है। इस समय मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, धारावाही चिन्तन, सरलता, अनुभव, ज्ञान इत्यादि लक्षण साधक में स्वाभाविक प्रवाहित होते हैं। इन्हीं के अनुष्ठान से चलकर क्रमशः वह ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है, जहाँ वह ब्राह्मण भी नहीं रह जाता।

विदेह राजा जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य ने चाक्रायण उषस्ति, कहोल, आरुणि, उद्दालक और गार्गी के प्रश्नों का समाधान करते हुए बताया कि आत्म-साक्षात्कार का पूर्णतया सम्पादन करने वाला ही ब्राह्मण होता है। यह आत्मा ही लोक, परलोक और समस्त प्राणियों को भीतर से नियमित करता है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, तारागण, अन्तरिक्ष, आकाश एवं प्रत्येक क्षण इस आत्मा के ही प्रशासन में हैं। यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। आत्मा अक्षर है, इससे भिन्न सब नाशवान् हैं। जो कोई इसी लोक में इस अक्षर को न जानकर हवन करता है, तप करता है, हजारों वर्षों तक यज्ञ करता है, उसका यह सब कर्म नाशवान् है। जो कोई भी इस अक्षर को जाने बिना इस लोक से मरकर जाता है वह दयनीय है, कृपण है और जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है वह ब्राह्मण है। (बृहदारण्यकोपनिषद ३/४-५-७-८)

अर्जुन क्षत्रिय श्रेणी का साधक है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि क्षत्रिय श्रेणी के साधक के लिए युद्ध के अतिरिक्त कोई कल्याणकारक रास्ता है ही नहीं। प्रश्न उठता है कि क्षत्रिय है क्या? प्रायः लोग इसका आशय समाज में जन्मना उत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातियों से लेते हैं। इन्हें ही चार वर्ण मान लिया जाता है। किन्तु नहीं, शास्त्रकार ने स्वयं बताया है कि क्षत्रिय क्या है, वर्ण क्या है? यहाँ उन्होंने केवल क्षत्रिय का नाम लिया और आगे अठारहवें अध्याय तक इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया कि वस्तुतः ये वर्ण हैं क्या? और कैसे इनमें परिवर्तन होता है?

श्रीकृष्ण ने कहा, `चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' - चार वर्णों की सृष्टि मैंने की। तो क्या मनुष्यों को बाँटा? श्रीकृष्ण कहते हैं कि नहीं, `गुण-कर्म विभागशः' - गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा। यह देखना है कि वह कर्म क्या है, जिसे बाँटा गया? गुण परिवर्तनशील हैं। साधना की उचित प्रक्रिया द्वारा तामसी से राजसी और राजसी से सात्त्विक गुणों में प्रवेश मिलता जाता है। अन्ततः ब्राह्मण स्वभाव बन जाता है। उस समय ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली सारी योग्यताएँ उस साधक में रहती हैं। वर्ण-सम्बन्धी प्रश्न यहाँ से आरंभ होकर अठारहवें अध्याय में जाकर पूर्ण होता है।

श्रीकृष्ण की मान्यता है-`श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' स्वभाव से उत्पन्न इस धर्म में प्रवृत्त होने की क्षमता जिस स्तर की हो, भले ही वह गुणरहित शूद्र श्रेणी की हो, तब भी परम कल्याण करती है; क्योंकि आप क्रमशः वहीं से उत्थान करते हैं। उससे ऊपर वालों की नकल करके साधक नष्ट हो जाता है। अर्जुन क्षत्रिय श्रेणी का साधक था, इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि - अर्जुन! अपने स्वभाव से उत्पन्न इस युद्ध में प्रवृत्त होने की अपनी क्षमता को देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है। इससे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कार्य क्षत्रिय के लिये नहीं है। इसी पर प्रकाश डालते हुए पुनः योगेश्वर कहते हैं-

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

पार्थिव शरीर को ही रथ बनाकर अचूक लक्ष्यवेधी अर्जुन! स्वतः प्राप्त, स्वर्ग के खुले हुए द्वाररूपी इस युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं। क्षत्रिय श्रेणी के साधक में तीनों गुणों को काट देने की क्षमता रहती है। उसके लिए स्वर्ग का द्वार खुला है; क्योंकि उसमें दैवी सम्पद् पूर्णतः अर्जित रहती है, स्वर में विचरने की उसमें क्षमता रहती है। यही खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं; क्योंकि उनमें ही इस संघर्ष की क्षमता है।

दुनिया में लड़ाइयाँ होती हैं। विश्व सिमटकर लड़ता है, प्रत्येक जाति लड़ती

है; किन्तु शाश्वत विजय जीतनेवाले को भी नहीं मिलती। ये तो बदले हैं। जो जिसको जितना दबाता है, कालान्तर में उसे भी उतना ही दबना पड़ता है। यह कैसी विजय है, जिसमें इन्द्रियों को सुखानेवाला शोक बना ही रहता है? अन्त में शरीर भी नष्ट हो जाता है? वास्तविक संघर्ष तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का है, जिसमें एक बार विजय हो जाने पर प्रकृति का सदा के लिए निरोध और परम पुरुष परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। यह ऐसी विजय है, जिसके पीछे हार नहीं है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

और यदि तू इस `धर्मयुक्त संग्राम' अर्थात् शाश्वत सनातन परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाला धर्म-युद्ध नहीं करेगा तो `स्वधर्म' अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न संघर्ष करने की क्षमता, क्रिया में प्रवृत्त होने की क्षमता को खोकर पाप अर्थात् आवागमन और अपकीर्ति को प्राप्त होगा। अपकीर्ति पर प्रकाश डालते हैं-

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

सबलोग बहुत काल तक तेरी अपकीर्ति का कथन करेंगे। आज भी पदच्युत होनेवाले महात्माओं में विश्वामित्र, पाराशर, निमि, श्रृङ्गी इत्यादि की गणना होती है। बहुत से साधक अपने धर्म पर विचार करते हैं, सोचते हैं कि लोग हमें क्या कहेंगे? ऐसा भाव भी साधना में सहायक होता है। इससे साधना में लगे रहने की प्रेरणा मिलती है। कुछ दूरी तक यह भाव भी साथ देता है। माननीय पुरुषों के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर होती है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

जिन महारथियों की निगाह में तू बहुत माननीय होकर अब तुच्छता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से उपराम हुआ मानेंगे। महारथी कौन? इस पथ पर महान् परिश्रम से आगे बढ़नेवाले साधक महारथी हैं। इसी प्रकार इतने ही परिश्रम से अविद्या की ओर खींचनेवाले काम, क्रोध, लोभ,

मोहादि भी महारथी हैं। जो तुझे बहुत सम्मान देते थे कि साधक प्रशंसनीय है, तुम उनकी निगाह से गिर जाओगे। इतना ही नहीं, बल्कि-

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

वैरी लोग तेरे पराक्रम की निन्दा करते हुए बहुत से न कहने योग्य वचनों को कहेंगे। एक दोष आता है, तो चारों ओर से निन्दा और बुराइयों की झड़ी लग जाती है। न कहने योग्य वचन भी कहे जाते हैं। इससे बड़ा दुःख क्या होगा? अतः-

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

इस युद्ध में मरोगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे, स्वर में विचरने की क्षमता रहेगी। श्वास के बाहर प्रकृति में विचरने की धाराएँ निरुद्ध हो जायेंगी। परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाली दैवी सम्पद् हृदय में पूर्णतः प्रवाहित रहेगी। अथवा इस संघर्ष में जीतने पर महामहिम स्थिति को प्राप्त करोगे। इसलिए अर्जुन! युद्ध के लिये निश्चय करके खड़ा हो।

प्रायः लोग इस श्लोक के अर्थ में समझते हैं कि इस युद्ध में मरोगे तो स्वर्ग जाओगे और जीतोगे तो पृथ्वी का भोग भोगोगे; किन्तु आपको स्मरण होगा, अर्जुन कह चुका है - "भगवन्! पृथ्वी ही नहीं अपितु त्रैलोक्य के साम्राज्य और देवताओं के स्वामीपन अर्थात् इन्द्रपद प्राप्त होने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता, जो इन्द्रियों को सुखानेवाले मेरे शोक दूर कर सकें। यदि इतना ही मिलना है तो गोविन्द! मैं युद्ध कदापि नहीं करूँगा।" यदि इतने पर भी श्रीकृष्ण कहते कि - अर्जुन! लड़ो। जीतोगे तो पृथ्वी पा जाओगे, हारोगे तो स्वर्ग के नागरिक बन जाओगे, तो श्रीकृष्ण देते ही क्या हैं? अर्जुन इससे आगे का सत्य, श्रेय (परम कल्याण) की कामनावाला शिष्य था, जिसे सद्गुरुदेव श्रीकृष्ण ने बताया कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस संघर्ष में यदि शरीर का समय पूरा हो जाता है और लक्ष्य तक नहीं पहुँच सके, तो स्वर्ग प्राप्त करोगे अर्थात् स्वर में ही विचरण करने की क्षमता प्राप्त कर लोगे, दैवी सम्पद् हृदय में ढल जायेगी और

इस शरीर के रहते-रहते संघर्ष में सफल हो जाते हो तो `महीम्' - सबसे महान् ब्रह्म की महिमा का उपभोग करोगे, महामहिम की स्थिति प्राप्त कर लोगे। जीतोगे तो सर्वस्व, क्योंकि महामहिमत्व को पाओगे और हारोगे तो देवत्व - दोनों हाथों में लड्डू रहेंगे। लाभ में भी लाभ और हानि में भी लाभ ही है। पुनः इस पर बल देते हैं-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

इस प्रकार सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर तू युद्ध के लिये तैयार हो। युद्ध करने से तू पाप को प्राप्त नहीं होगा। अर्थात् सुख में सर्वस्व और दुःख में भी देवत्व है। लाभ में महीम् की स्थिति अर्थात् सर्वस्व और हानि में देवत्व है। जय में महामहिम स्थिति और पराजय में भी दैवी सम्पद् पर अधिकार है। इस प्रकार अपने लाभ-हानि को भली प्रकार स्वयं समझकर तू युद्ध के लिये तैयार हो। लड़ने में ही दोनों वस्तुएँ हैं। लड़ोगे तो पाप अर्थात् आवागमन को प्राप्त नहीं होओगे। अतः तू युद्ध के लिये तैयार हो।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी है। कौन-सी बुद्धि? यही कि युद्ध कर। ज्ञानयोग में इतना ही है कि अपनी हस्ती को देखकर, लाभ-हानि का भली प्रकार विचार करके कि जीतेंगे तो महामहिम स्थिति और हारेंगे तो देवत्व, जय में सर्वस्व और पराजय में भी देवत्व - दोनों तरह लाभ है। युद्ध नहीं करेंगे तो सभी हमें बुरा कहेंगे, भय से उपराम हुआ मानेंगे, अपकीर्ति होगी; इस प्रकार अपने अस्तित्व को सामने रखकर स्वयं विचार कर युद्ध में अग्रसर होना ही ज्ञानयोग है।

प्रायः लोगों में भ्रान्ति है कि ज्ञानमार्ग में कर्म (युद्ध) नहीं करना पड़ता। वे कहते हैं कि ज्ञानमार्ग में कर्म नहीं है। मैं तो `शुद्ध हूँ', `बुद्ध हूँ', `चैतन्य हूँ', `अहं ब्रह्मास्मि।' `गुण ही गुण में बरतते हैं' - ऐसा मानकर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार यह ज्ञानयोग नहीं है। ज्ञानयोग में भी

वही `कर्म' करना है, जो निष्काम कर्मयोग में किया जाता है। दोनों में केवल बुद्धि का, दृष्टिकोण का अन्तर है। ज्ञानमार्गी अपनी स्थिति समझकर, अपने पर निर्भर होकर कर्म करता है, जबकि निष्काम कर्मयोगी इष्ट के आश्रित होकर कर्म करता है। करना दोनों मार्गों में है और वह कर्म भी एक ही है, जिसे दोनों मार्गों में किया जाना है। केवल कर्म करने के दृष्टिकोण दो हैं।

अर्जुन! इसी बुद्धि को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिससे युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन का अच्छी तरह नाश करेगा। यहाँ श्रीकृष्ण ने `कर्म' का नाम पहली बार लिया, लेकिन यह नहीं बताया कि कर्म है क्या? अब कर्म न बताकर पहले कर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं -

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं होता। सीमित फलरूपी दोष नहीं है, इसलिये इस निष्काम कर्म का, इस कर्म से सम्पादित धर्म का थोड़ा भी साधन जन्म-मृत्युरूपी महान् भय से उद्धार कर देता है। आप इस कर्म को समझें और उस पर दो कदम चल भर दें (जो सद्गृहस्थ आश्रम में रहकर ही चला जा सकता है, साधक तो चलते ही हैं) बीज भर डाल दें, तो अर्जुन! बीज का नाश नहीं होता। प्रकृति में कोई क्षमता नहीं, ऐसा कोई अस्त्र नहीं कि उस सत्य को मिटा दे। प्रकृति केवल आवरण डाल सकती है, कुछ देर कर सकती है; किन्तु साधन के आरम्भ को मिटा नहीं सकती।

आगे श्रीकृष्ण ने बताया कि सभी पापियों से भी बड़ा पापी ही क्यों न हो, ज्ञानरूपी नौका द्वारा निःसन्देह पार हो जायेगा। ठीक उसी बात को यहाँ कहते हैं कि - अर्जुन! निष्काम कर्मयोग का बीजारोपण भर कर दें, तो उस बीज का कभी नाश नहीं होता। विपरीत फलरूपी दोष भी इसमें नहीं होता कि आपको स्वर्ग, ऋद्धियों या सिद्धियों तक पहुँचा कर छोड़ दे। आप यह साधन भले छोड़ दें, किन्तु यह साधन आपका उद्धार करके ही छोड़ेगा। इस निष्काम कर्मयोग का थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु के महान् भय से उद्धार कर देता है। `अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' कर्म का यह बीजारोपण अनेक जन्म के

पश्चात् वहीं खड़ा कर देगा, जहाँ परमधाम है, परमगति है। इसी क्रम में आगे कहते हैं।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में क्रियात्मक बुद्धि एक ही है। क्रिया एक है और परिणाम एक ही है। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति को प्रकृति के द्वन्द्व में शनैः-शनैः अर्जित करना व्यवसाय है। यह व्यवसाय अथवा निश्चयात्मक क्रिया भी एक ही है। तब तो जो लोग बहुत-सी क्रियाएँ वताते हैं, क्या वे भजन नहीं करते? श्रीकृष्ण कहते हैं - "हाँ, वे भजन नहीं करते। उन पुरुषों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है, इसलिये अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं।"

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

पार्थ! वे `कामात्मानः' - कामनाओं से युक्त, `वेदवादरताः' - वेद के वाक्यों में अनुरक्त, `स्वर्गपराः' - स्वर्ग को ही परम लक्ष्य मानते हैं कि इससे आगे कुछ है ही नहीं - ऐसा कहनेवाले अविवेकीजन जन्ममृत्युरूपी फल देनेवाली, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत सी क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं और दिखावटी शोभायुक्त वाणी में व्यक्त भी करते हैं। अर्थात् अविवेकियों की बुद्धि अनन्त भेदोंवाली होती है। वे फलवाले वाक्य में ही अनुरक्त रहते हैं, वेद के वाक्यों को ही प्रमाण मानते हैं. स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी बुद्धि बहुत-सी भेदोंवाली है इसलिए अनन्त क्रियाओं की रचना कर लेते हैं। वे नाम तो परमतत्त्व परमात्मा का ही लेते हैं, किन्तु उसकी ओट में अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। तो क्या अनंत क्रियाएँ कर्म नहीं हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं - नहीं, अनन्त क्रियाएँ कर्म नहीं हैं; तो वह एक निश्चित क्रिया

है क्या? श्रीकृष्ण अभी यह नहीं बताते। अभी तो केवल इतना कहते हैं कि अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। वे केवल विस्तार ही नहीं करते अपितु आलंकारिक शैली में उसे व्यक्त भी करते हैं। उसका प्रभाव क्या होता है?

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

उनकी वाणी की छाप जिन-जिनके चित्त पर पड़ जाती है, अर्जुन! उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है, न कि वे कुछ पाते हैं। उस वाणी द्वारा हरे हुए चित्तवालों के और भोग-ऐश्वर्य में आसक्ति वाले पुरुषों के अंतःकरण में क्रियात्मक बुद्धि नहीं रह जाती, इष्ट में समाधिस्थ करनेवाली निश्चयात्मक क्रिया उनमें नहीं होती।

ऐसे अविवेकियों की वाणी सुनता कौन है? भोग और ऐश्वर्य में आसक्तिवाले ही सुनते हैं, अधिकारी नहीं सुनता। ऐसे पुरुषों में सम और आदितत्त्व में प्रवेश दिलानेवाली निश्चयात्मक क्रिया से संयुक्त बुद्धि नहीं होती।

प्रश्न उठता है कि 'वेदवादरताः' - जो वेद के वचनों में अनुरक्त हैं, क्या वे भी भूल करते हैं? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं -

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

अर्जुन! 'त्रैगुण्यविषया वेदा' - वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं। इसके आगे का हाल वे नहीं जानते। इसलिये - 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' - अर्जुन! तू तीनों गुणों से ऊपर उठ अर्थात् वेदों के कार्यक्षेत्र से आगे बढ़। कैसे बढ़ा जाय? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं, 'निर्द्वन्द्वः' - सुख-दुःख के द्वन्द्वों से रहित, नित्य सत्य वस्तु में स्थित और योगक्षेम को न चाहता हुआ आत्मपरायण हो। इस प्रकार ऊपर उठ। प्रश्न उठता है कि हम ही उठें या कोई वेदों से ऊपर उठा भी है? श्रीकृष्ण बताते हैं कि आगे जो भी उठता है, ब्रह्म को जानता है और जो ब्रह्म को जानता है, वह विप्र है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय को प्राप्त होने पर मनुष्य का छोटे जलाशय से जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रहता है। तात्पर्य यह है कि जो वेदों से ऊपर उठता है, वह ब्रह्म को जानता है, वही ब्राह्मण है। अर्थात् तू वेदों से ऊपर उठ, ब्राह्मण बन।

अर्जुन क्षत्रिय था। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ब्राह्मण बन। ब्राह्मण-क्षत्रिय इत्यादि वर्ण स्वभाव की क्षमताओं के नाम हैं। यह कर्मप्रधान है, न कि जन्म से निर्धारित होनेवाली कोई रूढ़ि। जिसे गंगा की धारा प्राप्त है, उसे क्षुद्र जलाशय से क्या प्रयोजन? कोई उसमें शौच लेता है, तो कोई पशुओं को नहला देता है। इसके आगे कोई उपयोग नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म को साक्षात् जाननेवाले उस विप्र महापुरुष का, उस ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रह जाता है। प्रयोजन रहता अवश्य है, वेद रहते हैं; क्योंकि पीछेवालों के लिए उनका उपयोग है। वहीं से चर्चा आरम्भ होगी। इसके उपरान्त योगेश्वर श्रीकृष्ण कर्म करते समय बरती जानेवाली सावधानियों का प्रतिपादन करते हैं -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

कर्म करने में ही तेरा अधिकार हो, फल में कभी नहीं। ऐसा समझ कि फल हैं ही नहीं। फल की वासनावाला भी मत हो और कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो।

अब तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उन्तालीसवें श्लोक में पहली बार कर्म का नाम लिया, किन्तु यह नहीं बताया कि वह कर्म है क्या और उसे करें कैसे? उस कर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला कि -

(१) अर्जुन! इस कर्म द्वारा तू कर्मों के बन्धन से अच्छी प्रकार छूट जायेगा।

(२) अर्जुन! इसमें आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है। आरम्भ कर दें, तो प्रकृति के पास कोई उपाय नहीं कि उसे नष्ट कर दे।

(३) अर्जुन! इसमें सीमित फलरूपी दोष भी नहीं है कि स्वर्ग, ऋद्धियों-सिद्धियों में फँसाकर खड़ा कर दे।

(४) अर्जुन! इस कर्म का थोड़ा भी साधन जन्म-मरण के भय से उद्धार करानेवाला होता है।

किन्तु अभी तक उन्होंने यह नहीं बताया कि वह कर्म है क्या? किया कैसे जाय? इसी अध्याय के इकतालीसवें श्लोक में उन्होंने बताया -

(५) अर्जुन! इसमें निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है, क्रिया एक ही है। तो क्या बहुत-सी क्रियावाले भजन नहीं करते? श्रीकृष्ण कहते हैं - वे कर्म नहीं करते। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखा वाली होती है, इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। वे दिखावटी शोभायुक्त वाणी में इन क्रियाओं को व्यक्त भी करते हैं। उनकी वाणी की छाप जिनके चित्त पर पड़ जाती है, उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अतः निश्चयात्मक क्रिया एक ही है,लेकिन यह नहीं बताया कि वह क्रिया कौन-सी है?

सैंतालीसवें श्लोक में उन्होंने कहा - अर्जुन! कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। फल की वासनावाला भी मत हो और कर्म करने में तेरी अश्रद्धा न हो अर्थात् निरन्तर करने के लिए उसी में लीन होकर करें; किन्तु यह नहीं बताया कि वह कर्म है क्या? प्रायः इस श्लोक का उद्धरण देकर लोग कहते हैं कि कुछ भी करो, केवल फल की कामना मत करो, हो गया निष्काम कर्मयोग; किन्तु अभी तक श्रीकृष्ण ने बताया ही नहीं कि कर्म है कौन-सा जिसे करें? यहाँ पर केवल कर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला कि कर्म देता क्या है और कर्म को करते समय बरती जानेवाली सावधानियाँ क्या हैं? - उन पर प्रकाश डाला। प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना हुआ है, जिसे योगेश्वर आगे अध्याय तीन-चार में स्पष्ट करेंगे।

पुनः इसी पर बल देते हैं -

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

धनंजय! आसक्ति और संग-दोष को त्यागकर, सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रखकर योग में स्थित होकर कर्म कर। कौन सा कर्म? निष्काम कर्म कर। `समत्वं योग उच्यते' - यह समत्व भाव ही योग कहलाता है। विषमता जिसमें न हो, ऐसा भाव समत्व कहलाता है। ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ विषम बनाती हैं, आसक्ति हमें विषम वनाती है, फल की इच्छा विषमता पैदा करती है, इसीलिये फल की वासना न हो, फिर भी कर्म करने में अश्रद्धा न हो। देखी-सुनी सभी वस्तुओं में आसक्ति का त्याग करके, प्राप्ति और अप्राप्ति के विषय में न सोचकर केवल योग में स्थित रहते हुए कर्म कर। योग से चित्त चलायमान न हो।

योग एक पराकाष्ठा की स्थिति है और एक प्रारम्भ की स्थिति भी होती है। प्रारम्भ में भी हमारी दृष्टि लक्ष्य पर ही रहनी चाहिए। अतः योग पर दृष्टि रखते हुए कर्म का आचरण करना चाहिए। समत्व भाव अर्थात् सिद्धि और असिद्धि में समभाव ही योग कहलाता है। जिसको सिद्धि और असिद्धि विचलित नहीं कर पाती, विषमता जिसमें पैदा नहीं होती, ऐसा भाव होने के कारण यह समत्व योग कहलाता है। यह इष्ट से समत्व दिलाता है, इसीलिए इसे समत्व योग कहते हैं। कामनाओं का सर्वथा त्याग है, इसलिए इसे निष्काम कर्मयोग कहते हैं। कर्म करना है, इसलिये इसे कर्मयोग कहते हैं। परमात्मा से मेल कराता है, इसलिये इसका नाम योग अर्थात् मेल है। इसमें बौद्धिक स्तर पर ध्यान रखना पड़ता है कि सिद्धि और असिद्धि में समभाव रहे, आसक्ति न हो, फल की वासना न आने पाये इसलिये यही निष्काम कर्मयोग बुद्धियोग भी कहा जाता है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

धनंजय! `अवर कर्म' - निकृष्ट कर्म, वासनावाले कर्म बुद्धियोग से अत्यन्त दूर हैं। फल की कामनावाले कृपण हैं। वे आत्मा के साथ उदारता नहीं बरतते; अतः समत्व बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर। जैसी कामना है, वैसा मिल भी जाये, तो उसे भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ेगा। आवागमन बना है तो कल्याण कैसा? साधक को तो मोक्ष की भी वासना नहीं रखनी चाहिए; क्योंकि

वासनाओं से मुक्त होना ही तो मोक्ष है। फल की प्राप्ति का चिन्तन करने से साधक का समय व्यर्थ नष्ट हो जाता है और फल प्राप्त होने पर वह उसी फल में उलझ जाता है। उसकी साधना समाप्त हो जाती है। आगे वह भजन क्यों करे? वहाँ से वह भटक जाता है। इसलिये समत्व बुद्धि से योग का आचरण करें।

ज्ञानमार्ग को भी श्रीकृष्ण ने बुद्धियोग कहा था कि अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोग के विषय में कही गई और यहाँ निष्काम कर्मयोग को भी बुद्धियोग कहा गया। वस्तुतः दोनों में बुद्धि का, दृष्टिकोण का ही अन्तर है। उसमें लाभ-हानि का रिकार्ड रखकर उसे जाँच कर चलना पड़ता है। इसमें बौद्धिक स्तर पर समत्व बनाये रखना पड़ता है इसलिये इसे समत्व बुद्धियोग भी कहा जाता है। इसलिये धनंजय! तू समत्व बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फल की वासनावाले अत्यन्त कृपण हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

समत्व बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनों को ही इसी लोक में त्याग देता है, उनसे लिपायमान नहीं होता। इसलिये समत्व बुद्धियोग के लिये चेष्टा कर। 'योगः कर्मसु कौशलम्' - समत्व बुद्धि के साथ कर्मों का आचरण-कौशल ही योग है।

संसार में कर्म करने के दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। लोग कर्म करते हैं तो उसका फल भी अवश्य चाहते हैं या फल न मिले तो कर्म करना ही नहीं चाहते; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण इन कर्मों को बन्धनकारी बताते हुए 'आराधना' को एकमात्र कर्म मानते हैं। इस अध्याय में उन्होंने कर्म का नाम मात्र लिया। अध्याय ३ के ९ वें श्लोक में उसकी परिभाषा दी और चौथे अध्याय में कर्म के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण ने सांसारिक परम्परा से हटकर कर्म करने की कला बताई कि कर्म तो करो, श्रद्धापूर्वक करो; किन्तु फल के अधिकार को स्वेच्छा से छोड़ दो। फल जायेगा कहाँ? यही कर्मों के करने का कौशल है। निष्काम साधक की समग्र शक्ति इस प्रकार कर्म

में लगी रहती है। आराधना के लिये ही तो शरीर है। फिर भी जिज्ञासा स्वाभाविक है कि क्या सदैव कर्म ही करते रहना है या इसका कुछ परिणाम भी निकलेगा? इसे देखें -

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

बुद्धियोग से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फल को त्यागकर जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूट जाते हैं। वे निर्दोष अमृतमय परमपद को प्राप्त होते हैं।

यहाँ तीन बुद्धियों का चित्रण है। (श्लोक ३१-३९) सांख्य बुद्धि में दो फल हैं - स्वर्ग और श्रेय। (श्लोक ३९-५१) कर्मयोग में प्रवृत्त बुद्धि का एक ही फल है - जन्म-मृत्यु से मुक्ति, निर्मल अविनाशी पद की प्राप्ति। बस ये दो ही योगक्रिया हैं। इसके अतिरिक्त बुद्धि अविवेकजन्य है, अनन्त शाखाओं वाली है, जिसका फल कर्मभोग के लिए बारम्बार जन्म-मृत्यु है।

अर्जुन की दृष्टि त्रिलोकी के साम्राज्य तथा देवताओं के स्वामीपन तक ही सीमित थी। इतने तक के लिये भी वह युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो रहा था। यहाँ श्रीकृष्ण उसे नवीन तथ्य उद्‌घाटित करते हैं कि आसक्तिरहित कर्म द्वारा अनामय पद प्राप्त होता है। निष्काम कर्मयोग परमपद को दिलाता है, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है। इस कर्म में प्रवृत्ति कब होगी?

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

जिस काल में तेरी (प्रत्येक साधक की) बुद्धि मोहरूपी दलदल को पूर्णतः पार कर लेगी, लेशमात्र भी मोह न रह जाए - न पुत्र में, न धन में, न प्रतिष्ठा में - इस सबसे लगाव टूट जायेगा, उस समय जो सुनने योग्य है, उसे तू सुन सकेगा और सुने हुए के अनुसार वैराग्य को प्राप्त हो सकेगा अर्थात् उसे आचरण में ढाल सकेगा। अभी तो जो सुनने लायक है, उसे न तो तू सुन पाया है और आचरण का तो प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। इसी योग्यता पर पुनः प्रकाश डालते हैं -

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

अनेक प्रकार के वेद-वाक्यों को सुनकर विचलित हुई तेरी बुद्धि जव परमात्म स्वरूप में समाधिस्थ होकर अचल, स्थिर ठहर जायेगी, तव तू समत्व योग को प्राप्त होगा। पूर्ण सम स्थिति को प्राप्त करेगा, जिसे `अनामय परमपद' कहते हैं। यही योग की पराकाष्ठा है और यही अप्राप्य की प्राप्ति है। वेदों से तो शिक्षा ही मिलती है, किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं, `श्रुतिविप्रतिपन्ना' - श्रुतियों के अनेक सिद्धांतों को सुनने से बुद्धि विचलित हो जाती है। सिद्धान्त तो अनेकों सुने; लेकिन जो सुनने योग्य है, लोग उससे दूर ही रहते हैं।

यह विचलित बुद्धि जिस समय समाधि में स्थिर हो जायेगी, तव तू योग की पराकाष्ठा अमृत पद को प्राप्त करेगा। इस पर अर्जुन की उत्कण्ठा स्वाभाविक थी कि वे महापुरुष कैसे होते हैं जो अनामय परमपद में स्थित हैं, समाधि में जिनकी वुद्धि स्थिर है? उसने प्रश्न किया -

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

`समाधीयते चित्तम् यस्मिन् स आत्मा एव समाधिः' - जिसमें चित्त का समाधान किया जाय, वह आत्मा ही समाधि है। अनादि तत्त्व में जो समत्व प्राप्त कर ले, उसे समाधिस्थ कहते हैं। अर्जुन ने पूछा - केशव! समाधिस्थ स्थिर वुद्धिवाले महापुरुष के क्या लक्षण हैं? स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है? वह कैसे वैठता है? वह कैसे चलता है? चार प्रश्न अर्जुन ने किये। इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण वताते हुए कहा-

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

पार्थ! जब मनुष्य मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है, तब वह आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है। कामनाओं के त्याग पर ही आत्मा का दिग्दर्शन होता है। ऐसा आत्माराम, आत्मतृप्त महापुरुष ही स्थितप्रज्ञ है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

दैहिक, दैविक तथा भौतिक दुःखों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जिसकी स्पृहा दूर हो गई है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, मननशीलता की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसके अन्य लक्षण वताते हैं-

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ शुभ अथवा अशुभ को प्राप्त होकर न तो प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है। शुभ वह है, जो परमात्म-स्वरूप में लगाता है। अशुभ वह है, जो प्रकृति की ओर ले जानेवाला होता है। किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष अनुकूल परिस्थितियों से न प्रसन्न होता है और न प्रतिकूल परिस्थितियों से द्वेष करता है; क्योंकि प्राप्त होने योग्य वस्तु न उससे भिन्न है और न पतित करनेवाले विकार ही उसके लिये हैं अर्थात् अब साधन से उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं रहा। ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, ठीक वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है। खतरे को देखते ही कछुआ जिस प्रकार अपने सिर और पैर समेट लेता है, ठीक इसी प्रकार जो पुरुष विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को सब ओर से समेटकर हृदय-देश में निरोध कर लेता है, उस काल में उस पुरुष की बुद्धि स्थिर होती है; किन्तु यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। खतरे का एहसास मिटते ही कछुआ तो

अपने अंगों को पुनः फैला देता है- क्या इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ महापुरुष भी विषयों में रस लेने लगता है? इस पर कहते हैं-

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करनेवाले पुरुषों के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि वे ग्रहण ही नहीं करते; किन्तु उनका राग नहीं निवृत्त होता, आसक्ति लगी रहती है। सम्पूर्ण इन्द्रियों को विषयों से समेटने वाले निष्कामकर्मी का राग भी `परं दृष्ट्वा' - परमतत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाता है।

महापुरुष कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को विषयों में नहीं फैलाता। एक बार जब इन्द्रियाँ सिमट गईं तो संस्कार ही मिट जाते हैं, पुनः वे नहीं निकलते। निष्काम कर्मयोग के आचरण द्वारा परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन के साथ उस पुरुष का विषयों से राग भी निवृत्त हो जाता है। प्रायः चिन्तन-पथ में हठ करते हैं। हठ से इन्द्रियों को रोककर वे विषय से तो निवृत्त हो जाते हैं किन्तु मन में उनका चिन्तन, राग लगा रहता है। यह आसक्ति `परं दृष्ट्वा' - परमात्मा का साक्षात्कार करने के बाद ही निवृत्त होती है, इसके पूर्व नहीं।

पूज्य महाराज जी इस सम्बन्ध में अपनी एक घटना बताया करते थे। गृह-त्याग से पूर्व उन्हें तीन बार आकाशवाणियाँ हुई थीं। हमने पूछा - "महाराज जी! आपको आकाशवाणी क्यों हुई? हम लोगों को तो नहीं हुई।" तब इस पर महाराज जी ने कहा - `हो! ई शंका मोहूं के भई रहीं' अर्थात् यह सन्देह मुझे भी हुआ था। तब अनुभव में आया कि मैं सात जन्म से लगातार साधु हूँ। चार जन्म तो केवल साधुओं-सा वेश बनाये, तिलक लगाये, कहीं विभूति पोते, कहीं कमण्डल लिये विचरण कर रहा हूँ। योग-क्रिया की जानकारी नहीं थी। लेकिन पिछले तीन जन्म से बढ़िया साधु हूँ, जैसा होना चाहिए। मुझमें योगक्रिया जागृत थी। पिछले जन्म में पार लग चला था, निवृत्ति हो चली थी; किन्तु दो इच्छाएँ रह गई थीं - एक स्त्री और दूसरी गाँजा। अन्तर्मन में इच्छाएँ थीं, किन्तु बाहर से हमने शरीर को दृढ़ रखा। मन में वासना लगी थी इसलिए जन्म लेना पड़ा।

जन्म लेते ही भगवान ने थोड़े ही समय में सब दिखा-सुनाकर निवृत्ति दिला दी, दो-तीन चटकना दिया और साधु बना दिया।

ठीक यही बात श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करनेवाले पुरुष के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; किन्तु साधना द्वारा परमपुरुष परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर वह विषयों के राग से भी निवृत्त हो जाता है। अतः जब तक साक्षात्कार न हो, कर्म करना है।

उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही।।

(रामचरितमानस, ५/४८/६)

इन्द्रियों को विषयों से समेटना कठिन है। इस पर प्रकाश डालते हैं-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

कौन्तेय! प्रयत्न करनेवाले मेधावी पुरुष की प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मन को बलात् हर लेती हैं, विचलित कर देती हैं। इसलिये-

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयत करके योग से युक्त और समर्पण के साथ मेरे आश्रित हो; क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है। यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण साधन के निषेधात्मक अवयवों के साथ उसके विधेयात्मक पहलू पर जोर देते हैं। केवल संयम और निषेध से इन्द्रियाँ वश में नहीं होतीं। समर्पण के साथ इष्ट-चिन्तन अनिवार्य है। इष्ट-चिन्तन के अभाव में विषय-चिन्तन होगा, जिसके कुपरिणाम श्रीकृष्ण के ही शब्दों में देखें-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है। कामना-पूर्ति में व्यवधान आने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध किसे जन्म देता है?

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।६३।।

क्रोध से विशेष मूढ़ता अर्थात् अविवेक उत्पन्न होता है। नित्य-अनित्य वस्तु का विचार नहीं रह जाता। अविवेक से स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है (जैसा अर्जुन को हुआ था - `भ्रमतीव च मे मनः'। गीता के समापन पर उसने कहा - `नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा'। क्या करें, क्या न करें - इसका निर्णय नहीं हो पाता।) स्मृति भ्रमित होने से योग-परायण बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि नाश होने से यह पुरुष अपने श्रेय-साधन से च्युत हो जाता है।

यहाँ श्रीकृष्ण ने बल दिया है कि विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए। साधक को नाम, रूप, लीला और धाम में ही कहीं लगे रहना चाहिए। भजन में ढील देने पर मन विषयों में जायेगा। विषयों के चिन्तन से आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उस विषय की कामना साधक के अन्तर्मन में होने लगती है। कामना की पूर्ति में व्यवधान होने पर क्रोध, क्रोध से अविवेक, अविवेक से स्मृति-भ्रम और स्मृतिभ्रम से बुद्धि नष्ट हो जाती है। निष्काम कर्मयोग को बुद्धियोग कहा जाता है; क्योंकि बुद्धि-स्तर पर इसमें विचार रखना चाहिए कि कामनाएँ न आने पाएं, फल है ही नहीं। कामना आने से यह बुद्धियोग नष्ट हो जाता है - `साधन करिय विचारहीन मन शुद्ध होय नहीं तैसे' (विनयपत्रिका, पद संख्या ११५/३) विचार आवश्यक है। विचार-शून्य पुरुष श्रेय-साधन से नीचे गिर जाता है। साधन-क्रम टूट जाता है, सर्वथा नष्ट नहीं होता। भोग के पश्चात् साधन वहीं से पुनः आरम्भ होता है, जहाँ अवरुद्ध हुआ था।

यह तो विषयाभिमुख साधक की गति है। स्वाधीन अन्तःकरण वाला साधक किस गति को प्राप्त होता है? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

आत्मा की विधि को प्राप्त प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष राग-द्वेष से रहित वश में की हुई अपनी इन्द्रियों द्वारा `विषयान् चरन्' - विषयों में विचरता हुआ भी

`प्रसादमधिगच्छति' - अन्तःकरण की निर्मलता को प्राप्त होता है। वह अपनी भाव दृष्टि में रहता है। महापुरुष के लिए विधि-निषेध नहीं रह जाते। उसके लिए कहीं अशुभ नहीं रहता, जिससे वह बचाव करे तथा उसके लिए कोई शुभ शेष नहीं रह जाता, जिसकी वह कामना करे।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

भगवान् के पूर्ण कृपाप्रसाद `भगवत्ता' से संयुक्त होने पर उसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है, `दुःखालयम् अशाश्वतम्' संसार का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्त वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है। किन्तु जो योगयुक्त नहीं हैं, उनकी दशा पर प्रकाश डालते हैं-

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

योग-साधनरहित पुरुष के अन्तःकरण में निष्काम कर्मयुक्त बुद्धि नहीं होती। उस अयुक्त के अन्तःकरण में भाव भी नहीं होता। भावनारहित पुरुष को शान्ति कहाँ? और अशान्त पुरुष को सुख कहाँ? योग क्रिया करने से कुछ दिखाई पड़ने पर ही भाव बनता है - `जाने बिनु न होई परतीति' भावना बिना शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित पुरुष को सुख अर्थात् शाश्वत, सनातन की प्राप्ति नहीं होती।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

जल में नाव को जिस प्रकार वायु हरण करके गन्तव्य से दूर कर देता है, ठीक वैसे ही विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों में जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय उस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। अतः योग का आचरण अनिवार्य है। क्रियात्मक आचरण पर श्रीकृष्ण पुनः बल देते हैं-

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

इससे हे महाबाहो! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सर्वथा वश में की हुई होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। `बाहु' कार्यक्षेत्र का प्रतीक है। भगवान `महाबाहु' एवं `आजानुबाहु' कहे जाते हैं। वे बिना हाथ-पैर के सर्वत्र कार्य करते हैं। उनमें जो प्रवेश पाता है या जो उसी भगवत्ता की ओर अग्रसर है वह भी महाबाहु है। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों को महाबाहु कहा गया है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के लिये वह परमात्मा रात्रि के तुल्य है; क्योंकि दिखाई नहीं देता, न विचार ही काम करता है - इसलिये रात्रि-सदृश है। उस रात्रि में, परमात्मा में संयमी पुरुष भली प्रकार देखता है, चलता है, जागता है; क्योंकि वहाँ उसकी पकड़ है। योगी इन्द्रियों के संयम द्वारा उसमें प्रवेश पा जाता है। जिन नाशवान् सांसारिक सुख-भोग के लिये सम्पूर्ण प्राणी रात-दिन परिश्रम करते हैं, योगी के लिये वही निशा है।

रमा विलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी।।
(रामचरितमानस, २/३२३/८)

जो योगी परमार्थ-पथ में निरन्तर सजग और भौतिक एषणाओं से सर्वथा निःस्पृह होता है, वही उस इष्ट में प्रवेश पाता है। वह रहता तो संसार में ही है किन्तु संसार का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। महापुरुष की इस रहनी का चित्रण देखें-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए बड़े वेग से उसमें समा जाते हैं, ठीक वैसे ही परमात्मा में स्थित, स्थितप्रज्ञ पुरुष में सम्पूर्ण भोग विकार उत्पन्न किये बिना समा जाते हैं। ऐसा पुरुष परमशान्ति को प्राप्त होता है, न कि भोगों को चाहनेवाला।

भयंकर वेग से बहने वाली सहस्रों नदियों के स्रोत फसल को नष्ट करते हुए, हत्याएँ करते हुए, नगरों को डुबोते हुए, हाहाकार मचाते हुए बड़े वेग से समुद्र में गिरते हैं; किन्तु समुद्र को न एक इंच ऊपर उठा पाते हैं और न गिरा ही पाते हैं, बल्कि उसी में समाहित हो जाते हैं - ठीक इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ महापुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग उतने ही वेग से आते हैं, किन्तु समाहित हो जाते हैं। उन महापुरुषों में न शुभ संस्कार डाल पाते हैं न अशुभ। योगी के कर्म `अशुक्ल' और `अकृष्ण' होते हैं। क्योंकि जिस चित्त पर संस्कार पड़ते हैं, उसका निरोध और विलीनीकरण हो गया। इसके साथ ही भगवत्ता की स्थिति आ गई। अब संस्कार पड़े भी तो कहाँ? इस एक ही श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के कई प्रश्नों का समाधान कर दिया। उसकी जिज्ञासा थी कि स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षण क्या हैं? वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है? श्रीकृष्ण ने एक ही शब्द में उत्तर दिया कि वे समुद्रवत् होते हैं, उनके लिए विधि-निषेध नहीं होता कि - ऐसे बैठो और ऐसे चलो। वे ही परमशान्ति को प्राप्त होते हैं; क्योंकि वे संयमी हैं। भोगों की कामनावाला शान्ति नहीं पाता। इसी पर पुनः बल देते हैं-

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर `निर्ममः' मैं और मेरे के भाव तथा अहंकार और स्पृहा से रहित हुआ वरतता है, वह उस परमशान्ति को प्राप्त होता है, जिसके बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

पार्थ! उपर्युक्त स्थिति ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है। समुद्रवत् उन

महापुरुषों में विषय नदियों की तरह समा जाते हैं, वे पूर्ण संयमी और प्रत्यक्षतः परमात्मदर्शी हैं। केवल `अहं ब्रह्मास्मि' पढ़ लेने या रट लेने से यह स्थिति नहीं मिलती। साधन करके ही इस ब्रह्म की स्थिति को पाया जाता है। ऐसा महापुरुष ब्रह्मनिष्ठा में स्थित रहते हुए शरीर के अन्तकाल में भी ब्रह्मानन्द को ही प्राप्त होता है।

निष्कर्ष :

प्रायः कुछ लोग कहते हैं कि दूसरे अध्याय में गीता पूर्ण हो गई; किन्तु यदि केवल कर्म का नाम मात्र लेने से कर्म पूरा हो जाता हो, तब तो गीता का समापन माना जा सकता है। इस अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यही बताया कि - अर्जुन! निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिसे जानकर तू संसार-बन्धन से छूट जायेगा। कर्म करने में तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो, निरन्तर करने के लिए तत्पर हो जा। इसके परिणाम में तू `परं दृष्ट्वा' परमपुरुष का दर्शन कर स्थितप्रज्ञ बनेगा, परमशान्ति पायेगा; किन्तु यह नहीं बताया कि `कर्म है क्या?'

यह `सांख्ययोग' नामक अध्याय नहीं है। यह नाम शास्त्रकार की नहीं, अपितु टीकाकारों की देन है। वे अपनी बुद्धि के अनुसार ही ग्रहण करते हैं तो आश्चर्य क्या है?

इस अध्याय में कर्म की गरिमा, उसे करने में बरती जाने वाली सावधानी और स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मन में कर्म के प्रति उत्कण्ठा जागृत की है, उसे कुछ प्रश्न दिये हैं। आत्मा शाश्वत है, सनातन है, उसे जानकर तत्त्वदर्शी बनो। इसकी प्राप्ति के दो साधन हैं - ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग।

अपनी शक्ति को समझकर, हानि-लाभ का स्वयं निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त होना ज्ञानमार्ग है तथा इष्ट पर निर्भर होकर समर्पण के साथ उसी कर्म में प्रवृत्त होना निष्काम कर्ममार्ग या भक्तिमार्ग है। गोस्वामी तुलसीदास ने दोनों का चित्रण इस प्रकार किया है-

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही।।
(रामचरिमानस, ३/४२/८-९)

मेरे दो प्रकार के भजनेवाले हैं - एक ज्ञानमार्गी, दूसरा भक्तिमार्गी। निष्काम कर्ममार्गी या भक्तिमार्गी शरणागत होकर मेरा आश्रय लेकर चलता है, ज्ञानयोगी अपनी शक्ति सामने रखकर, अपनी हानि-लाभ का विचार कर अपने भरोसे चलता है, जबकि दोनों के शत्रु एक ही हैं। ज्ञानमार्गी को काम-क्रोधादि शत्रुओं पर विजय पाना है और निष्काम कर्मयोगी को भी इन्हीं से युद्ध करना है। कामनाओं का त्याग दोनों करते हैं और दोनों मार्गों में किया जाने वाला कर्म भी एक ही है। "इस कर्म के परिणाम में परमशान्ति को प्राप्त हो जाओगे।" लेकिन यह नहीं वताया कि कर्म है क्या? अव आपके भी समक्ष `कर्म' एक प्रश्न है। अर्जुन के मन में भी कर्म के प्रति जिज्ञासा हुई। तीसरे अध्याय के आरम्भ में ही उसने कर्म विषयक प्रश्न प्रस्तुत किया। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे `कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में `कर्म-जिज्ञासा' नामक दूसरा अध्याय पूर्ण हुआ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः `यथार्थ गीता' भाष्ये `कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ तृतीयोऽध्यायः

अध्याय दो में भगवान श्रीकृष्ण ने बताया कि यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानमार्ग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि युद्ध कर! जीतोगे तो महामहिम की स्थिति प्राप्त कर लोगे और हारोगे तो देवत्व है। जीत में सर्वस्व है और हार में भी देवत्व है, कुछ मिलता ही है। अतः इस दृष्टि से लाभ और हानि दोनों में कुछ-न-कुछ मिलता ही है, किञ्चित् भी क्षति नहीं है। फिर कहा - अब इसी को तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त होकर तू कर्मों के बन्धन से अच्छी प्रकार छूट जायेगा। फिर उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला। कर्म करते समय आवश्यक सावधानियों पर बल दिया कि फल की वासना वाला न हो, कामनाओं से रहित होकर कर्म में प्रवृत्त हो और कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो, जिससे तू कर्मबन्धन से मुक्त हो जायेगा। मुक्त तो होगा; किन्तु रास्ते में अपनी स्थिति नहीं दिखायी पड़ी।

अतः अर्जुन को निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग सरल और प्राप्तिवाला प्रतीत हुआ। उसने प्रश्न किया - जनार्दन! निष्काम कर्म की अपेक्षा ज्ञानमार्ग आपकी दृष्टि में श्रेष्ठ है तो मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं? प्रश्न स्वाभाविक था। मान लें, एक ही स्थान पर जाने के दो रास्ते हैं। यदि आपको वास्तव में जाना है, तो आप अवश्य प्रश्न करेंगे कि इनमें सुगम कौन है? यदि नहीं करते तो आप पथिक नहीं। ठीक इसी प्रकार अर्जुन ने भी प्रश्न रखा -

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

जनों पर दया करनेवाले जनार्दन! यदि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग आपको श्रेष्ठ मान्य है, तो हे केशव! आप मुझे भयंकर कर्मयोग में क्यों

लगाते हैं? निष्काम कर्मयोग में अर्जुन को भयंकरता दिखाई पड़ी; क्योंकि इसमें कर्म करने में ही अधिकार है, फल में कभी नहीं। कर्म करने में अश्रद्धा भी न हो और निरन्तर समर्पण के साथ योग पर दृष्टि रखते हुए कर्म में लगा रह।

जबकि ज्ञानमार्ग में हारोगे तो देवत्व है, जीतने पर महामहिम स्थिति है। अपनी लाभ-हानि स्वयं देखते हुए आगे बढ़ना है। इस प्रकार अर्जुन को निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानमार्ग सरल प्रतीत हुआ। इसलिए उसने निवेदन किया-

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

आप इन मिले हुए से वचनों से मेरी बुद्धि मोहित-सी करते हैं। आप तो मेरी बुद्धि का मोह दूर करने में प्रवृत्त हुए हैं। अतः इनमें से एक निश्चय करके कहिये, जिससे मैं `श्रेय' - परम कल्याण मोक्ष को प्राप्त हो जाऊँ। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा-

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

निष्पाप अर्जुन! इस संसार में सत्य-शोध की दो धाराएं मेरे द्वारा पहले कही गयी हैं। पहले का तात्पर्य कभी सत्ययुग या त्रेता में नहीं, बल्कि अभी जिसे दूसरे अध्याय में कह आये हैं। ज्ञानियों के लिए ज्ञानमार्ग और योगियों के लिए निष्काम कर्ममार्ग बताया गया। दोनों ही मार्गों के अनुसार कर्म तो करना ही पड़ेगा। कर्म अनिवार्य है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

अर्जुन! मनुष्य न तो कर्मों को न आरम्भ करने से निष्कर्मता की अन्तिम स्थिति को प्राप्त होता है और न आरम्भ की हुई क्रिया को त्यागने मात्र से भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धि को ही प्राप्त होता है। अब तुझे ज्ञानमार्ग अच्छा लगे या निष्काम कर्म-मार्ग, दोनों में कर्म तो करना ही पड़ेगा।

प्रायः इस स्थल पर लोग भगवत्पथ में संक्षिप्त मार्ग और बचाव ढूंढ़ने लगते हैं। "कर्म आरम्भ ही न करें, हो गये निष्कर्मी" - कहीं ऐसी भ्रान्ति न रह जाय, इसलिये श्रीकृष्ण बल देते हैं कि कर्मों को न आरम्भ करने से कोई निष्कर्म-भाव को नहीं प्राप्त होता। शुभाशुभ कर्मों का जहाँ अन्त है, परम निष्कर्मता की उस स्थिति को कर्म करके ही पाया जा सकता है। इसी प्रकार बहुत से लोग कहते हैं, "हम तो ज्ञानमार्गी हैं, ज्ञानमार्ग में कर्म है ही नहीं।" - ऐसा मानकर कर्मों को त्यागनेवाले ज्ञानी नहीं होते। आरंभ की हुई क्रिया को त्यागने मात्र से कोई भगवत्साक्षात्काररूपी परमसिद्धि को प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि -

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

कोई भी पुरुष किसी काल में क्षणमात्र भी कर्म किये विना नहीं रहता क्योंकि सभी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा विवश होकर कर्म करते हैं। प्रकृति और प्रकृति से उत्पन्न गुण जब तक जीवित हैं, तब तक कोई भी पुरुष कर्म किये विना रह ही नहीं सकता।

अध्याय चार के तैंतीसवें और सैंतीसवें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यावन्मात्र कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं, ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है। यहाँ वे कहते हैं कि कर्म किये बिना कोई रहता ही नहीं। अन्ततः वे महापुरुष कहते क्या हैं? उनका आशय है कि यज्ञ करते-करते तीनों गुणों से अतीत हो जाने पर मन के विलय और साक्षात्कार के साथ यज्ञ का परिणाम निकल जाने पर कर्म शेष हो जाते हैं। उस निर्धारित क्रिया की पूर्णता से पहले कर्म मिटते नहीं, प्रकृति पिण्ड नहीं छोड़ती।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

इतने पर भी विशेष रूप से मूढ़ लोग, जो कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से स्मरण करते रहते हैं वे मिथ्याचारी हैं, पाखण्डी हैं, न कि ज्ञानी। सिद्ध है कि कृष्ण-काल में भी ऐसी रूढ़ियाँ थीं। लोग करने योग्य क्रिया को छोड़कर इन्द्रियों को हठ से रोककर बैठ जाते थे और कहने लगते थे

कि मैं ज्ञानी हूँ, पूर्ण हूँ। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि वे धूर्त हैं। ज्ञानमार्ग अच्छा लगे या निष्काम कर्मयोग, दोनों ही मार्गों में कर्म तो करना ही पड़ेगा।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके, जब मन में भी वासनाओं का स्फुरण न हो, सर्वथा अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है। ठीक है, समझ में आया कि कर्म का आचरण करें; किन्तु यह प्रश्न खड़ा होता है कि कौन-सा कर्म करें? इस पर कहते हैं-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।८।।

अर्जुन! तू निर्धारित किये हुए कर्म को कर। अर्थात् कर्म तो बहुत से हैं, उनमें से कोई एक चुना हुआ है। उसी नियत कर्म को कर। कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है; इसलिए कि करते रहोगे, थोड़ी भी दूरी तय कर लोगे, तो जैसा पीछे बता आये हैं - महान् जन्म-मरण के भय से उद्धार करनेवाला है, इसलिये श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी। शरीर-यात्रा का अर्थ लोग कहते हैं - `शरीर-निर्वाह'। कैसा शरीर-निर्वाह? क्या आप शरीर हैं? यह पुरुष जन्म-जन्मान्तर से, युग-युगान्तरों से शरीर की यात्रा ही तो करता चला आ रहा है। जैसे वस्त्र जीर्ण हुआ तो दूसरा-तीसरा धारण किया, इसी प्रकार कीट-पंतग से मानव तक, ब्रह्मा से लेकर यावन्मात्र जगत् परिवर्तनशील है। ऊपर-नीचे योनियों में बराबर यह जीव शरीरों की ही तो यात्रा कर रहा है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है जो इस यात्रा को सिद्ध कर देती है, पूर्ण कर देती है। मान लें, एक ही जन्म लेना पड़ा तो यात्रा जारी है, अभी तो पथिक चल ही रहा है। वह दूसरे शरीरों की यात्रा कर रहा है। यात्रा पूर्ण तब होती है जब `गन्तव्य' आ जाय। परमात्मा में स्थिति के अनन्तर इस आत्मा को शरीरों की यात्रा नहीं करनी पड़ती अर्थात् शरीर-त्याग और शरीर-धारण वाला क्रम समाप्त हो जाता है। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है कि इस पुरुष को पुनः शरीरों की यात्रा नहीं करनी पड़ती। `मोक्ष्यसेऽशुभात्' (४/१६) अर्जुन! इस कर्म

को करके तू संसार-बन्धन `अशुभ' से छूट जायेगा। कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो संसार-बन्धन से मुक्ति दिलाती है। अब प्रश्न खड़ा होता है कि वह निर्धारित कर्म है क्या? इस पर कहते हैं-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह हरकत कर्म है, जिससे यज्ञ पू हो। सिद्ध है कि कर्म एक निर्धारित प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त जो कर्म होते हैं, क्या वे कर्म नहीं हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं - नहीं, वे कर्म नहीं हैं। `अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' - इस यज्ञ की प्रक्रिया के अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ भी किया जाता है, सारा जगत् जिसमें रात-दिन व्यस्त है, वह इसी लोक का एक बन्धन है, न कि कर्म। कर्म तो `मोक्ष्यसेऽशुभात्' - अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से छुटकारा दिलाने वाला है। मात्र यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। वह हरकत कर्म है, जिससे यज्ञ पूरा होता है। अतः अर्जुन! उस यज्ञ की पूर्ति के लिए संग-दोष से अलग रहकर भली प्रकार कर्म का आचरण कर। संग-दोष से अलग हुए बिना यह कर्म होता ही नहीं।

अब हम समझ गये कि यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है; किन्तु यहाँ पुनः एक नवीन प्रश्न उत्पन्न हो गया कि वह यज्ञ क्या है, जिसे किया जाय? इसके लिए पहले यज्ञ को न बताकर श्रीकृष्ण बताते हैं कि यज्ञ आया कहाँ से? वह देता क्या है? उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डाला और चौथे अध्याय में जाकर स्पष्ट किया कि यज्ञ क्या है, जिसे हम कार्यरूप दें और हमसे कर्म होने लगे। योगेश्वर श्रीकृष्ण की शैली से स्पष्ट है कि जिस वस्तु का चित्रण करना है, वे पहले उसकी विशेषताओं का चित्रण करते हैं जिससे श्रद्धा जागृत हो। तत्पश्चात् वे उसमें बरती जानेवाली सावधानियों पर प्रकाश डालते हैं और अन्त में मुख्य सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।

स्मरण रहे कि यहाँ पर श्रीकृष्ण ने कर्म के दूसरे अंग पर प्रकाश डाला कि कर्म एक निर्धारित क्रिया है। जो कुछ किया जाता है, वह कर्म नहीं है।

अध्याय दो में पहली बार कर्म का नाम लिया, उसकी विशेषताओं पर बल

दिया, उसमें बरती जानेवाली सावधानियों पर प्रकाश डाला; लेकिन यह नहीं बताया कि कर्म क़्या है? यहाँ अध्याय तीन में बताया कि कोई वगैर कर्म किये नहीं रहता। प्रकृति से पराधीन होकर मनुष्य कर्म करता है। इसके वावजूद भी जो लोग इन्द्रियों को हठ से रोककर मन से विषयों का चिन्तन करते हैं, वे दम्भी हैं, दम्भ का आचरण करनेवाले हैं। इसलिए अर्जुन! मन से इन्द्रियों को समेटकर तू कर्म कर। किन्तु प्रश्न ज्यों-का-त्यों है कि कौन-सा कर्म करें? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! तू निर्धारित किये हुए कर्म को कर।

अव प्रश्न उठता है कि निर्धारित कर्म क्या है, जिसे हम करें? तव वताया कि यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है। अव प्रश्न उठता है कि वह यज्ञ क्या है? यहाँ यज्ञ की उत्पत्ति, विशेषता वताकर शान्त हो जायेंगे और आगे अध्याय चार में यज्ञ का निखरा हुआ रूप मिलेगा, जिसे करना कर्म है।

कर्म की यह परिभाषा गीता को समझने की कुंजी है। यज्ञ के अतिरिक्त दुनिया में लोग कुछ-न-कुछ करते ही रहते हैं। कोई खेती करता है, तो कोई व्यापार। कोई पदासीन है, तो कोई सेवक। कोई अपने को बुद्धिजीवी कहता है,तो कोई श्रमजीवी। कोई समाज-सेवा को कर्म मानता है, तो कोई देश-सेवा को और इन्हीं कर्मों में लोग सकाम और निष्काम कर्म की भूमिका भी वनाये पड़े हैं। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं, ये कर्म नहीं हैं। `अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' - यज्ञ की प्रक्रिया के सिवाय जो कुछ भी किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धनकारी कर्म है, न कि मोक्षद कर्म। वस्तुतः यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। अब यज्ञ न बताकर पहले यह वताते हैं कि यज्ञ आया कहाँ से-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

प्रजापति व्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा वृद्धि को प्राप्त होओ। यह यज्ञ तुमलोगों की `इष्टकामधुक्' - जिसमें अनिष्ट न हो, विनाशरहित इष्ट-सम्वन्धी कामना की पूर्ति करेगा।

यज्ञसहित प्रजा को किसने रचा? प्रजापति व्रह्मा ने। व्रह्मा कौन? क्या चार मुख और आठ आँखोंवाला देवता, जैसा कि प्रचलित है? नहीं, श्रीकृष्ण के

अनुसार देवता नाम की कोई अलग सत्ता है ही नहीं। फिर प्रजापति कौन है? वस्तुतः जिसने प्रजा के मूल उद्गम परमात्मा में प्रवेश पा लिया है, वह महापुरुष प्रजापति है। बुद्धि ही ब्रह्मा है - `अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान।' (रामचरित मानस) उस समय बुद्धि यन्त्र मात्र होती है। उस पुरुष की वाणी में परमात्मा ही बोलता है।

भजन की वास्तविक क्रिया प्रारम्भ हो जाने पर बुद्धि का उत्तरोत्तर उत्थान होता है। प्रारम्भ में वह बुद्धि ब्रह्मविद्या से संयुक्त होने के कारण `ब्रह्मवित्' कही जाती है। क्रमशः विकारों का शमन होने पर ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठ होने पर वह `ब्रह्मविद्वर' कही जाती है। उत्थान और सूक्ष्म हो जाने पर बुद्धि की अवस्था विकसित हो जाती है। वह `ब्रह्मविद्वरीयान्' कहलाती है। उस अवस्था में ब्रह्मविद्वेत्ता पुरुष दूसरों को भी उत्थान मार्ग पर लाने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। बुद्धि की पराकाष्ठा है - `ब्रह्मविद्वरिष्ट' अर्थात् ब्रह्मवित् की वह अवस्था, जिसमें इष्ट प्रवाहित है। ऐसी स्थितिवाले महापुरुष प्रजा के मूल उद्गम परमात्मा में प्रविष्ट और स्थित रहते हैं। ऐसे महापुरुषों की बुद्धि मात्र यन्त्र है। वे ही प्रजापति कहलाते हैं। वे प्रकृति के द्वन्द्व का विश्लेषण कर `आराधना-क्रिया' की रचना करते हैं। यज्ञ के अनुरूप संस्कारों का देना ही प्रजा की रचना है। इससे पूर्व समाज अचेत अव्यवस्थित रहता है। सृष्टि अनादि है। संस्कार पहले से ही हैं; किन्तु अस्त-व्यस्त विकृत हैं। यज्ञ के अनुरूप उन्हें ढालना ही रचना या सजाना है।

ऐसे महापुरुष ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजा की रचना की। कल्प नीरोग बनाता है। वैद्य कल्प देते हैं, कोई कायाकल्प करता है। यह क्षणिक शरीरों का कल्प है। वास्तविक कल्प तो तब है, जब भवरोग से मुक्ति मिल जाय। आराधना का प्रारंभ इस कल्प की शुरुआत है। आराधना पूर्ण हुई, तो आपका कल्प पूरा हो गया।

इस प्रकार परमात्म स्वरूपस्थ महापुरुषों ने भजन के प्रारम्भ में यज्ञसहित संस्कारों को सुसंगठित कर कहा कि इस यज्ञ से तुम वृद्धि को प्राप्त होओ। कैसी वृद्धि? क्या मकान कच्चे से पक्का बन जायेगा? आय अधिक होने लगेगी? नहीं, यज्ञ `इष्टकामधुक्' - इष्टसम्बन्धी कामना की पूर्ति करेगा। इष्ट है

परमात्मा। उस परमात्मा-सम्बन्धी कामना की पूर्तिवाला है। प्रश्न स्वाभाविक है कि यज्ञ सीधे उस परमात्मा की प्राप्ति करा देगा अथवा क्रम-क्रम से चलकर?

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो अर्थात् दैवी सम्पद् की वृद्धि करो। वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करेंगे। इस प्रकार आपस में वृद्धि करते हुए परमश्रेय, जिसके बाद कुछ भी पाना शेष न रहे, ऐसे परमकल्याण को प्राप्त हो जाओ। ज्यो-ज्यों हम यज्ञ में प्रवेश करेंगे, (आगे यज्ञ का अर्थ होगा, आराधना की विधि) त्यों-त्यों हृदयदेश में दैवी सम्पद् अर्जित होती चली जायेगी। परमदेव एकमात्र परमात्मा है, उस परमदेव में प्रवेश दिला देनेवाली जो सम्पद् है, अन्तःकरण की जो सजातीय प्रवृत्ति है उसी को 'दैवी सम्पद्' कहते हैं; वह परमदेव को सम्भव करती है इसलिये दैवी सम्पद् कही जाती है, न कि बाहरी देवता-पत्थर-पानी, जैसा लोग कल्पना कर लेते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में उनका कोई अस्तित्व नहीं है। आगे कहते हैं -

इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

यज्ञ द्वारा संवर्धित देवता (दैवी सम्पद्) आपको 'इष्टान् भोगान् हि दास्यन्ते' - इष्ट अर्थात् आराध्य-सम्बन्धी भोगों को देंगे, अन्य कुछ नहीं। 'तैः दत्तान्' - वे ही एकमात्र देनेवाले हैं। इष्ट को पाने का अन्य कोई विकल्प नहीं है। इन दैवी गुणों को बिना बढ़ाये जो इस स्थिति का भोग करता है वह निश्चय ही चोर है। जब उसने पाया ही नहीं, तो भोगेगा क्या? किन्तु कहता अवश्य है कि हम तो पूर्ण हैं, तत्त्वदर्शी हैं। ऐसी डींग मारनेवाला इस पथ से मुँह छिपानेवाला है। वह निश्चय ही चोर है, न कि प्राप्तिवाला। किन्तु पानेवाले क्या पाते हैं?

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खानेवाले संतजन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। दैवी सम्पद् की वृद्धि करते-करते परिणाम में प्राप्तिकाल ही पूर्तिकाल है। जब यज्ञ पूर्ण हो गया, तो शेष बचा हुआ ब्रह्म ही अन्न है। इसी को श्रीकृष्ण ने दूसरे शब्दों में कहा - 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' - यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है उस अशन को पान करने वाला ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ वे कहते हैं कि यज्ञ से शेष बचे हुए अशन को (ब्रह्म-पीयूष को) पान करनेवाला सब पापों से छुटकारा पा जाता है। सन्तजन तो छूट जाते हैं; किन्तु पापी लोग मोह के माध्यम से उत्पन्न शरीरों के लिये पचते हैं। वे पाप खाते हैं। उन्होंने भजन भी किया, आराधना को समझा, अग्रसर भी हुए; किन्तु बदले में एक मीठी सी चाह पैदा हो गयी कि 'आत्मकारणात्'-शरीर के लिये और शरीर के सम्बन्धों को लेकर कुछ मिले। उसे मिल तो जायेगा; किन्तु उतने भोग के पश्चात् वह अपने को वहीं खड़ा पायेगा, जहाँ से चलना प्रारम्भ किया था। इससे बड़ी क्षति क्या होगी? जब शरीर ही नश्वर है, तो इसके सुख-भोग कब तक साथ देंगे? वे आराधना तो करते हैं; किन्तु बदले में पाप ही खाते हैं - 'पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं।' वह नष्ट तो नहीं होगा, किन्तु आगे नहीं बढ़ेगा। इसलिये श्रीकृष्ण निष्काम भाव से कर्म (भजन) करने पर बल देते हैं। अभी तक श्रीकृष्ण ने बताया कि यज्ञ परमश्रेय देता है और उसकी रचना महापुरुषों द्वारा होती है; किन्तु वे महापुरुष प्रजा की रचना में क्यों प्रवृत्त होते हैं? इस पर कहते हैं -

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं। अन्नं ब्रह्म व्यजानात् - अन्न परमात्मा ही है। उस ब्रह्मपीयूष को ही उद्देश्य बनाकर प्राणी यज्ञ की ओर अग्रसर होता है। अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। बादलों से होनेवाली वर्षा नहीं अपितु कृपा-वृष्टि। पूर्व संचित यज्ञ-कर्म ही इस जन्म में, जहाँ से साधन छूटा था, वहीं से इष्ट-कृपा के रूप में बरस पड़ता है। आज की आराधना कल कृपा के रूप

में मिलेगी। इसीलिये वृष्टि यज्ञ से होती है। स्वाहा बोलने और तिल-जौ जलाने से ही वृष्टि होती तो विश्व की अधिकांश मरुभूमि ऊसर क्यों रहती? उर्वर बन जाती। यहाँ कृपावृष्टि यज्ञ की देन है। यह यज्ञ कर्मों से ही उत्पन्न होनेवाला है, कर्म से यज्ञ पूर्ण होता है।

उस कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जान। वेद ब्रह्मस्थित महापुरुषों की वाणी है। जो तत्त्व विदित नहीं है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति का नाम वेद है, न कि कुछ श्लोक-संग्रह। वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ जान। कहा तो महात्माओं ने; किन्तु वे परमात्मा के साथ तद्रूप हो चुके हैं, उनके माध्यम से अविनाशी परमात्मा ही बोलता है इसलिये वेद अपौरुषेय कहे जाते हैं। महापुरुष वेद कहाँ से पा गये? तो वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ। वे महापुरुष उसके तद्रूप हैं, वे मात्र यन्त्र हैं इसलिये उनके द्वारा वही बोलता है। क्योंकि यज्ञ के द्वारा ही मन के निरोधकाल में वह विदित होता है। इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सर्वदा यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है। यज्ञ ही उसे पाने का एकमात्र उपाय है। इसी पर वल देते हैं -

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

हे पार्थ! जो पुरुष इसी लोक में मनुष्य-शरीर प्राप्त कर इस प्रकार चलाये हुए साधन-चक्र के अनुसार नहीं वरतता अर्थात् दैवी सम्पद् का उत्कर्ष, देवताओं की वृद्धि और परस्पर वृद्धि के द्वारा अक्षयधाम को प्राप्त करना - इस क्रम के अनुसार जो नहीं बरतता, इन्द्रियों का आराम चाहनेवाला वह 'पापायु पुरुष' व्यर्थ ही जीता है।

बन्धुओ! योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अध्याय दो में कर्म का नाम लिया और इस अध्याय में बताया कि नियत कर्म का आचरण कर। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इसके सिवाय जो कुछ किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है। इसीलिए संग-दोष से अलग रहकर उस यज्ञ की पूर्ति के लिए कर्म का आचरण कर। उन्होंने यज्ञ की विशेषताओं पर प्रकाश डाला और बताया कि यज्ञ की उत्पत्ति ब्रह्मा से है। प्रजा अन्न को उद्देश्य बनाकर उस यज्ञ में प्रवृत्त होती है। यज्ञ कर्म से और कर्म अपौरुषेय वेद से उत्पन्न होते हैं, जबकि वेद-मन्त्रों के द्रष्टा महापुरुष ही थे। उनका पुरुष तिरोहित हो चुका था। प्राप्ति के साथ अविनाशी परमात्मा ही शेष बचा था इसलिए वेद परमात्मा से उत्पन्न हैं। सर्वव्यापी परमात्मा यज्ञ में सर्वदा प्रतिष्ठित है। इस

साधन-चक्र के अनुसार जो नहीं बरतता, वह पापायु पुरुष इन्द्रियों का सुख चाहनेवाला है, व्यर्थ ही जीता है। अर्थात् यज्ञ ऐसी विधि विशेष है, जिसमें इन्द्रियों का आराम नहीं है अपितु अक्षय सुख है। इन्द्रियों के संयम के साथ इसमें लगने का विधान है। इन्द्रियों का आराम चाहनेवाले पापायु हैं। अभी तक श्रीकृष्ण ने नहीं बताया है कि यज्ञ है क्या? परन्तु क्या यज्ञ करते ही रहेंगे या इसका कभी अन्त भी होगा। इस पर योगेश्वर कहते हैं -

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रत, आत्मतृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं रह जाता। यही तो लक्ष्य था। जब अव्यक्त, सनातन, अविनाशी आत्मतत्त्व प्राप्त हो गया तो आगे ढूँढ़े किसे? ऐसे पुरुष के लिए न कर्म की आवश्यकता है, न किसी आराधना की। आत्मा और परमात्मा एक दूसरे के पर्याय हैं। इसी का पुनः चित्रण करते हैं -

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

इस संसार में उस पुरुष का कर्म किये जाने से कोई लाभ नहीं है और न छोड़ देने से कोई हानि है, जबकि पहले आवश्यक था। उसका सम्पूर्ण प्राणियों में कोई स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं रह जाता। आत्मा ही तो शाश्वत, सनातन, अव्यक्त, अपरिवर्तनशील और अक्षय है। जब उसी को पा लिया, उसी से सन्तुष्ट, उसी से तृप्त, उसी में ओत-प्रोत और स्थित है; आगे कोई सत्ता ही नहीं, तो किसको खोजे? मिलेगा क्या? उस पुरुष के लिए कर्म छोड़ देने से कोई हानि भी नहीं है; क्योंकि विकार जिस पर अंकित होते हैं, वह चित्त ही न रहा। उसका सम्पूर्ण भूतों में, बाह्य जगत् और आन्तरिक संकल्पों की परत में लेशमात्र भी अर्थ नहीं रहता। सबसे बड़ा अर्थ तो था परमात्मा। जब वही उपलब्ध है, तो दूसरों से उसका क्या प्रयोजन होगा?

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए तू अनासक्त हुआ निरन्तर 'कार्यंकर्म' -

जो करने योग्य कर्म है, उस कर्म को अच्छी प्रकार कर। क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म के आचरण से परमात्मा को प्राप्त होता है। `नियत कर्म', `कार्यं कर्म' एक ही है। कर्म की प्रेरणा देते हुए वे पुनः कहते हैं -

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

जनक माने राजा जनक नहीं। जनक जन्मदाता को कहते हैं। योग ही जनक है जो आपके स्वरूप को जन्म देता है, प्रकट करता है। योग से संयुक्त प्रत्येक महापुरुष जनक हैं। ऐसे योग-संयुक्त बहुत से ऋषियों `जनकादयः' - जनक इत्यादि ज्ञानीजन महापुरुष भी `कर्मणा एव हि संसिद्धिम्' - कर्मों के द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। परमसिद्धि माने परमतत्त्व परमात्मा की प्राप्ति। जनक इत्यादि जितने भी पूर्व में होनेवाले महर्षि हुए हैं, इस `कार्यं कर्म' के द्वारा जो यज्ञ की प्रक्रिया है, इस कर्म को करके ही `संसिद्धिम्' - परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। किन्तु प्राप्ति के पश्चात् वे भी लोक-संग्रह को देखकर कर्म करते हैं, लोकहित को चाहते हुए कर्म करते हैं। अतः तू भी प्राप्ति के लिए और प्राप्ति के पश्चात् लोकनायक बनने के लिए कार्य कर्म करने के ही योग्य है। क्यों?

अभी श्रीकृष्ण ने कहा था कि प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष का कर्म करने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है, फिर भी लोकसंग्रह, लोकहित-व्यवस्था के लिए वे भली प्रकार नियत कर्म का ही आचरण करते हैं-

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसके अनुसार ही करते हैं। वह महापुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, संसार उसका अनुसरण करता है।

पहले श्रीकृष्ण ने स्वरूप में स्थित, आत्मतृप्त महापुरुष की रहनी पर प्रकाश डाला कि उसके लिए कर्म किये जाने से न कोई लाभ और न छोड़ने से कोई हानि, फिर भी जनकादि कर्म में भली प्रकार बरतते थे। यहाँ उन महापुरुषों से श्रीकृष्ण धीरे से अपनी तुलना कर देते हैं कि मैं भी एक महापुरुष हूँ।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

हे पार्थ! मुझे तीनों लोकों में कोई कर्तव्य नहीं है। पीछे कह आये हैं-उस महापुरुष का समस्त भूतों में कोई कर्तव्य नहीं है। यहाँ कहते हैं - तीनों लोकों में मुझे कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं है तथा किंचित्मात्र प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं है, तब भी मैं कर्म में भली प्रकार बरतता हूँ। क्यों?

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कदाचित् कर्म में न बरतूँ तो मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बरतने लग जायेंगे। तो क्या आपका अनुकरण भी बुरा है? श्रीकृष्ण कहते हैं - हाँ!

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जायँ और मैं 'संकरस्य' - वर्णसंकर का करनेवाला होऊँ तथा इन सारी प्रजा का हनन करनेवाला, मारनेवाला बनूँ।

स्वरूप में स्थित महापुरुष सतर्क रहकर यदि आराधना-क्रम में न लगे रहें, तो समाज उनकी नकल करके भ्रष्ट हो जायेगा। महापुरुष ने तो आराधना पूर्ण करके परम नैष्कर्म्य की स्थिति को पाया है। वे न करें तो उनके लिए कोई हानि नहीं है; किन्तु समाज ने तो अभी आराधना आरम्भ ही नहीं की। पीछेवालों के मार्ग-दर्शन के लिए ही महापुरुष कर्म करते हैं, मैं भी करता हूँ अर्थात् श्रीकृष्ण एक महापुरुष थे, न कि वैकुण्ठ से आये हुए कोई विशेष भगवान्। उन्होंने कहा कि महापुरुष लोकसंग्रह के लिए कर्म करता है, मैं भी करता हूँ। यदि न करूँ तो लोगों का पतन हो जाय, सभी कर्म छोड़ बैठेंगे।

मन बड़ा चंचल है। यह सब कुछ चाहता है, केवल भजन नहीं चाहता। यदि स्वरूपस्थ महापुरुष कर्म न करें, तो देखा-देखी पीछे वाले भी तुरन्त कर्म छोड़ देंगे। उन्हें बहाना मिल जाय कि ये भजन नहीं करते, पान खाते हैं, इत्र लगाते हैं,

सामान्य बातें करते हैं फिर भी महापुरुष कहलाते हैं - ऐसा सोचकर वे भी आराधना से हट जाते हैं, पतित हो जाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ, तो सब भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकर का कर्त्ता बनूँ।

स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर तो देखा-सुना जाता है। अर्जुन भी इसी भय से विकल था कि स्त्रियां दूषित होंगी तो वर्णसंकर पैदा होंगे; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं - यदि मैं सावधान होकर आराधना में लगा न रहूँ, तो वर्णसंकर का कर्त्ता होऊँ। वस्तुतः आत्मा का शुद्ध वर्ण है - परमात्मा। अपने शाश्वत स्वरूप के पथ से भटक जाना वर्णसंकरता है। यदि स्वरूपस्थ महापुरुष क्रिया में नहीं बरतता तो लोग उनके अनुकरण में क्रियारहित हो जायेंगे, आत्मपथ से भटक जायेंगे, वर्णसंकर हो जायेंगे। वे प्रकृति में खो जायेंगे।

स्त्रियों का सतीत्व एवं नस्ल की शुद्धता एक सामाजिक व्यवस्था है, अधिकारों का प्रश्न है। समाज के लिए उसकी उपयोगिता भी है, किन्तु माता-पिता की भूलों का सन्तान की साधना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। 'आपन करनी पार उतरनी' हनुमान, व्यास, वशिष्ठ, नारद, शुकदेव, कबीर, ईसा इत्यादि अच्छे महापुरुष हुए, जबकि सामाजिक कुलीनता से इनका सम्पर्क नहीं है। आत्मा अपने पूर्वजन्म के गुण-धर्म लेकर आता है। श्रीकृष्ण कहते हैं - 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।' (१५/७) मनसहित इन्द्रियों से जो कार्य इस जन्म में होता है, उनके संस्कार लेकर जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर नवीन शरीर में प्रवेश कर जाता है। इसमें जन्मदाताओं का क्या लगा? उनके विकास में कोई अन्तर नहीं आया। अतः स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर नहीं होता। स्त्रियों के दूषित होने और वर्णसंकर से कोई सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध स्वरूप की ओर अग्रसर न होकर प्रकृति में बिखर जाना ही वर्णसंकर है।

यदि महापुरुष सावधान होकर क्रिया (नियत कर्म) में बरतते हुए लोगों से क्रिया न कराये तो वह उस सारी प्रजा का हनन करनेवाला, मारनेवाला बने। साधना-क्रम में चलकर उस मूल अविनाशी की प्राप्ति ही जीवन है और प्रकृति में बिखरे रहना, भटक जाना मृत्यु है; किन्तु वह महापुरुष इस सारी प्रजा को यदि क्रिया-पथ पर नहीं चलाता, उस सारी प्रजा को बिखराव से रोककर सत्पथ

पर नहीं चलाता तो वह सारी प्रजा का हनन करनेवाला हत्यारा है, हिंसक है और क्रमशः चलते हुए जो चला लेता है वह शुद्ध अहिंसक है। गीता के अनुसार शरीर का निधन, नश्वर कलेवरों का निधन मात्र परिवर्तन है, हिंसा नहीं।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

हे भारत! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान, पूर्ण ज्ञाता भी लोक-हृदय में प्रेरणा और कल्याण-संग्रह चाहता हुआ कर्म करे। यज्ञ की विधि जानते और करते हुए भी हम अज्ञानी हैं। ज्ञान का अर्थ है प्रत्यक्ष जानकारी। जब तक लेशमात्र भी हम अलग हैं, आराध्य अलग है तब तक अज्ञान विद्यमान है। जब तक अज्ञान है, तब तक कर्म में आसक्ति रहती है। अज्ञानी जितनी आसक्ति से आराधना करता है, उसी प्रकार अनासक्त। जिसे कर्मों से प्रयोजन नहीं है तो आसक्ति क्यों होगी, ऐसा पूर्ण ज्ञाता महापुरुष भी लोक-हित के लिए कर्म करे, दैवी सम्पद् का उत्कर्ष करे, जिससे समाज उस पर चल सके।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

ज्ञानी पुरुषों को चाहिए कि कर्मों में आसक्तिवाले अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम न पैदा करें अर्थात् स्वरूपस्थ महापुरुष ध्यान दें कि उनके किसी आचरण से पीछेवालों के मन में कर्म के प्रति अश्रद्धा न उत्पन्न हो जाय। परमात्म तत्त्व से संयुक्त महापुरुष को भी चाहिए कि स्वयं भली प्रकार नियत कर्म करता हुआ उनसे करावे।

यही कारण था कि 'पूज्य महाराज जी' वृद्धावस्था में भी रात के दो बजे ही उठकर बैठ जायँ, खाँसने लगें। तीन बजे बोलने लगें - "उठो, मिट्टी के पुतलों!" सब उठकर चिन्तन में लग जायँ, तो स्वयं थोड़ा लेट जायँ। कुछ देर बाद फिर उठकर बैठ जायँ। कहें - "तुम लोग सोचते हो कि महाराज सो रहे हैं, किन्तु मैं सोता नहीं, श्वास में लगा हूँ। वृद्धावस्था का शरीर है, बैठने में कष्ट

होता है इसी से मैं पड़ा रहता हूँ; लेकिन तुम्हें तो स्थिर और सीधे बैठकर चिन्तन में लगना है। जब तक तैल-धारा के सदृश श्वास की डोरी न लग जाय, क्रम न टूटे, अन्य संकल्प बीच में व्यवधान उत्पन्न न कर सकें तब तक सतत् लगे रहना साधक का धर्म है। मेरी श्वास तो बाँस की तरह स्थिर खड़ी है।" यही कारण है कि अनुयायियों से कराने के लिए वह महापुरुष भली प्रकार कर्म में वरतता है। `जिस गुन को सिखावै, उसे करके दिखावै।'

इस प्रकार स्वरूपस्थ महापुरुष को भी चाहिए कि स्वयं कर्म करता हुआ साधकों को भी आराधना में लगाये रहे। साधक भी श्रद्धापूर्वक आराधना में लगें; किन्तु चाहे ज्ञानयोगी हो अथवा समर्पण भाववाला निष्काम कर्मयोगी हो, साधक में साधना का अहंकार नहीं आना चाहिए। कर्म किसके द्वारा होते हैं, उसके होने में कौन कारण हैं? - इस पर श्रीकृष्ण प्रकाश डालते हैं-

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

आरम्भ से पूर्तिपर्यन्त कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं फिर भी अहंकार से विशेष मूढ़ पुरुष `मैं कर्त्ता हूँ' - ऐसा मान लेता है। यह कैसे माना जाय कि आराधना प्रकृति के गुणों द्वारा होती है? ऐसा किसने देखा? इस पर कहते हैं -

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

हे महाबाहो! गुण और कर्म के विभाग को `तत्त्ववित्' - परमतत्त्व परमात्मा की जानकारीवाले महापुरुषों ने देखा और सम्पूर्ण गुण, गुणों में बरत रहे हैं - ऐसा मानकर वे गुण और कर्मों के कर्त्तापन में आसक्त नहीं होते।

यहाँ तत्त्व का अर्थ परमतत्त्व परमात्मा है न कि पाँच या पचीस तत्त्व, जैसा कि लोग गणना करते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण के शब्दों में तत्त्व एकमात्र परमात्मा है, अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं। गुणों को पार करके परमतत्त्व परमात्मा में स्थित महापुरुष गुण के अनुसार कर्मों का विभाजन देख पाते हैं। तामसी गुण रहेगा तो

उसका कार्य होगा - आलस्य, निद्रा, प्रमाद, कर्म में प्रवृत्त न होने का स्वभाव। राजसी गुण रहेंगे तो आराधना से पीछे न हटने का स्वभाव, शौर्य, स्वामीभाव से कर्म होगा और सात्त्विक गुण कार्यरत होने पर ध्यान, समाधि, अनुभवी उपलब्धि, धारावाहिक चिन्तन, सरलता स्वभाव में होगी। गुण परिवर्तनशील हैं। प्रत्यक्षदर्शी ज्ञानी ही देख पाता है कि गुणों के अनुरूप कर्मों का उत्कर्ष-अपकर्ष होता है। गुण अपना कार्य करा लेते हैं, अर्थात् गुण गुणों में बरतते हैं - ऐसा समझकर वह प्रत्यक्ष द्रष्टा कर्म में आसक्त नहीं होता। किन्तु जिन्होंने गुणों का पार नहीं पाया, जो अभी रास्ते में हैं उन्हें तो कर्म में आसक्त रहना है। इसलिए-

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मों में क्रमशः निर्मल गुणों की ओर उन्नति देखकर उनमें आसक्त होते हैं। उन अच्छी प्रकार न समझनेवाले 'मन्दान्' - शिथिल प्रयत्नवालों को अच्छी प्रकार जाननेवाला ज्ञानी चलायमान न करें। उन्हें हतोत्साहित न करें बल्कि प्रोत्साहन दें; क्योंकि कर्म करके ही उन्हें परम नैष्कर्म्य की स्थिति पाना है। अपनी शक्ति और स्थिति का आकलन करके कर्म में प्रवृत्त होनेवाले ज्ञानमार्गी साधकों को चाहिए कि कर्म को गुणों की देन मानें, अपने को कर्त्ता मानकर अहंकारी न बन जायँ, निर्मल गुणों के प्राप्त होनेपर भी उनमें आसक्त न हों। किन्तु निष्काम कर्मयोगी को कर्म और गुणों के विश्लेषण में समय देने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसे तो बस समर्पण के साथ कर्म करते जाना है। कौन गुण आ-जा रहा है, यह देखना इष्ट की जिम्मेदारी हो जाती है। गुणों का परिवर्तन और क्रम-क्रम से उत्थान वह इष्ट की ही देन मानता है और कर्म होने को भी उन्हीं की देन मानता है। अतः कर्त्तापन का अहंकार या गुणों में आसक्ति होने की समस्या उसके लिए नहीं रहती, जबकि अनवरत लगा रहता है। इसी पर और साथ ही युद्ध का स्वरूप बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

इसलिए अर्जुन! तू `अध्यात्मचेतसा' अन्तरात्मा में चित्त का निरोध करके, ध्यानस्थ होकर सम्पूर्ण कर्मों का मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर। जब चित्त ध्यान में स्थित है, लेशमात्र भी कहीं आशा नहीं, कर्म में ममत्व नहीं है, असफलता का सन्ताप नहीं है तो वह पुरुष कौन-सा युद्ध करेगा? जब सब ओर से चित्त सिमटकर हृदय-देश में निरुद्ध होता जा रहा है तो वह लड़ेगा किसलिये, किससे और वहाँ है कौन? वास्तव में जब आप ध्यान में प्रवेश करेंगे, तभी युद्ध का सही स्वरूप खड़ा होता है, तो काम-क्रोध, राग-द्वेष, आशा-तृष्णा इत्यादि विकारों का समूह, विजातीय प्रवृत्तियाँ जो `कुरु' कहलाती हैं, संसार में प्रवृत्ति देती ही रहती हैं। बाधा के रूप में भयंकर आक्रमण करती हैं। बस इनका पार पाना ही युद्ध है। इनको मिटाते हुए अन्तरात्मा में सिमटते जाना, ध्यानस्थ होते जाना ही यथार्थ युद्ध है। इसी पर पुनः बल देते हैं-

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

अर्जुन! जो कोई मनुष्य दोष-दृष्टि से रहित होकर, श्रद्धाभाव समर्पण से संयुक्त हुआ सदा मेरे इस मत के अनुसार बरतते हैं कि `युद्ध कर' वे पुरुष भी सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाते हैं। योगेश्वर का यह आश्वासन किसी हिन्दू, मुसलमान या ईसाई के लिए नहीं अपितु मानव मात्र के लिए है। उनका मत है कि युद्ध कर! इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपदेश युद्धवालों के लिए था। अर्जुन के समक्ष सौभाग्य से विश्वयुद्ध की संरचना थी आपके सामने तो कोई युद्ध नहीं है। आप गीता के पीछे क्यों पड़े हैं; क्योंकि कर्मों से छूटने का उपाय तो युद्ध करनेवालों के लिए है। किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। वस्तुतः यह अन्तर्देश की लड़ाई है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का, विद्या और अविद्या का, धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र का संघर्ष है। आप ज्यों-ज्यों ध्यान में चित्त का निरोध करेंगे, विजातीय प्रवृत्ति बाधा के रूप में प्रत्यक्ष होती है, भयंकर आक्रमण करती है। उसका शमन करते हुए चित्त का निरोध करते जाना ही युद्ध है। जो दोष-दृष्टि से रहित होकर श्रद्धा के साथ इस युद्ध में लगता है वह कर्मों के बन्धन से, आवागमन से भली प्रकार छुटकारा पा

जाता है। जो इस युद्ध में प्रवृत्त नहीं होता, उसकी क्या गति होती है? इस पर कहते हैं-

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

जो दोष-दृष्टिवाले `अचेतसः' - मोह-निशा में अचेत लोग मेरे इस मत के अनुसार नहीं बरतते अर्थात् ध्यानस्थ होकर आशा, ममता, सन्तापरहित होकर समर्पण के साथ युद्ध नहीं करते, `सर्वज्ञानविमूढान्' - ज्ञान-पथ में सर्वथा मोहित उन लोगों को तू कल्याण से भ्रष्ट हुआ ही जान। जब यही सही है तो लोग करते क्यों नहीं? इस पर कहते हैं-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

सभी प्राणी अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, अपने स्वभाव से परवश होकर कर्म में भाग लेते हैं। प्रत्यक्षदर्शी ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है। प्राणी अपने कर्मों में बरतते हैं और ज्ञानी अपने स्वरूप में। जैसा जिसकी प्रकृति का दबाव है, वैसा ही कार्य करता है। यह स्वयं सिद्ध है। इसमें निराकरण कोई क्या करेगा? यही कारण है कि सभी लोग मेरे मत के अनुसार कर्म में प्रवृत्त नहीं हो पाते। वे आशा, ममता, संताप का दूसरे शब्दों में राग-द्वेष का त्याग नहीं कर पाते, जिससे कर्म का सम्यक् आचरण नहीं हो पाता। इसी को और स्पष्ट करते हैं और दूसरा कारण बताते हैं-

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

इन्द्रिय और इन्द्रियों के भोगों में राग और द्वेष स्थित हैं। इन दोनों के वश में नहीं होना चाहिए; क्योंकि इस कल्याण-मार्ग में कर्मों से छूट जानेवाली प्रणाली में ये राग और द्वेष दुर्धर्ष शत्रु हैं, आराधना का अपहरण कर ले जाते हैं। जब शत्रु भीतर हैं तो बाहर कोई किसी से क्यों लड़ेगा? शत्रु तो इन्द्रिय और भोगों के संसर्ग में हैं, अन्तःकरण में हैं। अतः यह युद्ध भी अन्तःकरण का युद्ध है;

क्योंकि शरीर ही क्षेत्र है, जिसमें सजातीय-विजातीय दोनों प्रवृत्तियाँ, विद्या और अविद्या रहती हैं, जो माया के दो अंग हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों का पार पाना, सजातीय प्रवृत्ति को साधकर विजातीय का अन्त करना युद्ध है। विजातीय समाप्त होने पर सजातीय का उपयोग समाप्त हो जाता है। स्वरूप का स्पर्श करके सजातीय का भी उसके अन्तराल में विलय हो जाना, इस प्रकार प्रकृति का पार पाना युद्ध है, जो ध्यान में ही सम्भव है।

राग-द्वेष के शमन में समय लगता है, इसलिए बहुत से साधक क्रिया को छोड़कर सहसा महापुरुष की नकल करने लग जाते हैं। श्रीकृष्ण इससे सावधान करते हैं-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

एक साधक दस वर्ष से साधना में लगा हुआ है और दूसरा आज साधना में प्रवेश ले रहा है। दोनों की क्षमता एक-जैसी नहीं होगी। प्रारम्भिक साधक यदि उसकी नकल करता है तो नष्ट हो जायेगा। इसी पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म अधिक उत्तम है। स्वभाव से उत्पन्न कर्म में प्रवृत्त होने की क्षमता स्वधर्म है। अपनी क्षमता के अनुसार कर्म में प्रवृत्त होने से साधक एक-न-एक दिन पार पा जाता है। अतः स्वधर्माचरण में मरना भी परम कल्याणकारक है। जहाँ से साधन छूटेगा, शरीर मिलने पर वहीं से पुनः प्रारम्भ होगा। आत्मा तो मरता नहीं। (शरीर) वस्त्र बदलने से आपके बुद्धि-विचार बदल तो नहीं जाते? आगेवालों की तरह स्वांग बनाने से साधक भय को प्राप्त होगा। भय प्रकृति में होता है, परमात्मा में नहीं। प्रकृति का आवरण और घना हो उठेगा।

इस भगवत्पथ में नकल का बाहुल्य है। पूज्य महाराज जी को एक बार आकाशवाणी हुई थी कि अनुसुइया जाकर रहें, तो जम्मू से चित्रकूट आये और अनुसूइया के घोर जंगल में निवास करने लगे। बहुत से महात्मा उधर से आते-जाते थे। एक ने देखा कि परमहंस जी दिगम्बर, नंग-धड़ंग निवास करते हैं, उनका सम्मान है, तो तुरन्त उन्होंने कौपीन फेंका, दण्ड-कमण्डल एक अन्य

महात्मा को दे दिया और दिगम्बर हो गये। कुछ काल बाद आये तो देखा, परमहंस जी लोगों से वातें भी करते हैं, गालियाँ भी देते हैं। महाराज जी को आदेश हुआ था कि भक्तों के कल्याणार्थ कुछ ताड़ना दिया करें, इस पथ के पथिकों पर निगरानी रखें। महाराज जी की नकल कर वे महात्मा भी गालियाँ देने लगे; किन्तु बदले में लोग भी कुछ-न-कुछ कह बैठते थे। महात्मा कहने लगे - वहाँ कोई वोलता नहीं, यहाँ तो जवाव देते हैं।

दो-एक साल वाद लौटे तो देखा कि परमहंस जी गद्दे पर वैठे हैं, लोग पंखा झल रहे हैं, चँवर चल रहे हैं। उन्होंने जंगल के ही एक खण्डहर में तख्त मँगाया, गद्दे विछवाये, दो आदमियों को चँवर चलाने के लिए नियुक्त कर दिया। हर सोमवार को भीड़ भी लगाने लगे कि लड़का चाहिए तो पचास रुपये, लड़की चाहिए तो पचीस रुपये। किन्तु 'उघरे अन्त न होइ निबाहू' एक महीने में ही कौड़ी के दो होकर चल दिये। इस भगवत्पथ में नकल साथ नहीं देता। साधक को स्वधर्म का ही आचरण करना चाहिए।

स्वधर्म क्या है? अध्याय दो में श्रीकृष्ण ने स्वधर्म का नाम लिया था कि स्वधर्म को भी देखकर तू युद्ध करने योग्य है। क्षत्रिय के लिए इससे वढ़कर कल्याणकारी मार्ग नहीं है। स्वधर्म में अर्जुन क्षत्रिय पाया जाता है। संकेत किया कि अर्जुन! जो व्राह्मण हैं, वेदों का उपदेश उनके लिए क्षुद्र जलाशय के तुल्य है। तू वेदों से ऊपर उठ और व्राह्मण वन अर्थात् स्वधर्म में परिवर्तन सम्भव है। वहाँ पुनः कहा कि राग-द्वेष के वश में न हो, इन्हें काट। स्वधर्म श्रेयस्कर है - इसका यह आशय नहीं है कि अर्जुन किसी व्राह्मण की नकल करके उस-जैसी वेशभूषा वना ले।

एक ही कर्मपथ को महापुरुष ने चार श्रेणियों में वाँट दिया - निकृष्ट, मध्यम, उत्तम, अति उत्तम। इन श्रेणी के साधकों को क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और व्राह्मण की संज्ञा दी। शूद्रवाली क्षमता से कर्म का आरम्भ होता है और साधना-क्रम में वही साधक व्राह्मण वन जाता है। इससे भी आगे जब वह परमात्मा में प्रवेश पा जाता है तो 'न व्राह्मणो न क्षत्रियः न वैश्यो न शूद्रः चिदानन्दरूपः शिवो केवलोऽहम्' वह वर्णों से ऊपर हो जाता है। यही श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं'-चार वर्णों की रचना मैंने की। तो क्या

जन्म के आधार पर मनुष्यों को बाँटा? नहीं, `गुणकर्म विभागशः' - गुणों के आधार पर कर्म बाँटा गया। कौन-सा कर्म? क्या सांसारिक कर्म? श्रीकृष्ण कहते हैं-नहीं, नियत कर्म! नियत कर्म क्या है? वह है यज्ञ की प्रक्रिया, जिसमें होता है श्वास में प्रश्वास को हवन, प्रश्वास को श्वास में हवन, इन्द्रिय-संयम इत्यादि, जिसका शुद्ध अर्थ है - योग-साधना, आराधना। आराध्य देव तक पहुँचानेवाली विधि-विशेष ही आराधना है। इस आराधना कर्म को ही चार श्रेणियों में बाँटा गया। जैसी क्षमतावाला पुरुष हो, उसे उसी श्रेणी से प्रारम्भ करना चाहिए, यही सबका अपना-अपना स्वधर्म है। यदि वह आगेवालों की नकल करेगा, तो भय को प्राप्त होगा। सर्वथा नष्ट तो नहीं होगा; क्योंकि इसमें वीज का नाश तो नहीं होता। हाँ, वह प्रकृति के दबाव से भयाक्रान्त, दीन-हीन अवश्य हो जायेगा। शिशु कक्षा का विद्यार्थी स्नातक कक्षा में बैठने लगे, तो स्नातक क्या बनेगा? वह प्रारम्भिक वर्णमाला से भी वंचित रह जायेगा। अर्जुन प्रश्न रखता है कि मनुष्य स्वधर्म का आचरण क्यों नहीं कर पाता?

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

हे श्रीकृष्ण! फिर यह पुरुष बरबस घसीटकर लगाये हुए के सदृश न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? आपके मत के अनुसार क्यों नहीं चल पाता? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न यह काम और यह क्रोध अग्नि के समान भोग भोगने से कभी न तृप्त होनेवाले बड़े पापी हैं। काम-क्रोध, राग-द्वेष के ही पूरक हैं, अभी मैंने जिसकी चर्चा की थी, इस विषय में तू उनको ही शत्रु जान। अब इनका प्रभाव बताते हैं-

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

जैसे धुएँ से अग्नि और मल से दर्पण ढँक जाता है, जैसे जेर से गर्भ ढँका हुआ है, ठीक वैसे ही काम-क्रोधादि विकारों से यह ज्ञान ढँका हुआ है। भींगी लकड़ी जलाने पर धुआँ-ही-धुआँ होता है। अग्नि रहकर भी लपट का रूप नहीं ले पाता। मल से ढँके दर्पण पर जिस प्रकार प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं होता, झिल्ली के कारण जिस प्रकार गर्भ ढँका रहता है, वैसे ही इन विकारों के रहते परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

कौन्तेय! अग्नि के समान भोगों से न तृप्त होनेवाले, ज्ञानियों के निरन्तर बैरी इस काम से ज्ञान ढँका हुआ है। अभी तो श्रीकृष्ण ने काम और क्रोध दो शत्रु बताये। प्रस्तुत श्लोक में वे केवल एक शत्रु काम का नाम लेते हैं। वस्तुतः काम में क्रोध का अन्तर्भाव है। कार्य पूर्ण होने पर क्रोध समाप्त हो जाता है किन्तु कामना समाप्त नहीं होती। कामना-पूर्ति में व्यवधान पड़ते ही क्रोध पुनः उभर आता है। काम के अन्तराल में क्रोध भी निहित है। इस शत्रु का निवास कहाँ है? इसे ढूँढ़े कहाँ? निवास जान लेने पर इसे समूल नष्ट करने में सुविधा रहेगी। इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके वास-स्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोह में डालता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

इसलिए अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को 'नियम्य' - संयत कर; क्योंकि शत्रु तो इसके अन्तराल में छिपा है। वह तुम्हारे शरीर के भीतर है। बाहर खोजने से

वह कहीं नहीं मिलेगा। यह हृदय-देश की, अन्तर्जगत् की लड़ाई है। इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापी काम को ही मार। काम सीधे पकड़ में नहीं आयेगा अतः विकारों के निवास-स्थान का ही घेराव कर लो, इन्द्रियों को ही संयत कर लो।

किन्तु इन्द्रियों और मन को संयत करना तो बड़ा कठिन है। क्या यह हम कर पायेंगे? इस पर श्रीकृष्ण आपकी सामर्थ्य बताते हुए प्रोत्साहित करते हैं-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।

अर्जुन! इस शरीर से तू इन्द्रियों को परे अर्थात् सूक्ष्म और बलवान् जान। इन्द्रियों से परे मन है यह उनसे भी बलवान् है। मन से परे बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे है, वह तुम्हारी आत्मा है। वही हो तुम। इसलिए इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का निरोध करने में तुम सक्षम हो।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

इस प्रकार बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म और बलवान अपने आत्मा को जानकर, आत्मबल को समझकर, बुद्धि के द्वारा अपने मन को वश में करके अर्जुन! इस कामरूपी दुर्जय शत्रु को मार। अपनी शक्ति को समझकर इस दुर्जय शत्रु को मार! काम एक दुर्जय शत्रु है। इन्द्रियों के द्वारा यह आत्मा को मोहित करता है, तो अपनी शक्ति समझकर, आत्मा को बलवान् समझकर कामरूपी शत्रु को मार। कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह शत्रु आन्तरिक है और युद्ध भी अन्तर्देश का ही है।

निष्कर्ष :

बहुधा गीताप्रेमी व्याख्याताओं ने इस अध्याय को 'कर्मयोग' नाम दिया है; किन्तु यह संगत नहीं है। दूसरे अध्याय में योगेश्वर ने कर्म का नाम लिया। उन्होंने कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन कर उसमें कर्मजिज्ञासा जागृत की और इस अध्याय में उन्होंने कर्म को परिभाषित किया कि यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। सिद्ध है कि यज्ञ कोई निर्धारित दिशा है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी किया

जाता है, वह इसी लोक का वन्धन है। श्रीकृष्ण जिसे कहेंगे वह कर्म `मोक्ष्यसेऽशुभात्' - संसार-बन्धन से छुटकारा दिलानेवाला कर्म है।

श्रीकृष्ण ने यज्ञ की उत्पत्ति बतायी। यह देता क्या है? उसकी विशेषताओं का चित्रण किया। यज्ञ करने पर बल दिया। उन्होंने कहा, इस यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। जो नहीं करते वे पापायु, आराम चाहनेवाले व्यर्थ जीते हैं। पूर्व में होनेवाले महर्षियों ने भी इसे करके ही परम नैष्कर्म्य सिद्धि को पाया। वे आत्मतृप्त हैं, उनके लिए कर्म की आवश्यकता नहीं है; फिर भी पीछेवालों के मार्ग-दर्शन के लिए वे भी कर्म में भी भली प्रकार लगे रहते थे। उन महापुरुषों से श्रीकृष्ण ने अपनी तुलना की कि मेरा भी अब कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं है; किन्तु मैं भी पीछेवालों के हित के लिए ही कर्म मेंं बरतता हूँ। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट अपना परिचय दिया कि वे एक योगी थे।

उन्होंने कर्म में प्रवृत्त साधकों को चलायमान न करने को कहा; क्योंकि कर्म करके ही उस साधक को स्थिति प्राप्त करनी है। यदि नहीं करेंगे तो नष्ट हो जायेंगे। इस कर्म के लिए ध्यानस्थ होकर युद्ध करना है। आँखें बन्द हैं, इन्द्रियों से सिमटकर चित्त का निरोध हो चला तो युद्ध कैसा? उस समय काम-क्रोध, राग-द्वेष वाधक होते हैं। इन विजातीय प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। आसुरी सम्पद् कुरुक्षेत्र, विजातीय प्रवृत्ति को शनैः-शनैः छाँटते हुए ध्यानस्थ होते जाना ही युद्ध है। वस्तुतः ध्यान में ही युद्ध है। यही इस अध्याय का सारांश है, जिसमें न कर्म बताया न यज्ञ। यदि यज्ञ समझ में आ जाय तो कर्म समझ में आये। अभी तो कर्म समझाया ही नहीं गया।

इस अध्याय में केवल स्थितप्रज्ञ महापुरुष के प्रशिक्षणात्मक पहलू पर बल दिया गया। यह तो गुरुजनों के लिए निर्देश है। वे न भी करें तो उन्हें कोई क्षति नहीं और न ऐसा करने में उनका अपना कोई लाभ ही है; किन्तु जिन साधकों को परमगति अभीष्ट है, उनके लिए विशेष कुछ कहा ही नहीं तो यह कर्मयोग कैसे है? कर्म का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं है, जिसे किया जाय; क्योंकि `यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है' - अभी तक उन्होंने इतना ही बताया। यज्ञ तो बताया नहीं! कर्म का स्वरूप स्पष्ट कहाँ हुआ? हाँ, युद्ध का यथार्थ चित्रण गीता में यहीं पाया जाता है।

सम्पूर्ण गीता पर दृष्टिपात् करें तो अध्याय दो में कहा कि शरीर नाशवान् है, अतः युद्ध कर। गीता में युद्ध का यही ठोस कारण बताया गया। आगे ज्ञानयोग के सन्दर्भ में क्षत्रिय के लिए युद्ध ही कल्याण का एकमात्र साधन बताया गया और कहा कि यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि हार-जीत दोनों दृष्टियों में लाभ ही है - ऐसा समझकर युद्ध कर। फिर अध्याय चार में कहा कि योग में स्थित रहकर हृदय में स्थित अपने इस संशय को ज्ञानरूपी तलवार द्वारा काट। वह तलवार योग में है। अध्याय पाँच से दस तक युद्ध की चर्चा तक नहीं है। ग्यारहवें अध्याय में केवल इतना कहा कि ये शत्रु मेरे द्वारा पहले से ही मारे गये हैं, तू निमित्त मात्र होकर खड़ा भर हो जा। यश को प्राप्त कर। ये तुम्हारे बिना भी मारे हुए हैं, प्रेरक करा लेगा। तू इन मुर्दों को ही मार।

अध्याय पन्द्रह में संसार सुविरूढ़ मूलवाला पीपल वृक्ष-जैसा कहा गया, जिसे असंगतारूपी शस्त्र द्वारा काटकर उस परमपद को खोजने का निर्देश मिला। आगे के अध्यायों में युद्ध का उल्लेख नहीं है। हाँ, अध्याय सोलह में असुरों का चित्रण अवश्य है, जो नरकगामी हैं। अध्याय तीन में ही युद्ध का विशद् चित्रण है। श्लोक ३० से श्लोक ४३ तक युद्ध का स्वरूप, उसकी अनिवार्यता, युद्ध न करनेवालों का विनाश, युद्ध में मारे जानेवाले शत्रुओं के नाम, उन्हें मारने के लिए अपनी शक्ति का आह्वान और निश्चय ही उन्हें काटकर फेंकने पर बल दिया। इस अध्याय में शत्रु और शत्रु का आन्तरिक स्वरूप स्पष्ट है, जिनके विनाश की प्रेरणा दी गयी है। अतः -

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे 'शत्रु-विनाश-प्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'शत्रु-विनाश-प्रेरणा' नामक तीसरा अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'शत्रु-विनाश-प्रेरणा' नाम तृतीयोऽध्यायः।।३।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अध्याय तीन में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने आश्वस्त किया था कि दोषदृष्टि से रहित होकर जो भी मानव श्रद्धायुक्त हो मेरे मत के अनुसार चलेगा, वह कर्मों के बन्धन से भली प्रकार छूट जायेगा। कर्म-बन्धन से मुक्ति दिलाने की क्षमता योग (ज्ञानयोग या कर्मयोग, दोनों) में है। योग में ही युद्ध-संचार निहित है। प्रस्तुत अध्याय में वे बताते हैं कि इस योग का प्रणेता कौन है? इसका क्रमिक विकास कैसे होता है?

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

अर्जुन! मैंने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में विवस्वान् (सूर्य) के प्रति कहा, विवस्वान् ने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु से कहा। किसने कहा? मैंने। श्रीकृष्ण कौन थे? एक योगी! तत्त्वस्थित महापुरुष ही इस अविनाशी योग को कल्प के आरम्भ में अर्थात् भजन के आरम्भ में विवस्वान् अर्थात् जो विवश हैं, ऐसे प्राणियों से कहता है। सुरा में संचार कर देता है। यहाँ सूर्य एक प्रतीक है; क्योंकि सुरा में ही वह परम प्रकाश स्वरूप है और वहीं उसके पाने का विधान है। वास्तविक प्रकाशदाता (सूर्य) वहीं है।

यह योग अविनाशी है। श्रीकृष्ण ने कहा था कि इसमें आरम्भ का नाश नहीं होता। इस योग का आरम्भ भर कर दें तो यह पूर्णत्व दिलाकर ही शान्त होता है। शरीर का कल्प औषधियों द्वारा होता है किन्तु आत्मा का भजन से होता है। भजन का आरम्भ ही आत्म-कल्प का आदि है। यह साधन-भजन भी किसी महापुरुष की ही देन है। मोह-निशा में अचेत आदिम मानव, जिसमें भजन

का कोई संस्कार नहीं है, योग के विषय में जिसने कभी सोचा तक नहीं, ऐसा मनुष्य किसी महापुरुष को देखता है तो उनके दर्शनमात्र से, उनकी वाणी से, टूटी-फूटी सेवा और सान्निध्य से योग के संस्कार उसमें संचारित हो जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी इसी को कहते हैं - `जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे', `ते सब भये परम पद जोगू।' (रामचरितमानस)

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह योग मैंने आरम्भ में सूर्य से कहा। `चक्षोः सूर्यो अजायत' महापुरुष के दृष्टि-निक्षेप मात्र से योग के संस्कार सुरा में प्रसारित हो जाते हैं। स्वयं प्रकाश, स्ववश परमेश्वर का निवास सबके हृदय में है, सुरा (श्वास) के निरोध से ही उसकी प्राप्ति का विधान है। सुरा में संस्कारों का सृजन ही सूर्य के प्रति कहना है। समय आने पर यह संस्कार मन में स्फुरित होगा। यही सूर्य का मनु से कहना है। मन में स्फुरित होने पर महापुरुष के उस वाक्य के प्रति इच्छा जाग्रत हो जायेगी। यदि मन में कोई बात है तो उसे पाने की इच्छा अवश्य होगी, यही मनु का इक्ष्वाकु से कहना है। लालसा होगी कि वह नियत कर्म करें जो अविनाशी है, जो कर्म-बन्धन से मोक्ष दिलाता है। ऐसा है तो किया जाय, और आराधना गति पकड़ लेती है। गति पकड़कर यह योग कहाँ पहुँचाता है, इस पर कहते हैं-

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।२।।

इस प्रकार किसी महापुरुष द्वारा संस्काररहित पुरुषों की सुरा में, सुरा से मन में, मन से इच्छा में और इच्छा तीव्र होकर क्रियात्मक आचरण में ढलकर यह योग क्रमशः उत्थान करते-करते राजर्षि श्रेणी तक पहुँच जाता है, उस अवस्था में जाकर विदित होता है। इस स्तर के साधक में ऋद्धियों-सिद्धियों का संचार होता है। वह योग इस महत्त्वपूर्णकाल में इसी लोक (शरीर) में प्रायः नष्ट हो जाता है। इस सीमा रेखा को कैसे पार किया जाय? क्या इस विशेष स्थल पर पहुँचकर सभी नष्ट हो जाते हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं - नहीं, जो मेरा आश्रित है, मेरा प्रिय भक्त है, अनन्य सखा है, वह नष्ट नहीं होता-

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है; क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है और यह योग उत्तम, रहस्यपूर्ण है। अर्जुन क्षत्रिय श्रेणी का साधक था, राजर्षि की अवस्थावाला था, जहाँ ऋद्धियों-सिद्धियों के थपेड़े में साधक नष्ट हो जाता है। इस काल में भी योग कल्याण की मुद्रा में ही है; किन्तु प्रायः साधक यहाँ पहुँचकर लड़खड़ा जाते हैं। ऐसा अविनाशी किन्तु रहस्यमय योग श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा; क्योंकि नष्ट होने की अवस्था में अर्जुन था ही। क्यों कहा? इसलिए कि तू मेरा भक्त है, अनन्य भाव से मेरे आश्रित है, प्रिय है, सखा है।

जिस परमात्मा की हमें चाह है, वह (सद्गुरु) परमात्मा आत्मा से अभिन्न होकर जब निर्देशन देने लगे, तभी वास्तविक भजन आरम्भ होता है। यहाँ प्रेरक की अवस्था में परमात्मा और सद्गुरु एक दूसरे के पर्याय हैं। जिस सतह पर हम खड़े हैं, उसी स्तर पर जब स्वयं प्रभु हृदय में उतर आयें, रोकथाम करने लगें, डगमगाने पर सँभालें, तभी मन वश में हो पाता है - **"मन बस होइ तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजे।"** जब तक इष्टदेव रथी होकर, आत्मा से अभिन्न होकर प्रेरक के रूप में खड़े नहीं हो जाते, तब तक सही मात्रा में प्रवेश ही नहीं होता। वह साधक प्रत्याशी अवश्य है, लेकिन भजन उसके पास कहाँ?

पूज्य गुरुदेव भगवान कहा करते थे - "हो! हम कई बार नष्ट होते-होते बच गये। भगवान ने ही बचा लिया। भगवान ने ऐसे समझाया, यह कहा।" हमने पूछा - "महाराज जी! क्या भगवान् भी बोलते हैं, बातचीत करते हैं? बोले - "हाँ, हो! भगवान ऐसे बतियावत हैं जैसे हम-तुम बतियाईं, घण्टों बतियाईं और क्रम न टूटे।" हमें उदासी हुई और आश्चर्य भी कि भगवान कैसे बोलते होंगे, यह तो बड़ी नयी बात है। कुछ देर बाद महाराज जी बोले - "काहे घबड़ात है! तोहूँसे बतियैहें।" अक्षरशः सत्य था उनका कथन और यही सख्य भाव है। सखा की तरह वे निराकरण करते रहें, तभी इस नष्ट होने वाली स्थिति से साधक पार हो पाता है।

अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने किसी महापुरुष द्वारा योग के आरम्भ, इसमें आनेवाले व्यवधान, उससे पार पाने का रास्ता बताया। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया -

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

भगवन्! आपका जन्म तो `अपरम्'-अब हुआ है और मेरे अन्दर सुरा का संचार बहुत पुराना है, तो मैं कैसे मान लूँ कि इस योग को भजन के आदि में आपने ही कहा था? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज बोले -

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।५।।

अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। हे परंतप! उन सबको तू नहीं जानता; किन्तु मैं जानता हूँ। साधक नहीं जानता स्वरूपस्थ महापुरुष जानता है, अव्यक्त की स्थितिवाला जानता है। क्या आप सबकी तरह पैदा होते हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं - नहीं, स्वरूप की प्राप्ति शरीर-प्राप्ति से भिन्न है। मेरा जन्म इन आँखों से नहीं देखा जा सकता। मैं अजन्मा, अव्यक्त, शाश्वत होते हुए भी शरीर के आधार वाला हूँ।

"अवधू! जीवत में कर आसा ।
मुए मुक्ति गुरु कहे स्वार्थी, झूठा दे विश्वासा।।"

शरीर के रहते ही उस परमतत्त्व में प्रवेश पाया जाता है। लेशमात्र भी कमी है, जन्म लेना पड़ता है। अभी तक अर्जुन श्रीकृष्ण को अपने समान देहधारी समझता है। वह अन्तरंग प्रश्न रखता है - क्या आपका जन्म वैसा ही है, जैसा सबका है। क्या आप भी शरीरों की तरह पैदा होते हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं-

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।६।।

मैं विनाशरहित, पुनः जन्मरहित और समस्त प्राणियों के स्वर में संचारित होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके आत्म-माया से प्रकट होता हूँ। एक माया तो अविद्या है जो प्रकृति में ही विश्वास दिलाती है, नीच एवं अधम

योनियों का कारण बनती है। दूसरी माया है - आत्म-माया, जो आत्मा में प्रवेश दिलाती है, स्वरूप के जन्म का कारण बनती है। इसी को योगमाया भी कहते हैं। जिससे हम विलग हैं उस शाश्वत स्वरूप से यह जोड़ती है, मिलन कराती है। उस आत्मिक प्रक्रिया द्वारा मैं अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को अधीन करके ही प्रकट होता हूँ।

प्रायः लोग कहते हैं कि भगवान का अवतार होगा तो दर्शन कर लेंगे। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा कुछ नहीं होता कि कोई दूसरा देख सके। स्वरूप का जन्म पिण्डरूप में नहीं होता। श्रीकृष्ण कहते हैं - योग-साधना द्वारा, आत्ममाया द्वारा अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को स्व-वश करके मैं क्रमशः प्रकट होता हूँ। लेकिन किन परिस्थितियों में?

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

हे अर्जुन! जब-जब परमधर्म परमात्मा के लिए हृदय ग्लानि से भर जाता है, जब अधर्म की वृद्धि से भाविक पार पाते नहीं देखता, तब मैं आत्मा को रचने लगता हूँ। ऐसी ही ग्लानि मनु को हुई थी-

हृदय बहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति बिनु।

(रामचरितमानस)

जब आपका हृदय अनुराग से पूरित हो जाय, उस शाश्वत धर्म के लिए 'गदगद गिरा नयन बह नीरा' की स्थिति आ जाय, जब प्रयत्न करके भी अनुरागी अधर्म का पार नहीं पाता - ऐसी परिस्थिति में मैं अपने स्वरूप को रचता हूँ। अर्थात् भगवान् का आविर्भाव केवल अनुरागी के लिए है-

सो केवल भगतन हित लागी। (रामचरितमानस, १/१२/५)

यह अवतार किसी भाग्यवान साधक के अन्तराल में होता है। आप प्रकट होकर करते क्या हैं?

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।८।।

अर्जुन! `साधूनां परित्राणाय' - परम साध्य एकमात्र परमात्मा है, जिसे साध लेने पर कुछ भी साधना शेष नहीं रह जाता। उस साध्य में प्रवेश दिलाने वाले विवेक, वैराग्य, शम-दम इत्यादि दैवी सम्पद् को निर्विघ्न प्रवाहित करने के लिए तथा `दुष्कृताम्' - जिससे दूषित कार्य रूप लेते हैं, उन काम-क्रोध, राग-द्वेषादि विजातीय प्रवृत्तियों को समूल नष्ट करने के लिए तथा धर्म को भली प्रकार स्थिर करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।

युग का तात्पर्य सत्ययुग, त्रेता, द्वापर में नहीं; युगधर्मों का उतार-चढ़ाव मनुष्यों के स्वभाव पर है। युग-धर्म सदैव रहे हैं। मानस में संकेत है-

नित जुग धर्म होहिं सब केरे। हृदय राम माया के प्रेरे।।

(रामचरितमानस, ७/१०/१)

युग-धर्म सभी के हृदय में नित्य होते रहते हैं। अविद्या से नहीं बल्कि विद्या से, राममाया की प्रेरणा से हृदय में होते हैं। जिसे प्रस्तुत श्लोक में आत्म-माया कहा गया है, वही है राममाया। हृदय में राम की स्थिति दिला देनेवाली, राम से प्रेरित है वह विद्या। कैसे समझा जाय कि अब कौन-सा युग कार्य कर रहा है, तो `**सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना।।" (मानस ७/१०३/२)** जब हृदय में शुद्ध सत्त्व गुण ही कार्यरत हो, राजस तथा तामस दोनों गुण शान्त हो जायँ, विषमताएँ समाप्त हो गई हों, जिसका किसी से द्वेष न हो, विज्ञान हो अर्थात् इष्ट से निर्देशन लेने और उस पर टिकने की क्षमता हो, मन में प्रसन्नता का पूर्ण संचार हो - जब ऐसी योग्यता आ जाय, तो सत्युग में प्रवेश मिल गया। इसी प्रकार दो अन्य युगों का वर्णन किया और अन्त में-

तामस बहुत रजोगुण थोरा।
कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा।।

तामस गुण भरपूर हो, किंचित् राजसी गुण भी उसमें हों, चारों ओर वैर और विरोध हो तो ऐसा व्यक्ति कलियुगीन है। जब तामसी गुण कार्य करता है तो मनुष्य में आलस्य, निद्रा, प्रमाद का बाहुल्य होता है। वह कर्तव्य जानते हुए भी उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, निषिद्ध कर्म जानते हुए भी उससे निवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार युगधर्म का उतार-चढ़ाव मनुष्यों की आन्तरिक योग्यता पर

निर्भर है। किसी ने इन योग्यताओं को चार युग कहा है तो कोई इन्हें ही चार वर्ण का नाम देता है, तो कोई इन्हें ही अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट चार श्रेणी के साधक कहकर सम्बोधित करता है। प्रत्येक युग में इष्ट साथ देते हैं। हाँ, उच्च श्रेणी में अनुकूलता की भरपूरता प्रतीत होती है, निम्न युगों में सहयोग क्षीण प्रतीत होता है।

संक्षेप में श्रीकृष्ण कहते हैं कि साध्य वस्तु दिलानेवाले विवेक, वैराग्य इत्यादि को निर्विघ्न प्रवाहित करने के लिए तथा दूषण के कारक काम-क्रोध, राग-द्वेष इत्यादि का पूर्ण विनाश करने के लिए, परमधर्म परमात्मा में स्थिर रखने के लिए. मैं युग-युग में अर्थात् हर परिस्थिति, हर श्रेणी में प्रकट होता हूँ-बशर्ते कि ग्लानि हो। जब तक इष्ट समर्थन न दें, तब तक आप समझ ही नहीं सकेंगे कि विकारों का विनाश हुआ अथवा अभी कितना शेष है? प्रवेश से पराकाष्ठापर्यन्त इष्ट हर श्रेणी में हर योग्यता के साथ रहते हैं। उनका प्राकट्य अनुरागी के हृदय में होता है। भगवान प्रकट होते हैं, तब तो सभी दर्शन करते होंगे? श्रीकृष्ण कहते हैं, नहीं-

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

अर्जुन! मेरा वह जन्म अर्थात् ग्लानि के साथ स्वरूप की रचना तथा मेरा कर्म अर्थात् दुष्कृतियों के कारणों का विनाश, साध्य वस्तु को दिलानेवाली क्षमताओं का निर्दोष संचार, धर्म की स्थिरता यह कर्म और जन्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, लौकिक नहीं है। इन चर्मचक्षुओं से उसे देखा नहीं जा सकता। मन-बुद्धि से उसे मापा नहीं जा सकता। जब इतना गूढ़ है, तो उसे देखता कौन है? केवल 'यो वेत्ति तत्त्वतः' - केवल तत्त्वदर्शी ही मेरे इस जन्म और कर्म को देखता है और मेरा साक्षात् करके वह पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता, बल्कि मुझे प्राप्त होता है।

जब तत्त्वदर्शी ही भगवान के जन्म और कार्य देख पाता है तो लोग लाखों की संख्या में भीड़ लगाये क्यों खड़े हैं कि कहीं अवतार होगा तो दर्शन करेंगे? क्या आप तत्त्वदर्शी हैं? महात्मा-वेष में आज भी विविध तरीकों से, मुख्यतः

महात्मा-वेष की आड़ में बहुत से लोग प्रचार करते फिरते हैं कि वे अवतार हैं या उनके दलाल प्रचार कर देते हैं। लोग भेंड़ की तरह अवतार को देखने टूट पड़ते हैं; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि केवल तत्त्वदर्शी ही देख पाता है। अब तत्त्वदर्शी किसे कहते हैं?

अध्याय २ में सत्-असत् का निर्णय देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया था कि, अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का तीनों कालों में कभी अभाव नहीं है। तो क्या आप ऐसा कहते हैं? उन्होंने बताया - "नहीं, तत्त्वदर्शियों ने इसे देखा।" न किसी भाषाविद् ने देखा, न किसी समृद्धशाली ने देखा। यहाँ पुनः बल देते हैं कि मेरा आविर्भाव तो होता है लेकिन उसे तत्त्वदर्शी ही देख पाता है। तत्त्वदर्शी एक प्रश्न है। ऐसा कुछ नहीं कि पाँच तत्त्व हैं, पच्चीस तत्त्व हैं - इनकी गणना सीख ली और हो गये तत्त्वदर्शी। श्रीकृष्ण ने आगे बताया कि आत्मा ही परम तत्त्व है। आत्मा परम से संयुक्त होकर परमात्मा हो जाता है। आत्म-साक्षात्कार करनेवाला ही इस आविर्भाव को समझ पाता है। सिद्ध है कि अवतार किसी विरही अनुरागी के हृदय में होता है। आरम्भ में उसे वह समझ नहीं पाता कि हमें कौन संकेत देता है? कौन मार्ग-दर्शन करता है? किन्तु परमतत्त्व परमात्मा के दर्शन के साथ ही वह देख पाता है, समझ पाता है और फिर शरीर को त्यागकर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता।

श्रीकृष्ण ने कहा कि मेरा जन्म दिव्य है, इसे देखनेवाला मुझे प्राप्त होता है, तो लोगों ने उनकी मूर्ति बना ली, पूजा करने लगे, आकाश में कहीं उनके निवास की कल्पना कर ली। ऐसा कुछ नहीं है। उन महापुरुषों का आशय केवल इतना था कि यदि आप निर्धारित कर्म करें, तो पायेंगे कि आप भी दिव्य हैं। आप जो हो सकते हैं, वह मैं हो गया हूँ। मैं आपकी संभावना हूँ, आपका ही भविष्य हूँ। अपने भीतर आप जिस दिन ऐसी पूर्णता पा लेंगे तो आप भी वही होंगे, जो श्रीकृष्ण हैं। जो श्रीकृष्ण का स्वरूप है, वही आपका भी हो सकता है। अवतार कहीं बाहर नहीं होता। हाँ, यदि अनुरागपूरित हृदय हो, तो आपके भीतर भी अवतार की अनुभूति सम्भव है। वे आपको प्रोत्साहित करते हैं कि बहुत से लोग इस मार्ग पर चलकर मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं-

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

राग और विराग दोनों से परे वीतराग तथा इसी प्रकार भय-अभय, क्रोध-अक्रोध दोनों से परे, अनन्य भाव से अर्थात् अहंकाररहित मेरे शरण हुए बहुत से लोग ज्ञान-तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। अब ऐसा होने लगा हो, ऐसी बात नहीं है। यह विधान सदैव रहा है। बहुत से पुरुष इसी प्रकार से मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। किस प्रकार? जिन-जिन का हृदय अधर्म की वृद्धि देखकर परमात्मा के लिये ग्लानि से भर गया, उस स्थिति में मैं अपने स्वरूप को रचता हूँ। वे मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं। जिसे योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तत्त्वदर्शन कहा था, उसे ही अब 'ज्ञान' कहते हैं। परमतत्त्व है परमात्मा,उसे प्रत्यक्ष दर्शन के साथ जानना ज्ञान है। ऐसी जानकारी वाले ज्ञानी मेरे स्वरूप को प्राप्त करते हैं। यहाँ यह प्रश्न पूरा हो गया। अब वे योग्यता के आधार पर भजने वालों की श्रेणी-विभाजन करते हैं

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

पार्थ! जो मुझे जितनी लगन से जैसा भजते हैं, मैं भी उनको वैसा ही भजता हूँ। उतनी ही मात्रा में सहयोग देता हूँ। साधक की श्रद्धा ही कृपा बनकर उसे मिलती है। इस रहस्य को जानकर सुधीजन सम्पूर्ण भाव से मेरे मार्ग के अनुसार ही बरतते हैं। जैसा मैं बरतता हूँ, जो मुझे प्रिय है, वैसा ही आचरण करते हैं। जो मैं कराना चाहता हूँ, वही करते हैं।

भगवान कैसे भजते हैं? वे रथी बनकर खड़े हो जाते हैं, साथ चलने लगते हैं, यही उनका भजना है। दूषित जिनसे पैदा होते हैं, उनका विनाश करने के लिए वे खड़े हो जाते हैं। सत्य में प्रवेश दिलानेवाले सद्गुणों का परित्राण करने के लिये वे खड़े हो जाते हैं। जब तक इष्टदेव हृदय से पूर्णतः रथी न हों और हर कदम पर सावधान न करें, तब तक कोई कैसा ही भजनानन्दी क्यों न हो, लाख आँख मूँदे, लाख प्रयत्न करे, वह इस प्रकृति के द्वन्द्व से पार नहीं हो सकता। वह कैसे समझेगा कि हम कितनी दूरी तय कर चुके? कितना शेष है?

इष्ट ही आत्मा से अभिन्न होकर खड़े हो जाते हैं और उसका मार्गदर्शन करते हैं कि तुम यहाँ पर हो, ऐसे करो, ऐसे चलो। इस प्रकार प्रकृति की खाई पाटते हुए शनैः-शनैः आगे बढ़ते हुए स्वरूप में प्रवेश दिला देंगे। भजन तो साधक को ही करना पड़ता है, किन्तु उसके द्वारा इस पथ में जो दूरी तय होती है, वह इष्ट की देन है। ऐसा जानकर सभी मनुष्य सर्वतोभावेन मेरा अनुसरण करते हैं। किस प्रकार वे बरतते हैं?

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

वे पुरुष इस शरीर में कर्मों की सिद्धि चाहते हुए देवताओं को पूजते हैं। कर्म कौन-सा? श्रीकृष्ण ने कहा - "अर्जुन! तू नियत कर्म कर।" नियत कर्म क्या है? यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। यज्ञ क्या है? साधना की विधि-विशेष; जिसमें श्वास-प्रश्वास का हवन, इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को संयमाग्नि में हवन किया जाता है, जिसका परिणाम है - परमात्मा। कर्म का शुद्ध अर्थ है आराधना, जिसका स्वरूप इसी अध्याय में आगे मिलेगा। इस आराधना का परिणाम क्या है? `संसिद्धिम्' - परमसिद्धि परमात्मा, `यान्ति ब्रह्म सनातनम्' - शाश्वत ब्रह्म में प्रवेश, परम नैष्कर्म्य की स्थिति। श्रीकृष्ण कहते हैं - मेरे अनुसार बरतने वाले लोग इस मनुष्य लोक में कर्म के परिणाम परम नैष्कर्म्य सिद्धि के लिये देवताओं को पूजते हैं अर्थात् दैवी सम्पद् को बलवती बनाते हैं।

तीसरे अध्याय में उन्होंने बताया था कि - इस यज्ञ द्वारा तुम देवताओं की वृद्धि करो, दैवी सम्पद् को बलवती बनाओ। ज्यों-ज्यों हृदय-देश में दैवी सम्पद् की उन्नति होगी, त्यों-त्यों तुम्हारी उन्नति होगी। इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए परमश्रेय को प्राप्त हो जाओ। अन्त तक उन्नति करते जाने की यह अन्तःक्रिया है। इसी पर बल देते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे अनुकूल बरतनेवाले लोग इस मनुष्य शरीर में कर्मों की सिद्धि चाहते हुए दैवी सम्पद् को बलवती बनाते हैं, जिससे वह नैष्कर्म्य सिद्धि शीघ्र होती है। वह असफल नहीं होती, सफल ही होती है। शीघ्र का तात्पर्य? क्या कर्म में प्रवृत्ति होते ही तत्क्षण यह परमसिद्धि मिल जाती है? श्रीकृष्ण कहते हैं - नहीं, इस सोपान पर क्रमशः चढ़ने का विधान है। कोई छलांग लगाकर भावातीत ध्यान-जेसा चमत्कार नहीं होता, इस पर देखें-

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।।१३।।

अर्जुन! `चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' - चार वर्णों की रचना मैंने की; तो क्या मनुष्यों को चार भागों में बाँट दिया? श्रीकृष्ण कहते हैं-नहीं `गुण कर्म विभागशः' - गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा। गुण एक पैमाना है, मापदण्ड है। तामसी गुण होगा तो आलस्य, निद्रा, प्रमाद, कर्म में न प्रवृत्त होने का स्वभाव, जानते हुए भी अकर्त्तव्य से निवृत्ति न हो पाने की विवशता रहेगी। ऐसी अवस्था में साधन आरम्भ कैसे करें? दो घण्टे आप आराधना में बैठते हैं, इस कर्म के लिए प्रयत्नशील होना चाहते हैं किन्तु दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाते। शरीर अवश्य बैठा है; लेकिन जिस मन को बैठना चाहिये वह हवा से बातें कर रहा है, कुतर्कों का जाल बुन रहा है। तरंग पर तरंग छायी है, तो आप बैठे क्यों है? समय क्यों नष्ट करते हैं। उस समय केवल `परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्', जो महापुरुष अव्यक्त की स्थितिवाले हैं, अविनाशी तत्त्व में स्थित हैं, उनकी तथा इस पथ पर अग्रसर अपने से उन्नत लोगों की सेवा में लग जाओ। इससे दूषित संस्कार शमन होते जायेंगे, साधना में प्रवेश दिलानेवाले संस्कार सबल होते जायेंगे।

क्रमशः तामसी गुण न्यून होने पर राजसी गुणों की प्रधानता तथा सात्त्विक गुण के स्वल्प संचार के साथ साधक की क्षमता वैश्य श्रेणी की हो जाती है। उस समय वही साधक इन्द्रिय संयम, आत्मिक सम्पत्ति का संग्रह स्वभावतः करने लगेगा। कर्म करते-करते उसी साधक में सात्त्विक गुणों का बाहुल्य हो जायेगा, राजसी गुण कम रह जायेंगे, तामसी गुण शान्त रहेंगे। उस समय वही साधक क्षत्रिय श्रेणी में प्रवेश पा लेगा। शौर्य, कर्म में प्रवृत्त रहने की क्षमता, पीछे न हटने का स्वभाव, सब भावों पर स्वामीभाव, प्रकृति के तीनों गुणों को काटने की क्षमता उसके स्वभाव में ढल जायेगी। वही कर्म और सूक्ष्म होने पर मात्र सात्त्विक गुण कार्यरत रह जाने पर मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, एकाग्रता, सरलता, ध्यान, समाधि, ईश्वरीय निर्देश, आस्तिकता इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिलाने वाली स्वाभाविक क्षमता के साथ वही साधक ब्राह्मण श्रेणी का कहा जाता है। यह ब्राह्मण श्रेणी के कर्म की निम्नतम सीमा है। जब वही साधक ब्रह्म

में स्थित हो जाता है, उस अन्तिम सीमा में वह स्वयं में न ब्राह्मण रहता है न क्षत्रिय, न वैश्य न शूद्र; किन्तु दूसरों के मार्ग-दर्शनहेतु वही ब्राह्मण है। कर्म एक ही है - नियत कर्म, आराधना। अवस्था-भेद से इसी कर्म को ऊँची-नीची चार सीढ़ियों में बाँटा। किसने बाँटा? किसी योगेश्वर ने बाँटा, अव्यक्त स्थितिवाले महापुरुष ने बाँटा। उसके कर्त्ता मुझ अविनाशी को अकर्त्ता ही जान। क्यों?

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

क्योंकि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है। कर्मों का फल क्या है? श्रीकृष्ण ने पीछे बताया था कि यज्ञ जिससे पूरा होता है, उस क्रिया का नाम कर्म है और पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी रचना करता है, उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला शाश्वत, सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा लेता है। कर्म का परिणाम है - परमात्मा। उस परमात्मा की चाह भी अब मुझे नहीं है, क्योंकि वह मुझसे भिन्न नहीं है। मैं अव्यक्त स्वरूप हूँ, उसी की स्थितिवाला हूँ। अब आगे कोई सत्ता नहीं, जिसके लिये इस कार्य पर स्नेह रखूँ। इसलिये कर्म मुझे लिपायमान नहीं करते और इसी स्तर से जो भी मुझे जानता है अर्थात् जो कर्मों के परिणाम `परमात्मा' को प्राप्त कर लेता है, उसे भी कर्म नहीं बाँधते। जैसे श्रीकृष्ण, वैसे उस स्तर से जाननेवाला महापुरुष।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

अर्जुन! पहले होनेवाले मोक्ष की इच्छावाले पुरुषों द्वारा भी यही जानकर कर्म किया गया। क्या जानकर? यही कि जब कर्मों का परिणाम परमात्मा भिन्न न रह जाय, कर्मों के परिणाम परमात्मा की स्पृहा न रह जाने पर उस पुरुष को कर्म नहीं बाँधते। श्रीकृष्ण इसी स्थितिवाले हैं इसलिए वे कर्म में लिपायमान नहीं होते और उसी स्तर से हम जान लेंगे तो हमें भी कर्म नहीं बाँधेगा। जैसा श्रीकृष्ण, ठीक उसी स्तर से जो भी जान लेगा, वैसा ही वह पुरुष भी कर्मबन्धन से मुक्त हो जायेगा। अब श्रीकृष्ण `भगवान', `महात्मा', `अव्यक्त', योगेश्वर या

महायोगेश्वर जो भी रहे हों, वह स्वरूप सबके लिये है। यही समझकर पहले के मुमुक्षु पुरुषों ने, मोक्ष की इच्छावाले पुरुषों ने कर्म पर कदम रखा। इसलिए अर्जुन! तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किये हुए इसी कर्म को कर! यही कल्याण का एकमात्र मार्ग है।

अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कर्म करने पर बल दिया; किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि कर्म क्या है? अध्याय दो में उन्होंने कर्म का नाम मात्र लिया कि अब इसी को तू निष्काम कर्म के विषय में सुन। उसकी विशेषताओं का वर्णन किया कि यह जन्म-मरण के महान भय से रक्षा करता है। कर्म करते समय सावधानी का वर्णन किया, लेकिन यह नहीं बताया कि कर्म क्या है? अध्याय तीन में उन्होंने कहा कि ज्ञानमार्ग अच्छा लगे या निष्काम कर्मयोग, कर्म तो करना ही पड़ेगा। न कर्मों को त्यागने से कोई ज्ञानी होता है और कर्म को न आरम्भ करने से कोई निष्कर्मी। हठवश जो नहीं करते, वे दम्भी हैं। इसलिए मन से इन्द्रियों को वश में करके कर्म कर! कौन-सा कर्म करे? तो बताया, नियत कर्म कर। अब यह निर्धारित कर्म है कौन? तो बोले, यज्ञ की प्रक्रिया ही नियत कर्म है। एक नवीन प्रश्न दिया कि यज्ञ क्या है, जिसे करें तो कर्म हो जाय? वहाँ भी यज्ञ की उत्पत्ति बतायी, उसकी विशेषताओं का वर्णन किया; किन्तु यज्ञ नहीं बताया, जिससे कर्म को समझा जा सके। अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ कि कर्म क्या है? अब कहते हैं कि, अर्जुन! कर्म क्या है? अकर्म क्या है? इस विषय में बड़े-बड़े विद्वान भी मोहित हैं, उसे भली प्रकार समझ लेना चाहिए-

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

कर्म क्या है और अकर्म क्या है? इस विषय में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हैं। इसलिये मैं वह कर्म तेरे लिए अच्छी तरह से कहूँगा, जिसे जानकर तू **'अशुभात् मोक्ष्यसे'**-अशुभ अर्थात् संसार-बन्धन से भली प्रकार छूट जायेगा। कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो संसार-बन्धन से मुक्ति दिलाती है। इसी कर्म को जानने के लिए श्रीकृष्ण पुनः बल देते हैं-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, अकर्म का स्वरूप भी समझना चाहिए और विकर्म अर्थात् विकल्पशून्य विशेष कर्म जो आप्तपुरुषों द्वारा होता है, उसे भी जानना चाहिए; क्योंकि कर्म की गति गहन है। कतिपय लोगों ने विकर्म का अर्थ `निषिद्ध कर्म', `मन लगाकर किया गया कर्म' इत्यादि किया है। वस्तुतः यहाँ `वि' उपसर्ग विशिष्टता का द्योतक है। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों के कर्म विकल्पशून्य होते हैं। आत्मस्थित, आत्मतृप्त, आप्तकाम महापुरुषों को न तो कर्म करने से कोइं लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि ही है; फिर भी वे पीछेवालों के हित लिए कर्म करते हैं। ऐसा कर्म विकल्पशून्य है, विशुद्ध है और यही कर्म विकर्म कहलाता है।

उदाहरणार्थ गीता में जहाँ भी किसी कार्य में `वि' उपसर्ग लगा है, उसकी विशेषता का द्योतक है, निकृष्टता का नहीं। यथा-`योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः' (गीता ५/७)। जो योग से युक्त है, वह विशेष रूप से शुद्ध आत्मावाला, विशेष रूप से जीते अन्तःकरणवाला इत्यादि विशेषता के ही द्योतक हैं। इसी प्रकार गीता में स्थान-स्थान पर `वि' का प्रयोग हुआ है, जो विशेष पूर्णता का द्योतक है। इसी प्रकार `विकर्म' भी विशिष्ट कर्म का द्योतक है, जो प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों के द्वारा सम्पादित होता है, जो शुभाशुभ संस्कार नहीं डालता। अभी आपने विकर्म देखा। रहा कर्म और अकर्म, जिसे अगले श्लोक में समझने का प्रयास करें। यदि यहाँ कर्म-अकर्म का विभाजन नहीं समझ सके, तो कभी नहीं समझ सकेंगे-

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

जो पुरुष कर्म में अकर्म देखे; कर्म माने आराधना अर्थात् आराधना करे और यह भी समझे कि करनेवाला मैं नहीं हूँ बल्कि गुणों की अवस्था ही चिन्तन में हमें नियुक्त करता है, `मैं इष्ट द्वारा संचालित हूँ' - ऐसा देखे और जब इस

प्रकार अकर्म देखने की क्षमता आ जाय और धारावाहिक रूप से कर्म होता रहे, तभी समझना चाहिए कि कर्म सही दिशा में हो रहा है। वही पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान है, मनुष्यों में योगी है, योग से युक्त बुद्धिवाला है और सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला है। उसके द्वारा कर्म करने में लेशमात्र भी त्रुटि नहीं रह जाती।

सारांशतः आराधना ही कर्म है। उस कर्म को करें और करते हुए अकर्म देखें कि - मैं तो यन्त्रमात्र हूँ, करानेवाला इष्ट है और मैं गुणों से उत्पन्न अवस्था के अनुसार ही चेष्टा कर पाता हूँ। जब अकर्म की यह क्षमता आ जाय और धारावाहिक कर्म होता रहे, तभी परम कल्याण की स्थिति दिलानेवाला कर्म हो पाता है। `पूज्य महाराज जी' कहा करते थे कि, "जव तक इष्ट रथी न हो जाय, रोकथाम न करने लगे, तब तक सही मात्रा में साधना का आरम्भ ही नहीं होता।" इसके पूर्व जो कुछ भी किया जाता है, कर्म में प्रवेश के प्रयास से अधिक कुछ भी नहीं है। हल का सारा भार बैल के कन्धों पर ही रहता है, फिर भी खेत की जुताई हलवाहे की देन है। ठीक इसी प्रकार साधन का सारा भार साधक के ऊपर ही रहता है; किन्तु वास्तविक साधक तो इष्ट है जो उसके पीछे लगा हुआ है, जो उसका मार्ग-दर्शन करता है। जव तक इष्ट निर्णय न दें, तब तक आप समझ ही नहीं सकेंगे कि हमसे हुआ क्या? हम प्रकृति में भटक रहे हैं या परमात्मा में? इस प्रकार इष्ट के निर्देशन में जो साधक इस आत्मिक पथ पर अग्रसर होता है, अपने को अकर्त्ता समझकर धारावाहिक कर्म करता है वही बुद्धिमान् है, उसकी जानकारी यथार्थ है, वही योगी है। जिज्ञासा स्वाभाविक है कि कर्म करते ही रहेंगे या कभी कर्मों से छुटकारा भी मिलेगा? इस पर योगेश्वर कहते हैं -

श्रीकृष्ण के अनुसार जो कुछ किया जाता है, कर्म नहीं है। कर्म एक निर्धारित की हुई क्रिया है। `नियतं कुरु कर्म त्वं' - अर्जुन! तू निर्धारित कर्म को कर। निर्धारित कर्म है क्या? तब बताया `यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' - यज्ञ को कार्यरूप देना ही कर्म है, तो इसके अतिरिक्त जो कुछ किया जाता है, क्या वह कर्म नहीं है? श्रीकृष्ण कहते हैं, `अन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' - इस यज्ञ को कार्यरूप देने के सिवाय जो कुछ किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है, न कि कर्म। `तदर्थं कर्म' - अर्जुन! उस यज्ञ की पूर्ति के लिए भली प्रकार आचरण कर और जब यज्ञ का स्वरूप बताया; तो वह शुद्ध रूप से आराधना की एक विधि विशेष है, जो उस आराध्य देव तक पहुँचाकर उसमें विलय दिलाती है।

इस यज्ञ में इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, दैवी सम्पद् का अर्जन इत्यादि बताते हुए अन्त में कहा - बहुत से योगी प्राण और अपान की गति का निरोध करके प्राणायाम के परायण हो जाते हैं, जहाँ न भीतर से संकल्प उठता है और न बाह्य वातावरण का संकल्प मन के अन्दर प्रविष्ट हो पाता है। ऐसी स्थिति में चित्त का सर्वथा निरोध और निरुद्ध चित्त के भी विलयकाल में वह पुरुष `यान्ति ब्रह्म सनातनम्' - शाश्वत, सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। यही सब यज्ञ है, जिसे कार्य रूप देने का नाम कर्म है। अतः कर्म का शुद्ध अर्थ है `आराधना।' कर्म का अर्थ है `भजन', कर्म का अर्थ है `योग साधना' को भली प्रकार सम्पादित करना, जिसका विशद् वर्णन इसी अध्याय में आगे आ रहा है। यहाँ कर्म और अकर्म का केवल विभाजन किया गया, जिससे कर्म करते समय उसे सही दिशा दी जा सके और उस पर चला जा सके।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

अर्जुन! `यस्य सर्वे समारम्भाः' - जिस पुरुष के द्वारा सम्पूर्णता से आरम्भ की हुई क्रिया (जिसे पिछले श्लोक में कहा कि - अकर्म देखने की क्षमता आ जाने पर कर्म में प्रवृत्त रहनेवाला पुरुष सम्पूर्ण कर्मों का करनेवाला है। जिसके करने में लेशमात्र भी त्रुटि नहीं है।) `कामसङ्कल्पवर्जिताः' - क्रमशः उत्थान होते-होते इतनी सूक्ष्म हो गई कि वासना और मन के संकल्प-विकल्प से ऊपर उठ गई (कामना और संकल्पों का निरोध होना मन की विजितावस्था है अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो इस मन को कामना और संकल्प-विकल्प से ऊपर उठा देता है), उस समय `ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं' - अन्तिम संकल्प के भी शमन के साथ, जिसे हम नहीं जानते, जिसे जानने के लिए हम इच्छुक थे, उस परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी हो जाती है। क्रियात्मक पथ पर चलकर परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ही `ज्ञान' है। उस ज्ञान के साथ ही `दग्धकर्माणं' - कर्म सदा के लिए दग्ध हो जाते हैं। जिसे पाना था पा लिया, आगे कोई सत्ता नहीं जिसकी शोध करें। इसलिए कर्म करके ढूँढ़े भी तो किसे? उस जानकारी के साथ कर्म की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। ऐसी स्थितिवालों को ही बोधस्वरूप महापुरुषों ने `पण्डित' कहकर सम्बोधित किया है। उनकी जानकारी पूर्ण है। ऐसी स्थितिवाला महापुरुष करता क्या है? रहता कैसे है? उसकी रहनी पर प्रकाश डालते हैं-

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।।२०।।

अर्जुन! वह पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित होकर नित्यवस्तु परमात्मा में ही तृप्त रहकर, कर्मों के फल परमात्मा की आसक्ति को भी त्यागकर (क्योंकि परमात्मा भी अब भिन्न नहीं है) कर्म में अच्छी प्रकार बरतता हुआ भी कुछ नहीं करता।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

जिसने अन्तःकरण और शरीर को जीत लिया है, भोगों की सम्पूर्ण सामग्री जिसने त्याग दी है, ऐसे आशारहित पुरुष का शरीर केवल कर्म करता दिखाई भर पड़ता है। वस्तुतः वह करता-धरता कुछ नहीं; इसलिये पाप को प्राप्त नहीं होता। वह पूर्णत्व को प्राप्त है इसलिए आवागमन को प्राप्त नहीं होता।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

अपने-आप जो कुछ भी प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहनेवाला, सुख-दुःख, राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से परे, 'विमत्सरः' - ईर्ष्यारहित तथा सिद्धि और असिद्धि में समभाववाला पुरुष कर्मों को करके भी नहीं बँधता। सिद्धि अर्थात् जिसे पाना था, वह अब भिन्न नहीं है और वह कभी विलग भी नहीं होगा, इसलिए असिद्धि का भी भय नहीं है; इस प्रकार सिद्धि और असिद्धि में समभाववाला पुरुष कर्म करके भी नहीं बँधता। कौन-सा कर्म वह करता है? वही नियत कर्म, यज्ञ की प्रक्रिया। इसी को दुहराते हुए कहते हैं-

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

अर्जुन! 'यज्ञायाचरतः कर्म' - यज्ञ का आचरण ही कर्म है और साक्षात्कार का नाम ही ज्ञान है। इस यज्ञ का आचरण करके साक्षात्कार के साथ ज्ञान में

स्थित, संग-दोष और आसक्ति से रहित मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म भली प्रकार विलीन हो जाते हैं। वे कर्म कोई परिणाम उत्पन्न नहीं कर पाते; क्योंकि कर्मों का फल परमात्मा उनसे भिन्न नहीं रह गया। अब फल में कौन-सा फल लगेगा? इसलिए उन मुक्त पुरुषों को अपने लिए कर्म की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। फिर भी लोक-संग्रह के लिए वे कर्म करते ही हैं और करते हुए भी वे इन कर्मों में लिप्त नहीं होते। जब करते हैं, तो लिप्त क्यों नहीं होते? इस पर कहते हैं-

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

ऐसे मुक्त पुरुष का समर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, अग्नि भी 'ब्रह्म' ही है अर्थात् ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूपी कर्त्ता द्वारा जो हवन किया जाता है, वह भी ब्रह्म है। 'ब्रह्मकर्म समाधिना' - जिसके कर्म ब्रह्म का स्पर्श करके समाधिस्थ हो चुके हैं, उसमें विलय हो चुके हैं, ऐसे महापुरुष के लिए जो प्राप्त होने योग्य है वह भी ब्रह्म ही है। वह करता-धरता कुछ नहीं, केवल लोकसंग्रह के लिए कर्म में बरतता है।

यह तो प्राप्तिवाले महापुरुष के लक्षण हैं; किन्तु कर्म में प्रवेश लेने वाले प्रारम्भिक साधक कौन-सा यज्ञ करते हैं?

पिछले अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा था - अर्जुन! कर्म कर। कौन-सा कर्म? उन्होंने बताया, 'नियत कर्म' - निर्धारित किये हुए कर्म को कर। निर्धारित कर्म कौन-सा है? तो 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' (३/९) - अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इस यज्ञ के अतिरिक्त अन्यत्र जो कुछ किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन है न कि कर्म। कर्म तो संसार-बन्धन से मोक्ष दिलाता है। अतः 'तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर' - उस यज्ञ की पूर्ति के लिए संगदोष से अलग रहकर भली प्रकार यज्ञ का आचरण कर। यहाँ एक नवीन प्रश्न योगेश्वर ने दिया कि वह यज्ञ है क्या, जिसे करें और कर्म हमसे पार लगे? उन्होंने कर्म की विशेषताओं पर बल दिया, बताया कि यज्ञ आया कहाँ से? यज्ञ देता क्या है? उसकी विशेषताओं का चित्रण किया, किन्तु अभी तक यह नहीं बताया था कि यज्ञ है क्या?

अव यहाँ उसी यज्ञ को स्पष्ट करते हैं-

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

गतश्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने परमात्म-स्थित महापुरुष के यज्ञ का निरूपण किया; किन्तु दूसरे योगी जो अभी उस तत्त्व में स्थित नहीं हुए हैं, क्रिया में प्रवेश करनेवाले हैं, वे आरम्भ कहाँ से करें? इस पर कहते हैं कि दूसरे योगी लोग 'दैवम् यज्ञम्' अर्थात् दैवी सम्पद् को अपने हृदय में वलवती वनाते हैं, जिसके लिए ब्रह्मा का निर्देश था कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग देवताओं की उन्नति करो; ज्यों-ज्यों हृदय-देश में दैवी सम्पद् अर्जित होगी; वही तुम्हारी प्रगति होगी और क्रमशः परस्पर उन्नति करके परमश्रेय को प्राप्त करो। दैवी सम्पद् को हृदय-देश में बलवती बनाना प्रवेशिका श्रेणी के योगियों का यज्ञ है।

वह दैवी सम्पद् अध्याय १६ के आरम्भिक तीन श्लोकों में वर्णित है, जो हैं तो सबमें केवल महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य समझकर उनकी जागृति करें, उनमें लगें। इन्हीं को इंगित करते हुए योगेश्वर ने कहा कि अर्जुन! तू शोक मत कर,क्योंकि तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है, तू मुझमें निवास करेगा, मेरे ही शाश्वत स्वरूप को प्राप्त करेगा क्योंकि यह दैवी सम्पद् परम कल्याण के लिये ही है और इसके विपरीत आसुरी सम्पद् नीच और अधम योनियों का कारण है। इसी आसुरी सम्पद् का हवन होने लगता है इसलिये यह यज्ञ है और यहीं से यज्ञ का आरम्भ है।

दूसरे योगी 'ब्रह्माग्नौ' - परब्रह्म परमात्मरूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं। श्रीकृष्ण ने आगे बताया कि इस शरीर में अधियज्ञ मैं हूँ। यज्ञों का अधिष्ठाता अर्थात् यज्ञ जिसमें विलय होते हैं, वह पुरुष मैं हूँ। श्रीकृष्ण एक योगी थे, सद्‌गुरु थे। इस प्रकार दूसरे योगीजन ब्रह्मरूपी अग्नि में यज्ञ अर्थात् यज्ञस्वरूप सद्‌गुरु को उद्देश्य वनाकर यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं; सारांशतः सद्‌गुरु के स्वरूप का ध्यान करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अन्य योगीजन श्रोत्रादिक (श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका) सब इन्द्रियों का संयमरूपी अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से समेटकर संयत कर लेते हैं। यहाँ आग नहीं जलती। जैसे अग्नि में डालने से हर वस्तु

भस्मसात् हो जाती है, ठीक इसी प्रकार संयम भी एक अग्नि है, जो इन्द्रियों के सम्पूर्ण बहिर्मुखी प्रवाह को दग्ध कर देता है। दूसरे योगी लोग शब्दादिक (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) विषयों को इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन कर देते हैं अर्थात् उनका आशय बदलकर साधनापरक बना लेते हैं।

साधक को संसार में रहकर ही तो भजन करना है। सांसारिक लोगों के भले-वुरे शब्द उससे टकराते ही रहते हैं। विषयोत्तेजक ऐसे शब्दों को सुनते ही साधक उनके आशय को योग, वैराग्य सहायक, वैराग्योत्तेजक भावों में बदलकर इन्द्रियरूपी अग्नि में हवन कर देते हैं। जैसे कि एक बार अर्जुन अपने चिन्तन में रत था। अकस्मात् उसके कर्ण-कुहरों में संगीत-लहरी झनझना उठी। उसने सिर उठाकर देखा तो उर्वशी खड़ी थी, जो एक वेश्या थी। सभी उसके रूप पर मुग्ध हो झूम रहे थे; किन्तु अर्जुन ने उसे स्नेहिल दृष्टि से मातृवत् देखा। उस शब्द-रूप से मिलने वाले विकार विलीन हो गए। इन्द्रियों के अन्तराल में ही समाहित हो गए।

यहाँ इन्द्रिय ही अग्नि है। अग्नि में डाली हुई वस्तु जैसे भस्मसात् हो जाती है, उसी प्रकार आशय बदलकर इष्ट के अनुकूल ढाल लेने पर विषयोत्तेजक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द भी भस्म हो जाते हैं; साधक पर कुप्रभाव नहीं डाल पाते। साधक इन शब्दादिकों में रुचि नहीं लेता, इन्हें ग्रहण नहीं करता।

इन श्लोकों में `अपरे', `अन्ये' शब्द एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थायें हैं। एक ही यज्ञकर्त्ता का ऊँचा-नीचा स्तर है; न कि `अपरे', `अपरे' कहने से कोई अलग-अलग यज्ञ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अभी तक योगेश्वर ने जिस यज्ञ की चर्चा की, उसमें क्रमशः दैवी सम्पद् को अर्जित किया जाता है, इन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं का संयम किया जाता है, बलात् विषयोत्तेजक शब्दादिकों के टकराने पर भी उनका आशय बदलकर उनसे बचा जाता है। इससे उन्नत अवस्था होने पर दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों की

चेष्टाओं तथा प्राण के व्यापार को साक्षात्कार सहित ज्ञान से प्रकाशित परमात्म-स्थितिरूपी योगाग्नि में हवन करते हैं। जब संयम की पकड़ आत्मा के साथ तद्रूप हो जाती है, प्राण और इन्द्रियों का व्यापार भी शान्त हो जाता है, उस समय विषयों को उद्दीप्त करनेवाली और इष्ट में प्रवृत्ति दिलाने वाली दोनों धाराएँ आत्मसात् हो जाती हैं। परमात्मा में स्थिति मिल जाती है। यज्ञ का परिणाम निकल आता है। यह है यज्ञ की पराकाष्ठा। जिस परमात्मा को पाना था, उसी में स्थिति आ गई तो शेष क्या रहा? पुनः योगेश्वर श्रीकृष्ण यज्ञ को भली प्रकार समझाते हैं-

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

अनेक लोग द्रव्य-यज्ञ करते हैं अर्थात् आत्मपथ में, महापुरुषों की सेवा में पत्र-पुष्प अर्पण करते हैं। वे समर्पण के साथ महापुरुषों की सेवा में द्रव्य लगाते हैं। श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि भक्ति-भाव से पत्र-पुष्प, फल, जल जो कुछ भी मुझे देता है, उसे मैं खाता हूँ और उसका परमकल्याण-सृजन करने वाला होता हूँ - यह भी यज्ञ है। हर आत्मा की सेवा करना, भूले हुए को आत्मपथ पर लाना द्रव्य-यज्ञ है। क्योंकि प्राकृतिक संस्कारों को जलाने में समर्थ है।

इसी प्रकार कई पुरुष `तपोयज्ञा' - स्वधर्म-पालन में इन्द्रियों को तपाते हैं अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न क्षमता के अनुसार यज्ञ की निम्न और उन्नत अवस्थाओं के बीच तपते हैं। इसी पथ की अल्पज्ञता में पहली श्रेणी का साधक शूद्र परिचर्या द्वारा, वैश्य दैवी सम्पद् के संग्रह द्वारा, क्षत्रिय काम-क्रोधादि के उन्मूलन द्वारा और ब्राह्मण ब्रह्म में प्रवेश की योग्यता के स्तर से इन्द्रियों को तपाता है। सबको एक-जैसा परिश्रम करना पड़ता है। वास्तव में यज्ञ एक ही है। अवस्था के अनुसार ऊँची-नीची श्रेणियाँ गुजरती जाती हैं।

`पूज्य महाराज जी' कहते थे - "मनसहित इन्द्रियों और शरीर को लक्ष्य के अनुरूप तपाना ही तप कहलाता है। ये लक्ष्य से दूर भागेंगे, इन्हें समटेकर उधर ही लगाओ।"

अनेक पुरुष योग-यज्ञ का आचरण करते हैं। प्रकृति में भटकती हुई आत्मा का प्रकृति से परे परमात्मा से मिलन का नाम `योग' है। योग की परिभाषा अध्याय ६/२३ में द्रष्टव्य है। सामान्यतः दो वस्तुओं का मिलन योग कहलाता है। कागज से कलम मिल गया, थाली और मेज मिल गए तो क्या योग हो गया? नहीं, ये तो पंचभूतों से निर्मित पदार्थ हैं; एक ही हैं, दो कहाँ? दो प्रकृति और पुरुष हैं। प्रकृति में स्थित आत्मा अपने ही शाश्वत रूप परमात्मा में प्रवेश पा जाता है तो प्रकृति पुरुष में विलीन हो जाती है, यही योग है। अतः अनेक पुरुष इस मिलन में सहायक शम, दम इत्यादि नियमों का भली प्रकार आचरण करते हैं। योग-यज्ञ करने वाले तथा अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष `स्वाध्याय ज्ञानयज्ञाश्च' - स्वयं का अध्ययन, स्व-रूप का अध्ययन करनेवाले ज्ञानयज्ञ के कर्त्ता हैं। यहाँ योग के अंगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से निर्दिष्ट किया गया है। अनेक लोग स्वाध्याय करते हैं। पुस्तक पढ़ना तो स्वाध्याय का आरम्भिक स्तर मात्र है। विशुद्ध स्वाध्याय है - स्वयं का अध्ययन, जिससे स्वरूप की उपलब्धि होती है, जिसका परिणाम है ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार।

यज्ञ का अगला चरण बताते हैं-

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

बहुत से योगी अपान वायु में प्राणवायु को हवन करते हैं और उसी प्रकार प्राणवायु में अपान वायु को हवन करते हैं। इससे सूक्ष्म अवस्था हो जाने पर अन्य योगीजन प्राण और अपान दोनों की गति रोककर प्राणायाम परायण हो जाते हैं।

जिसे श्रीकृष्ण प्राण-अपान कहते हैं, उसी को महात्मा बुद्ध `अनापान' कहते हैं। इसी को उन्होंने श्वास-प्रश्वास भी कहा है। प्राण वह श्वास है जिसे आप भीतर खींचते हैं और अपान वह श्वास है जिसे आप बाहर छोड़ते हैं। योगियों की अनुभूति है कि आप श्वास के साथ बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भी ग्रहण करते हैं और प्रश्वास में इसी प्रकार आन्तरिक भले-बुरे चिन्तन की लहर फेंकते

रहते हैं। वाह्य किसी संकल्प का ग्रहण न करना प्राण का हवन है तथा भीतर संकल्पों को न उठने देना अपान का हवन है। न भीतर से किसी संकल्प का स्फुरण हो और न ही बाह्य दुनिया में चलनेवाले चिन्तन अन्दर क्षोभ उत्पन्न कर पायें। इस प्रकार प्राण और अपान दोनों की गति सम हो जाने पर प्राणों का याम अर्थात् निरोध हो जाता है, यही प्राणायाम है। यह मन की विजितावस्था है। प्राणों का रुकना और मन का रुकना एक ही बात है।

प्रत्येक महापुरुष ने इस प्रकरण को लिया है। वेदों में इसका उल्लेख है - `चत्वारि वाक् पारमिता पदानि' (ऋग्वेद १/१६४/४५, अथर्ववेद ९/१०/२७) इसी को `पूज्य महाराज जी' कहा करते थे - "हो! एक ही नाम चार श्रेणियों से जपा जाता है - बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। बैखरी उसे कहते हैं, जो व्यक्त हो जाये। नाम का इस प्रकार उच्चारण हो कि आप सुनें और बाहर कोई बैठा हो तो उसे भी सुनाई पड़े। मध्यमा अर्थात् मध्यम स्वर में जप, जिसे केवल आप ही सुनें, बगल में बैठा हुआ व्यक्ति भी उस उच्चारण को सुन न सके। यह उच्चारण कण्ठ से होता है। धीरे-धीरे नाम की धुन बन जाती है, डोर लग जाती है। साधना और सूक्ष्म हो जाने पर पश्यन्ती अर्थात् नाम देखने की अवस्था आ जाती है, फिर नाम को जपा नहीं जाता। यही नाम श्वास में ढल जाता है। मन को द्रष्टा बनाकर खड़ा कर दें, देखते भर रहें कि साँस कहती क्या है? साँस आती है कब? बाहर निकलती है कब? कहती है क्या?" महापुरुषों का कहना है कि यह साँस नाम के सिवाय और कुछ कहती ही नहीं। साधक नाम का जप नहीं करता, केवल उससे उठनेवाली धुन को सुनता है, साँस को देखता भर है इसलिए इसे `पश्यन्ती' कहते हैं।

पश्यन्ती में मन को द्रष्टा के रूप में खड़ा करना पड़ता है; किन्तु साधन और उन्नत हो जाने पर सुनना भी नहीं पड़ता। एक बार सुरत लगा भर दें, स्वतः सुनाई देगा। `जपै न जपावै, अपनै से आवै' - न स्वयं जपो, न मन को सुनने के लिए बाध्य करो और जप चलता रहे - इसी का नाम है अजपा। ऐसा नहीं कि जप प्रारम्भ ही न करें और आ गई अजपा। यदि किसी ने जप नहीं आरंभ किया, तो अजपा नाम की कोई वस्तु भी उसके पास नहीं होगी। अजपा का अर्थ है, हम न जपें; किन्तु जाप हमारा साथ न छोड़े। एक बार सुरत का काँटा लगा

भर दें तो जप प्रवाहित हो जाय और अनवरत चलता रहे। इस स्वाभाविक जप का नाम है अजपा और यही है `परावाणी का जप' , यह प्रकृति से परे तत्त्व परमात्मा में प्रवेश दिलाती है। इसके आगे वाणी में कोई परिवर्तन नहीं है। परम का दिग्दर्शन कराके उसी में विलीन हो जाती है, इसलिये इसे परा कहते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने केवल श्वास पर ध्यान रखने को कहा, जबकि आगे स्वयं ओम् के जप पर बल देते हैं। गौतम बुद्ध भी अनापान सती में श्वास-प्रश्वास की ही चर्चा करते हैं। अन्ततः वे महापुरुष कहना क्या चाहते हैं? वस्तुतः प्रारम्भ में बैखरी, उससे मध्यमा और इससे उन्नत होने पर जप की पश्यन्ती अवस्था में श्वास पकड़ में आता है। उस समय जप तो श्वास में ढला मिलेगा, फिर जपें क्या? फिर तो केवल श्वास को देखना भर है। इसलिये प्राण-अपान मात्र कहा, `नाम जपों' - ऐसा नहीं कहा, कारण कि कहने की आवश्यकता नहीं है। यदि कहते हैं, तो गुमराह होकर नीचे की श्रेणियों में चक्कर काटने लगेगा। महात्मा बुद्ध, `गुरुदेव भगवान्' तथा प्रत्येक महापुरुष जो इस रास्ते से गुजरे हैं, सभी एक ही बात कहते हैं। वैखरी और मध्यमा नाम-जप के प्रवेश द्वार मात्र हैं। पश्यन्ती से ही नाम में प्रवेश मिलता है। परा में नाम धारावाही हो जाता है, जिससे जप साथ नहीं छोड़ता।

मन श्वास के साथ जुड़ा है। जब श्वास पर दृष्टि है, श्वास में नाम ढल चुका है, भीतर से न तो किसी संकल्प का उत्थान है और न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। यही मन पर विजय की अवस्था है। इसी के साथ यज्ञ का परिणाम निकल आता है।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।३०।।

दूसरे नियमित आहार करनेवाले प्राण को प्राण में ही हवन करते हैं। `पूज्य महाराज जी' कहा करते थे कि - "योगी का आहार दृढ़, आसन दृढ़ और निद्रा दृढ़ होनी चाहिए।" आहार-विहार पर नियंत्रण बहुत आवश्यक है। ऐसे अनेक योगी प्राण का प्राण में ही हवन कर देते हैं अर्थात् श्वास लेने पर ही ध्यान केन्द्रित रखते हैं, प्रश्वास पर ध्यान नहीं देते। साँस आई तो सुना `ओम्', पुनः

साँस आई तो `ओऽम्' सुनते रहें। इस प्रकार यज्ञों द्वारा नष्ट पापवाले ये सभी पुरुष यज्ञ के जानकार हैं। इन निर्दिष्ट विधियों में से यदि कहीं से भी करते हैं तो वे सभी यज्ञ के ज्ञाता हैं। अब यज्ञ का परिणाम बताते हैं-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! `यज्ञशिष्टामृतभुजो' - यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, जिसे अवशेष छोड़ता है, वह है अमृत। उसकी प्रत्यक्ष जानकारी ज्ञान है। उस ज्ञानामृत को भोगने अर्थात् प्राप्त करनेवाले योगीजन `यान्ति ब्रह्म सनातनम्' - शाश्वत सनातन परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यज्ञ कोई ऐसी वस्तु है, जो पूर्ण होते ही सनातन परब्रह्म में प्रवेश दिला देती है। यज्ञ न करें, तो आपत्ति क्या है? श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञरहित पुरुष को पुनः यह मनुष्यलोक अर्थात् मानव-शरीर भी सुलभ नहीं होता, फिर अन्य लोक कैसे सुखदायी होंगे? उसके लिए तो तिर्यक् योनियाँ सुरक्षित हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। अतः यज्ञ करना मनुष्य मात्र के लिए नितान्त आवश्यक है।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

इस प्रकार उपर्युक्त बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में कहे गये हैं, ब्रह्म के मुख से विस्तारित हैं। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुषों के शरीर को परब्रह्म धारण कर लेता है। ब्रह्म से अभिन्न अवस्थावाले उन महात्माओं की बुद्धि मात्र यन्त्र होती है। उनके द्वारा वह ब्रह्म ही बोलता है। उनकी वाणी में इन यज्ञों का विस्तार किया गया है।

इन सब यज्ञों को तू `कर्मजान् विद्धि' - कर्म से उत्पन्न हुआ जान। यही पहले भी कह आये हैं, `यज्ञः कर्मसमुद्भवः' (३/१४)। उन्हें इस प्रकार क्रियात्मक चलकर जान लेने पर (अभी बताया था, यज्ञ करके जिनका पाप नष्ट हो चुका हो, वही यज्ञ के यथार्थ ज्ञाता हैं) अर्जुन! तू `विमोक्ष्यसे'-संसार-बन्धन से पूर्णतः छूट जायेगा। यहाँ योगेश्वर ने कर्म स्पष्ट कर दिया। वह हरकत कर्म है, जिससे उपर्युक्त यज्ञ पूर्ण होते हैं।

अब यदि दैवी सम्पद् का अर्जन, सद्गुरु का ध्यान, इन्द्रियों का संयम, श्वास को प्रश्वास में हवन, प्रश्वास को श्वास में हवन, प्राण-अपान की गति का निरोध खेती करने से होता हो, व्यापार-नौकरी या राजनीति करने से होता हो तो आप करिये। यज्ञ तो ऐसी क्रिया है, जो पूर्ण होते ही तत्क्षण परब्रह्म में प्रवेश दिला देती है। वाह्य किसी भी कार्य से आप तत्क्षण ब्रह्म में प्रवेश पा जाते हों तो कीजिए।

वस्तुतः यह सब-के-सब यज्ञ चिन्तन की अन्तःक्रियाएँ हैं, आराधना का चित्रण है, जिससे आराध्य देव विदित होता है। यज्ञ उस आराध्य तक की दूरी तय करने की निर्धारित प्रक्रिया विशेष है। यह यज्ञ श्वास-प्रश्वास, प्राणायाम इत्यादि जिस क्रिया से सम्पन्न होते हैं, उस कार्य-प्रणाली का नाम कर्म है। कर्म का शुद्ध अर्थ है, 'आराधना', 'चिन्तन'।

प्रायः लोग कहते हैं कि संसार में कुछ भी किया जाय, हो गया कर्म! कामना से रहित होकर कुछ भी करते जाओ, हो गया निष्काम कर्मयोग। कोई कहता है कि अधिक लाभ के लिए विदेशी वस्त्र बेचते हैं, तो आप सकामी हैं। देश-सेवा के लिए स्वदेशी बेचें, तो हो गया निष्काम कर्मयोग। निष्ठापूर्वक नौकरी करें, हानि-लाभ की चिन्ता से मुक्त होकर व्यापार करें, हो गया निष्काम कर्मयोग। जय-पराजय की भावना से मुक्त हो युद्ध करें, चुनाव लड़ें, हो गये निष्कर्मी? मरोगे तो मुक्ति हो जायेगी? वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में वताया कि इस निष्काम कर्म में निर्धारित क्रिया एक ही है - **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'**। अर्जुन! तू निर्धारित कर्म को कर। यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। यज्ञ क्या है? श्वास-प्रश्वास का हवन, इन्द्रियों का संयम, यज्ञस्वरूप महापुरुष का ध्यान, प्राणायाम - प्राणों का निरोध। यही मन की विजितावस्था है। मन का ही प्रसार जगत् है। श्रीकृष्ण के ही शब्दों में **'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' (५/१९)** - उन पुरुषों द्वारा चराचर जगत् यहीं जीत लिया गया; जिसका मन समत्व में स्थित है। भला मन के समत्व और जगत् के जीतने से क्या सम्बन्ध हे? यदि जगत् को जीत ही लिया तो रुका कहाँ पर? तब कहते हैं, वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर मन भी निर्दोष और समत्व की स्थितिवाला हो गया, अतः वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

सारांशतः मन का प्रसार ही जगत् है। चराचर जगत् ही हवनसामग्री के रूप में है। मन के सर्वथा निरोध होते ही जगत् का निरोध हो जाता है। मन के निरोध के साथ ही यज्ञ का परिणाम निकल आता है। यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उस ज्ञानामृत का पान करने वाला पुरुष सनातन ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है। यह सभी यज्ञ ब्रह्मस्थित महापुरुषों की वाणी द्वारा कहे गये हैं। ऐसा नहीं कि अलग-अलग सम्प्रदायों के साधक अलग-अलग प्रकार के यज्ञ करते हैं, वल्कि ये सभी यज्ञ एक ही साधक की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। यह यज्ञ जिससे होने लगे, उस क्रिया का नाम कर्म है। सम्पूर्ण गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है, जो सांसारिक कार्य-व्यापारों का समर्थन करता हो।

प्रायः यज्ञ का नाम आने पर लोग वाहर एक यज्ञ-वेदी वनाकर तिल, जौ लेकर `स्वाहा' वोलते हुए हवन प्रारम्भ कर देते हैं। यह एक धोखा है। द्रव्य-यज्ञ दूसरा है, जिसे श्रीकृष्ण ने कई वार कहा। किन्तु पशु-वलि, वस्तु-दाह इत्यादि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

अर्जुन! सांसारिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ [जिसका परिणाम ज्ञान (साक्षात्कार) है, यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उस अमृत तत्त्व की जानकारी का नाम ज्ञान है, ऐसा यज्ञ] श्रेयस्कर है, परम कल्याणकारी है। हे पार्थ! सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में शेष हो जाते हैं। `परिसमाप्यते' - भली प्रकार समाहित हो जाते हैं। ज्ञान यज्ञ की पराकाष्ठा है। उसके पश्चात् कर्म किये जाने से न कोई लाभ है और न छोड़ देने से उस महापुरुष की कोई क्षति ही होती है।

इस प्रकार भौतिक द्रव्यों से होनवाले यज्ञ भी यज्ञ हैं; किन्तु उस यज्ञ की तुलना में, जिसका परिणाम साक्षात्कार है, उस ज्ञान-यज्ञ की अपेक्षा अत्यन्त अल्प हैं। आप करोड़ का हवन करें, सैकड़ों यज्ञ-वेदी बना लें, सत्पथ पर द्रव्य लगावें, साधु-सन्त-महापुरुषों की सेवा में द्रव्य लगावें, किन्तु इस ज्ञान-यज्ञ की अपेक्षा अत्यन्त अल्प हैं। वस्तुतः यज्ञ श्वास-प्रश्वास का है, इन्द्रियों के संयम का है, मन के निरोध का है, जैसा श्रीकृष्ण अभी वता आये हैं। इस यज्ञ को प्राप्त कहाँ किया जाय? उसकी विधि कहाँ से सीखें? मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजाघरों में

मिलेगा या पुस्तकों में? तीर्थयात्राओं में मिलेगा या स्नान करने से मिलेगा? श्रीकृष्ण कहते हैं - नहीं, उसका तो एक ही स्रोत है तत्त्वस्थित महापुरुष; यथा-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

इसलिये अर्जुन! तू तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर भली प्रकार प्रणत होकर (दण्डवत्-प्रणाम करके, अहंकार त्यागकर, शरण होकर) भली प्रकार सेवा करके, निष्कपट भाव से प्रश्न करके तू उस ज्ञान को जान। वे तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानीजन तेरे लिए उस ज्ञान का उपदेश करेंगे, साधना-पथ पर चलायेंगे। समर्पित भाव से सेवा करने के उपरान्त ही इस ज्ञान को सीखने की क्षमता आती है। तत्त्वदर्शी महापुरुष परमतत्त्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन करनेवाले हैं। वे यज्ञ की विधि-विशेष के ज्ञाता हैं और वही आपको भी सिखायेंगे। यदि अन्य यज्ञ होता, तो ज्ञानी-तत्त्वदर्शी की क्या आवश्यकता थी?

स्वयं भगवान् के सामने ही तो अर्जुन खड़ा था। भगवान् उसे तत्त्वदर्शी के पास क्यों भेजते हैं? वस्तुतः श्रीकृष्ण एक योगी थे। उनका आशय है कि आज तो अनुरागी अर्जुन मेरे समक्ष उपस्थित है, भविष्य में अनुरागियों को कहीं भ्रम न हो जाय कि श्रीकृष्ण तो चले गये, अब किसकी शरण जाएँ? इसलिए उन्होंने स्पष्ट किया कि तत्त्वदर्शी के पास जाओ। वे ज्ञानीजन तुझे उपदेश करेंगे। और-

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

उस ज्ञान को उनके द्वारा समझकर तू इस प्रकार फिर कभी मोह को प्राप्त नहीं होगा। उनसे दी गई जानकारी के द्वारा उस पर चलते हुए तू अपनी आत्मा के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूतों को देखेगा अर्थात् सभी प्राणियों में इसी आत्मा का प्रसार देखेगा। जब सर्वत्र एक ही आत्मा के प्रसार को देखने की क्षमता आ जायेगी, उसके पश्चात् तू मुझमें प्रवेश करेगा। अतः उस परमात्मा को पाने का साधन 'तत्त्वस्थित महापुरुष' के द्वारा है। ज्ञान के सम्बन्ध में, धर्म और शाश्वत सत्य के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण के अनुसार किसी तत्त्वदर्शी से ही पूछने का विधान है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।३६।।

यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है, तब भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा सभी पापों से निःसन्देह भली प्रकार तर जायेगा? इसका आशय आप यह न लगा लें कि अधिक से अधिक पाप करके कभी भी तर जायेंगे। श्रीकृष्ण का आशय मात्र यही है कि कहीं आप भ्रम में न रहें कि 'हम तो बड़े पापी हैं' 'हमसे पार नहीं लगेगा' - ऐसी कोई गुंजाइश न निकालें इसलिए श्रीकृष्ण प्रोत्साहन और आश्वासन देते हैं कि सब पापियों के पापों के समूह से भी अधिक पाप करनेवाला हो, फिर भी तत्त्वदर्शियों से प्राप्त ज्ञानरूपी नौका द्वारा तू निःसन्देह सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार पार कर जायेगा। किस प्रकार-

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है। यह ज्ञान की प्रवेशिका नहीं है, जहाँ से यज्ञ में प्रवेश मिलता है वरन् यह ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार को पराकाष्ठा का चित्रण है, जिसमें पहले विजातीय कर्म भस्म होते हैं और फिर प्राप्ति के साथ चिन्तन-कर्म भी उसी में विलय हो जाते हैं। जिसे पाना था पा लिया, अब आगे चिन्तन कर किसे ढूँढें? ऐसा साक्षात्कारवाला ज्ञानी सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों का अन्त कर लेगा। वह साक्षात्कार होगा कहाँ? बाहर होगा अथवा भीतर? इस पर कहते हैं-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञान (साक्षात्कार) को तू स्वयं (दूसरा नहीं) योग की परिपक्व अवस्था में (आरम्भ में नहीं) अपनी आत्मा के अन्तर्गत हृदय-देश में ही अनुभव करेगा, बाहर नहीं। इस ज्ञान के लिए कौन-सी योग्यता अपेक्षित है? योगेश्वर के ही शब्दों में-

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

श्रद्धावान्, तत्पर तथा संयतेन्द्रिय पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर पाता है। भावपूर्वक जिज्ञासा नहीं है, तो तत्त्वदर्शी की शरण जाने पर भी ज्ञान नहीं प्राप्त होता। केवल श्रद्धा ही पर्याप्त नहीं है। श्रद्धावान् शिथिल प्रयत्न भी हो सकता है। अतः महापुरुष द्वारा निर्दिष्ट पथ पर तत्परता से अग्रसर होने की लगन आवश्यक है। इसके साथ ही सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम अनिवार्य है। जो वासनाओं से विरत नहीं है, उसके लिए साक्षात्कार (ज्ञान की प्राप्ति) कठिन है। केवल श्रद्धावान, आचरणरत संयतेन्द्रिय पुरुष ही ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त कर वह तत्क्षण परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है, जिसके पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, यही अन्तिम शान्ति है। फिर वह कभी अशान्त नहीं होता। और जहाँ श्रद्धा नहीं है-

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अज्ञानी जो यज्ञ की विधि-विशेष से अनभिज्ञ है एवं श्रद्धारहित तथा संशययुक्त पुरुष इस परमार्थ पथ से भ्रष्ट हो जाता है, उनमें भी संशययुक्त पुरुष के लिए न तो सुख है, न पुनः मनुष्य शरीर है और न परमात्मा ही। अतः तत्त्वदर्शी महापुरुष के-पास जाकर इस पथ के संशयों का निवारण कर लेना चाहिए अन्यथा वे वस्तु का परिचय कभी नहीं पायेंगे। फिर पाता कौन है?-

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।४१।।

जिसके कर्म योग द्वारा भगवान् में समाहित हो चुके हैं, जिसका सम्पूर्ण संशय परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी द्वारा नष्ट हो गया है, परमात्मा से संयुक्त ऐसे पुरुष को कर्म नहीं बाँधते। योग के द्वारा ही कर्मों का शमन होगा। ज्ञान से ही संशय नष्ट होगा। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं-

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

इसलिए भरतवंशी अर्जुन! तू योग में स्थित हो और अज्ञान से उत्पन्न हुए हृदय में स्थित अपने इस संशय को ज्ञानरूपी तलवार से काट। युद्ध के लिए खड़ा हो। जब साक्षात्कार में बाधक संशय शत्रु मन के भीतर है, तो बाहर कोई किसी से क्यों लड़ेगा? वस्तुतः जब आप चिन्तन-पथ पर अग्रसर होते हैं, तव संशय से उत्पन्न वाह्य प्रवृत्तियाँ वाधा के रूप में स्वाभाविक हैं। ये शत्रु के रूप में भयंकर आक्रमण करती हैं। संयम के साथ यज्ञ की विधि-विशेष का आचरण करते हुए इन विकारों का पार पाना ही युद्ध है, जिसका परिणाम परम शान्ति है! यही अन्तिम विजय है, जिसके पीछे हार नहीं है।

निष्कर्ष :

इस अध्याय के आरम्भ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि इस योग को आरम्भ में मैंने सूर्य के प्रति कहा। सूर्य ने मनु से और मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा और राजर्षियों ने जाना। मैंने अथवा अव्यक्त स्थितिवाले ने कहा। महापुरुष भी अव्यक्त स्वरूपवाला ही है। शरीर तो उसके रहने का मकान मात्र है। ऐसे महापुरुष की वाणी में परमात्मा ही प्रवाहित होता है। ऐसे किसी महापुरुष से योग सूर्य द्वारा संचारित होता है। उस परम प्रकाश रूप का प्रसार सुरा के अन्तराल में होता है इसलिये सूर्य के प्रति कहा। श्वास में संचारित होकर वे संस्कार रूप में आ गये। सुरा में संचित रहने पर, समय आने पर वही मन में संकल्प वनकर आ जाता है। उसकी महत्ता समझने पर मन में उस वाक्य के प्रति इच्छा जागृत होती है और योग कार्यरूप ले लेता है। क्रमशः उत्थान करते-करते यह योग ऋद्धियों-सिद्धियों की राजर्षित्व श्रेणी तक पहुँचने पर नष्ट होने की स्थिति में जा पहुँचा है; किन्तु जो प्रिय भक्त है, अनन्य सखा है, उसे महापुरुष ही सँभाल लेते हैं।

अर्जुन के प्रश्न करने पर कि आपका जन्म तो अव हुआ है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने वताया कि अव्यक्त, अविनाशी, अजन्मा और सम्पूर्ण भूतों में प्रवाहित होने पर भी आत्म-माया, योग-प्रक्रिया द्वारा अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति को वश में करके मैं प्रकट होता हूँ। प्रकट होकर करते क्या हैं? साध्य वस्तुओं को परित्राण देने तथा जिनसे दूषित उत्पन्न होते हैं उनका विनाश करने के लिये, परमधर्म परमात्मा को स्थिर करने के लिये मैं आरम्भ से पूर्तिपर्यन्त पैदा होता हूँ। मेरा वह

जन्म और कर्म दिव्य है। उसे केवल तत्त्वदर्शी ही जान पाते हैं। भगवान् का आविर्भाव तो कलियुग की अवस्था से ही हो जाता है, यदि सच्ची लगन हो; किन्तु आरम्भिक साधक समझ ही नहीं पाता कि यह भगवान् बोल रहे हैं या यों ही संकेत मिल रहे हैं। आकाश से कौन बोलता है? 'महाराज जी' बताते थे कि जब भगवान् कृपा करते हैं, आत्मा से रथी हो जाते हैं तो खम्भे से, वृक्ष से, पत्ते से, शून्य से हर स्थान से बोलते और सँभालते हैं। उत्थान होते-होते जब परमतत्त्व परमात्मा विदित हो जाय, तभी स्पर्श के साथ ही वह स्पष्ट समझ पाता है। इसलिये अर्जुन! मेरे उस स्वरूप को तत्त्वदर्शियों ने देखा और मुझे जानकर वे तत्क्षण मुझमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं, जहाँ से पुनः आवागमन में नहीं आते।

इस प्रकार उन्होंने भगवान् के आविर्भाव की विधि बताया कि वह किसी अनुरागी के हृदय में होता है, बाहर कदापि नहीं। श्रीकृष्ण ने बताया कि मुझे कर्म नहीं बाँधते और इस स्तर से जो जानता है, उसे भी कर्म नहीं बाँधता। यही समझकर मुमुक्षु पुरुषों ने कर्म का आरम्भ किया था कि उस स्तर से जानेंगे तो जैसे श्रीकृष्ण, वैसा ही उस स्तर से जाननेवाला वह पुरुष और जान लेने पर वैसा ही वह मुमुक्षु अर्जुन। यह उपलब्धि निश्चित है, यदि यज्ञ किया जाय। यज्ञ का स्वरूप बताया; यज्ञ का परिणाम परमतत्त्व, परमशान्ति बताया। इस ज्ञान को पाया कहाँ जाय? इस पर किसी तत्त्वदर्शी के पास जाने और उन्हीं विधिओं से पेश आने को कहा, जिससे वे महापुरुष अनुकूल हो जायँ।

योगेश्वर ने स्पष्ट किया कि वह ज्ञान तू स्वयं आचरण करके पायेगा, दूसरे के आचरण से तुझे नहीं मिलेगा। वह भी योग की सिद्धि के काल में प्राप्त होगा, प्रारम्भ में नहीं। वह ज्ञान (साक्षात्कार) हृदय-देश में होगा, बाहर नहीं। श्रद्धालु, तत्पर, संयतेन्द्रिय एवं संशयरहित पुरुष ही इसे प्राप्त करता है। अतः हृदय में स्थित अपने संशय को वैराग्य की तलवार से काट! यह हृदय-देश की लड़ाई है। बाह्य युद्ध से गीतोक्त युद्ध का कोई प्रयोजन नहीं है।

इस अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने मुख्य रूप से यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट किया और बताया कि यज्ञ जिससे पूरा होता है, उसे करने (कार्य-प्रणाली) का नाम कर्म है। कर्म को भली प्रकार इसी अध्याय में स्पष्ट किया, अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे 'यज्ञकर्म-स्पष्टीकरण' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'यज्ञकर्म-स्पष्टीकरण' नामक चौथा अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'यज्ञकर्म-स्पष्टीकरण' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अध्याय तीन में अर्जुन ने प्रश्न रखा था कि - भगवन्! जब ज्ञानयोग आपको श्रेष्ठ मान्य है तो आप मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? अर्जुन को निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग कुछ सरल प्रतीत हुआ लगता है; क्योंकि ज्ञानयोग में हारने पर देवत्व और विजय में महामहिम स्थिति - दोनों ही दशाओं में लाभ ही लाभ प्रतीत हुआ। किन्तु अब तक अर्जुन ने भली प्रकार समझ लिया था कि दोनों ही मार्गों में कर्म तो करना ही पड़ेगा (योगेश्वर उसे संशयरहित होकर तत्त्वदर्शी महापुरुष की शरण लेने के लिए भी प्रेरित करते हैं; क्योंकि समझने के लिये वही एक स्थान है।) अतः दोनों मार्गों में से एक चुनने से पूर्व उसने निवेदन किया-

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

हे श्रीकृष्ण! आप कभी संन्यास-माध्यम से किये जानेवाले कर्म की और कभी निष्काम दृष्टि से किये जानेवाले कर्म की प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में से एक जो भली प्रकार आपका निश्चय किया हुआ हो, जो परम कल्याणकारी हो, उसे मेरे लिये कहिये। कहीं जाने के लिये आपको दो मार्ग बताये जायँ, तो आप सुविधाजनक मार्ग अवश्य पूछेंगे। यदि नहीं पूछते, तो आप जानेवाले नहीं हैं। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा-

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु क्रर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

अर्जुन! संन्यास-माध्यम से किया जानेवाला कर्म अर्थात् ज्ञानमार्ग से किया जानेवाला कर्म और `कर्मयोगः' - निष्काम भावना से किये जानेवाले कर्म - ये दोनों ही परमश्रेय को दिलानेवाले हैं, परन्तु इन दोनों मार्गों से संन्यास अथवा ज्ञानदृष्टि से किये जानेवाले कर्म की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है। प्रश्न स्वाभाविक है कि श्रेष्ठ क्यों है?

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

महाबाहु अर्जुन! जो न किसी से द्वेष करता है, न किसी की आकांक्षा करता है, वह सदैव संन्यासी ही समझने योग्य है। चाहे वह ज्ञानमार्ग से या निष्काम कर्म मार्ग से ही क्यों न हो। राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित वह पुरुष सुखपूर्वक भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

निष्काम कर्मयोग तथा ज्ञानयोग इन दोनों को वही अलग-अलग बताते हैं, जिनकी समझ इस पथ में अभी बहुत हल्की है न कि पूर्ण ज्ञाता पण्डित लोग; क्योंकि दोनों में से एक में भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त होता है। दोनों का फल एक है, इसलिए दोनों एक ही समान हैं।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

जहाँ सांख्य-दृष्टि से कर्म करनेवाला पहुँचता है, वहीं निष्काम माध्यम से कर्म करनेवाला भी पहुँचता है। इसलिए जो दोनों को फल की दृष्टि से एक देखता है, वही यथार्थ जाननेवाला है। जब दोनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं तो निष्काम कर्मयोग विशेष क्यों? श्रीकृष्ण बताते हैं-

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।।६।।

अर्जुन! निष्काम कर्मयोग का आचरण किये बिना 'संन्यासः' - अर्थात् सर्वस्व का न्यास प्राप्त होना दुःखप्रद है। जब योग का आचरण प्रारम्भ ही नहीं किया तो असम्भव-सा है। इसलिए भगवत्स्वरूप का मनन करनेवाला मुनि, जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ मौन हैं, निष्काम कर्मयोग का आचरण करके परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।

स्पष्ट है कि ज्ञानयोग में निष्काम कर्मयोग का ही आचरण करना पड़ेगा; क्योंकि क्रिया दोनों में एक ही है। वही यज्ञ की क्रिया है, जिसका शुद्ध अर्थ है - 'आराधना'। दोनों मार्गों में अन्तर केवल कर्त्ता के दृष्टिकोण का है। एक अपनी शक्ति को समझकर हानि-लाभ देखते हुए इसी कर्म में प्रवृत्त होता है और दूसरा निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर इसी क्रिया में प्रवृत्त होता है। उदाहरणार्थ एक प्राइवेट पढ़ता है, दूसरा नॉमिनेट। दोनों का पाठ्यक्रम एक ही है, परीक्षा एक है, परीक्षक-निरीक्षक दोनों में एक ही हैं। ठीक इसी प्रकार दोनों के सद्गुरु तत्त्वदर्शी हैं और डिग्री एक ही है। केवल दोनों के पढ़ने का दृष्टिकोण भिन्न है। हाँ, संस्थागत छात्र को सुविधाएँ अधिक रहती हैं।

पीछे श्रीकृष्ण ने कहा कि काम और क्रोध दुर्जय शत्रु हैं। अर्जुन! इन्हें तू मार! अर्जुन को लगा कि यह तो बड़ा कठिन है किन्तु श्रीकृष्ण ने कहा - नहीं, शरीर से परे इन्द्रियां हैं, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, बुद्धि से परे तुम्हारा स्वरूप है। तुम वहाँ से प्रेरित हो। इस प्रकार अपनी हस्ती समझकर, अपनी शक्ति को सामने रखकर, स्वावलम्बी होकर कर्म में प्रवृत्त होना 'ज्ञानयोग' है। श्रीकृष्ण ने कहा था, चित्त को ध्यानस्थ करते हुए, कर्मों को मुझमें समर्पण करके आशा, ममता और सन्तापरहित होकर युद्ध कर! समर्पण के साथ इष्ट पर निर्भर होकर उसी कर्म में प्रवृत्त होना निष्काम कर्मयोग है। दोनों की क्रिया एक है और परिणाम भी एक है।

इसी पर बल देकर योगेश्वर श्रीकृष्ण यहाँ कहते हैं कि योग का आचरण किये बिना संन्यास अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के अन्त की स्थिति का प्राप्त होना असम्भव है। श्रीकृष्ण के अनुसार ऐसा कोई योग नहीं है कि हाथ पर हाथ रखकर बैठे-बैठे कहो कि - "मैं परमात्मा हूँ, शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मेरे लिये न तो कर्म है, न बन्धन। मैं भला-बुरा कुछ करता दिखाई पड़ता भी हूँ, तो इन्द्रियाँ

अपने अर्थों में बरत रही हैं।" ऐसा पाखण्ड श्रीकृष्ण के शब्दों में कदापि नहीं है। साक्षात् योगेश्वर भी अपने अनन्य सखा अर्जुन को बिना कर्म के यह स्थिति नहीं दे सके। यदि ऐसा वे कर सकते तो गीता की आवश्यकता ही क्या थी? कर्म तो करना ही पड़ेगा। कर्म करके ही संन्यास की स्थिति को पाया जा सकता है और योगयुक्त पुरुष शीघ्र ही परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। योगयुक्त पुरुष के लक्षण क्या हैं? इस पर कहते हैं-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

`विजितात्मा' - विशेष रूप से जीता हुआ है शरीर जिसका, `जितेन्द्रियः' - जीती हुई हैं इन्द्रियाँ जिसकी और `विशुद्धात्मा' - विशेष रूप से शुद्ध है अन्तःकरण जिसका, ऐसा पुरुष `सर्वभूतात्मभूतात्मा' - सम्पूर्ण भूत प्राणियों के आत्मा के मूल उद्गम परमात्मा से एकीभाव हुआ योग से युक्त है। वह कर्म करता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता। तो करता क्यों है? पीछेवालों में परमकल्याणकारी बीज का संग्रह करने के लिये। लिप्त क्यों नहीं होता? क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों का जो मूल उद्गम है, जिसका नाम परमतत्त्व है उस तत्त्व में वह स्थित हो गया। आगे कोई वस्तु नहीं जिसकी शोध करे। पीछेवाली वस्तुएँ छोटी पड़ गईं, तो भला आसक्ति किसमें करें? इसलिये वह कर्मों से आवृत्त नहीं होता। यह योगयुक्त की पराकाष्ठा का चित्रण है। पुनः योगयुक्त पुरुष की रहनी स्पष्ट करते हैं कि वह करते हुए भी उससे लिप्त क्यों नहीं होता?

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।८।।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९।।

परमतत्त्व परमात्मा को साक्षात्कारसहित जाननेवाले योगयुक्त पुरुष की यह मनःस्थिति अर्थात् अनुभूति है कि मैं किंचित् मात्र भी कुछ नहीं करता हूँ। यह उसकी कल्पना नहीं, वल्कि यह स्थिति उसने कर्म करके पायी है यथा `युक्तो

मन्येत' - अब प्राप्ति के पश्चात् वह सब कुछ देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता, सूँघता, भोजन करता, गमन करता, सोता, श्वास लेता, बोलता, त्याग करता, ग्रहण करता, आँखों को खोलता और मींचता हुआ भी `इन्द्रियाँ अपने अर्थों में बरतती हैं' - ऐसी धारणावाला होता है। परमात्मा से बढ़कर कुछ है ही नहीं और जब उसमें वह स्थित ही है, तो उससे बढ़कर किस सुख की कामना से वह किसी का स्पर्श इत्यादि करेगा? यदि कोई श्रेष्ठ वस्तु आगे होती तो आसक्ति अवश्य रहती। किन्तु प्राप्ति के बाद अब और आगे जायेगा कहाँ? और पीछे त्यागेगा क्या? इसलिए योगयुक्त पुरुष लिप्त नहीं होता। इसी को एक उदाहरण के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं-

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

कमल कीचड़ में होता है। उसका पत्ता पानी के ऊपर तैरता है। लहरें रात-दिन उसके ऊपर से गुजरती हैं। किन्तु आप पत्ते को देखें, सूखा मिलेगा। जल की एक बूँद भी उस पर टिक नहीं पाती। कीचड़ और जल में रहते हुए भी वह उनसे लिप्त नहीं होता। ठीक इसी प्रकार, जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में विलय करके (साक्षात्कार के साथ ही कर्मों का विलय होता है, इससे पूर्व नहीं) आसक्ति को त्याग करके (अब आगे कोई वस्तु नहीं, अतः आसक्ति नहीं रहती, इसलिए आसक्ति त्यागकर) कर्म करता है, वह भी इसी प्रकार लिप्त नहीं होता। फिर वह करता क्यों है? आपलोगों के लिए, समाज के कल्याण-साधन के लिए, पीछेवालों के मार्ग-दर्शन के लिए! इसी पर बल देते हैं-

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

योगीजन केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा भी आसक्ति त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं। जब कर्म ब्रह्म में विलय हो चुके तो क्या अब भी आत्मा अशुद्ध ही है? नहीं, वे `सर्वभूतात्मभूतात्मा' हो चुके हैं। सम्पूर्ण प्राणियों में वे अपनी ही आत्मा का प्रसार पाते हैं। उन समस्त आत्माओं की शुद्धि के लिए, आप सबका मार्ग-दर्शन करने के लिए वे कर्म में बरतते हैं।

शरीर, मन, बुद्धि तथा केवल इन्द्रियों से वह कर्म करता है, स्वरूप से वह कुछ भी नहीं करता, स्थिर है। वाहर से वह सक्रिय दिखाई देता है, किन्तु भीतर उसमें असीम शान्ति है। रस्सी जल चुकी, मात्र ऐंठन (आकार) शेष है, जिससे बँध नहीं सकता।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

`योगयुक्त' अर्थात् योग के परिणाम को प्राप्त पुरुष जो सब प्राणियों के आत्मा के मूल परमात्मा में स्थित है, ऐसा योगी कर्म के फल को त्यागकर (कर्मों का फल परमात्मा उससे भिन्न नहीं है इसलिए अब कर्म-फल को त्यागकर) `नैष्ठिकीम् शान्तिम् आप्नोति'-शान्ति की अन्तिम अवस्था को प्राप्त होता है, जिसके आगे कोई शान्ति शेष नहीं है; जिसके पश्चात् वह कभी अशान्त नहीं होता। किन्तु अयुक्त पुरुष जो योग के परिणाम से युक्त नहीं है, अभी रास्ते में है - ऐसा पुरुष फल में आसक्त हुआ (फल है परमात्मा, उसमें उसका आसक्त होना आवश्यक है। इसलिए फल में आसक्त होने पर भी) `काम कारेण निबध्यते' - कामना करके बँध जाता है अर्थात् पूर्तिपर्यन्त कामनाएँ जागृत होती हैं. अतः साधक को पूर्तिपर्यन्त सावधान रहना चाहिए। `महाराज जी' कहा करें - "हो! तनिकौ हम अलग, भगवान अलग हैं तो माया कामयाव हो सकती है!" कल ही प्राप्ति होनी हो किन्तु आज तो वह अज्ञानी ही है। अतः पूर्तिपर्यन्त साधक को असावधान नहीं होना चाहिए। इसी पर आगे देखें-

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।।१३।।

जो सम्पूर्ण रूप से स्ववश है, जो शरीर, मन, बुद्धि और प्रकृति से परे स्वयं में स्थित है, ऐसा वशी पुरुष निःसन्देह न कुछ करता है, न कराता है। पीछेवालों से कराना भी उसकी आन्तरिक शान्ति का स्पर्श नहीं कर पाता। ऐसा स्वरूपस्थ पुरुष शब्दादि विषयों को उपलब्ध करानेवाले नौ द्वारों (दो कान, दो नेत्र, दो नासिका छिद्र, एक मुख, उपस्थ एवं पायु) वाले शरीररूपी घर में सब कर्मों को

मन से त्यागकर स्वरूपानन्द में ही स्थित रहता है। यथार्थतः वह न कुछ करता है और न कराता है।

इसी को पुनः श्रीकृष्ण दूसरे शब्दों में कहते हैं कि वह प्रभु न करता है, न कराता है। सद्गुरु, भगवान, प्रभु, स्वरूपस्थ महापुरुष, युक्त इत्यादि एक-दूसरे के पर्याय हैं। अलग से कोई भगवान कुछ करने नहीं आता। वह जब करता है, तो इन्हीं स्वरूपस्थ इष्ट के माध्यम से कराता है। महापुरुष के लिए शरीर मकान मात्र है। अतः परमात्मा का करना और महापुरुष का करना एक ही बात है; क्योंकि वह उनके द्वारा है। वस्तुतः वह पुरुष करते हुए भी कुछ नहीं करता। इसी पर अगला श्लोक देखें-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।।१४।।

वह प्रभु न तो भूत प्राणियों के कर्त्तापन को, न कर्मों को और न कर्मफलों का संयोग ही बैठाता है, बल्कि स्वभाव में स्थित प्रकृति के दबाव के अनुसार ही सभी बरतते हैं। जैसी जिसकी प्रकृति - सात्त्विक, राजसी अथवा तामसी है, उसी स्तर से वह बरतता है। प्रकृति तो लम्बी-चौड़ी है लेकिन आपके ऊपर उतना ही प्रभाव डाल पाती है, जितना आपका स्वभाव विकृत अथवा विकसित है।

प्रायः लोग कहते हैं कि करने-करानेवाले तो भगवान हैं, हम तो यन्त्रमात्र हैं। हमसे वे भला करावें अथवा बुरा। किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि न वह प्रभु स्वयं करता है, न कराता है और न वह जुगाड़ ही बैठाता है। लोग अपने स्वभाव में स्थित प्रकृति के अनुरूप बरतते हैं। स्वतः कार्य करते हैं। वे अपने आदत से मजबूर होकर करते हैं, भगवान नहीं करते। तब लोग कहते क्यों हैं कि भगवान करते हैं? इस पर योगेश्वर बताते हैं-

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

जिसे अभी प्रभु कहा, उसी को यहाँ विभु कहा गया है; क्योंकि वह सम्पूर्ण वैभव से संयुक्त है। प्रभुता एवं वैभव से संयुक्त वह परमात्मा न किसी के पाप-कर्म को और न किसी के पुण्य-कर्मों को ही ग्रहण करता है; फिर भी लोग

कहते क्यों हैं? इसलिये कि अज्ञान द्वारा ज्ञान ढँका हुआ है। उन्हें अभी साक्षात्कारसहित ज्ञान तो हुआ नहीं। वे अभी जन्तु हैं। मोहवश वे कुछ भी कह सकते हैं। ज्ञान से क्या होता है? इसे स्पष्ट करते हैं-

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

जिसके अन्तःकरण का वह अज्ञान (जिसने ज्ञान को ढँक रखा था), आत्म-साक्षात्कार द्वारा नष्ट हो गया है और इस प्रकार जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस परमतत्त्व परमात्मा को प्रकाशित करता है। तो क्या परमात्मा किसी अन्धकार का नाम है? नहीं, वह तो `स्वयं प्रकाश रूप दिन राती' - स्वयं प्रकाश रूप है। है तो, किन्तु हमारे उपभोग के लिये तो नहीं है, दिखायी तो नहीं देता? जब ज्ञान द्वारा अज्ञान का आवरण हट जाता है, तो उसका वह ज्ञान सूर्य के सदृश परमात्मा को अपने में प्रवाहित कर लेता है। फिर उस पुरुष के लिए कहीं अन्धकार नहीं रह जाता। उस ज्ञान का स्वरूप क्या है?

तद्‌बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

जब उस परमतत्त्व परमात्मा के अनुरूप बुद्धि हो, तत्त्व के अनुरूप प्रवाहित मन हो, परमतत्त्व परमात्मा में एकीभाव से उसकी रहनी हो और उसी के परायण हो, इसी का नाम ज्ञान है। ज्ञान कोई बकवास या बहस नहीं है। इस ज्ञान द्वारा पापरहित हुआ पुरुष पुनरागमनरहित परमगति को प्राप्त होता है। परमगति को प्राप्त, पूर्ण जानकारी से युक्त पुरुष ही पण्डित कहलाते हैं। आगे देखें-

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

ज्ञान के द्वारा जिनका पाप शमन हो चुका है, जो `अपुनरावर्ती परमगति' को प्राप्त हैं, ऐसे ज्ञानीजन विनययुक्त ब्राह्मण तथा चाण्डाल में, गाय और कुत्ते में

तथा हाथी में समान दृष्टिवाले होते हैं। उनकी दृष्टि में विद्या-विनययुक्त ब्राह्मण न तो कोई विशेषता रखता है और न चाण्डाल कोई हीनता रखता है। न गाय धर्म है, न कुत्ता अधर्म और न हाथी विशालता ही रखता है। ऐसे पण्डित, ज्ञाताजन समदर्शी और समवर्ती होते हैं। उनकी दृष्टि चमड़ी पर नहीं रहती, बल्कि आत्मा पर पड़ती है। अन्तर केवल इतना है, विद्या-विनयसम्पन्न स्वरूप के समीप है और शेष कुछ पीछे हैं। कोई एक मंजिल आगे है, तो कोई पिछले पड़ाव पर। शरीर तो वस्त्र है। उनकी दृष्टि वस्त्र को महत्त्व नहीं देती अपितु उनके हृदय में स्थित आत्मा पर पड़ती है इसलिए वे कोई भेद नहीं रखते।

श्रीकृष्ण ने पर्याप्त गो-सेवा की थी। उन्हें गाय के प्रति गौरवपूर्ण शब्द कहना चाहिये था; किन्तु उन्होंने ऐसा कुछ भी नहीं कहा। श्रीकृष्ण ने गाय को धर्म में कोई स्थान नहीं दिया। उन्होंने केवल इतना माना कि अन्य जीवात्माओं की तरह उसमें भी आत्मा है। गाय का आर्थिक महत्त्व जो भी हो, उसका धार्मिक वैशिष्ट्य परवर्ती लोगों की देन है। श्रीकृष्ण ने पीछे बताया कि अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है इसलिये वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। दिखावटी शोभायुक्त वाणी में वे उसे व्यक्त भी करते हैं। उनकी वाणी की छाप जिनके चित्त पर पड़ती है, उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। वे कुछ पाते नहीं, नष्ट हो जाते हैं। जबकि निष्काम कर्मयोग में अर्जुन! निर्धारित क्रिया एक ही है - यज्ञ की प्रक्रिया `आराधना'! गाय, कुत्ते, हाथी, पीपल, नदी का धार्मिक महत्त्व इन अनन्त शाखावालों की देन है। यदि इनका कोई धार्मिक महत्त्व होता तो श्रीकृष्ण अवश्य कहते। हाँ, मन्दिर-मस्जिद इत्यादि पूजा के स्थल आरंभिक काल में अवश्य हैं, वहाँ प्रेरणादायक सामूहिक उपदेश हैं तो उनकी उपयोगिता अवश्य है, वे धर्मोपदेश केन्द्र हैं।

प्रस्तुत श्लोक में दो पण्डितों की चर्चा है। एक पण्डित तो वह है, जो पूर्ण ज्ञाता है और दूसरा वह, जो विद्या-विनयसम्पन्न है। वे दो कैसे? वस्तुतः प्रत्येक श्रेणी की दो सीमाएँ होती हैं - एक तो अधिकतम सीमा - पराकाष्ठा और दूसरी प्रवेशिका अथवा निम्नतम सीमा। उदाहरण के लिये भक्ति की निम्नतम सीमा वह है, जहाँ से भक्ति आरम्भ की जाती है विवेक वैराग्य और लगन के साथ जब आराधना करते हैं और अधिकतम सीमा वह है, जहाँ भक्ति अपना परिणाम देने

की स्थिति में होती है। ठीक इसी प्रकार ब्राह्मण-श्रेणी है। जब ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली क्षमताएँ आती हैं, उस समय विद्या होती है, विनय होता है। मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, अनुभवी सूत्रपात् का संचार, धारावाही चिन्तन, ध्यान और समाधि इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली सारी योग्यताएं उसके अन्तराल में स्वाभाविक कार्यरत रहती हैं। यह ब्राह्मणत्व की निम्नतम सीमा है। उच्चतम सीमा तब आती है, जब क्रमशः उन्नत होते-होते वह ब्रह्म का दिग्दर्शन करके उसमें विलय पा जाता है। जिसे जानना था, जान लिया। वह पूर्णज्ञाता है। अपुनरावृत्तिवाला ऐसा महापुरुष उस विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, कुत्ते, हाथी और गाय सब पर समान दृष्टिवाला होता है, क्योंकि उसकी दृष्टि हृदयस्थित आत्मस्वरूप पर पड़ती है। ऐसे महापुरुष को परमगति में क्या मिला है और कैसे? इस पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण बताते हैं-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, जिनका मन समत्व में स्थित है। मन के समत्व का संसार जीतने से क्या सम्बन्ध? संसार मिट ही गया, तो वह पुरुष रहा कहाँ? श्रीकृष्ण कहते हैं, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** - वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर उनका मन भी निर्दोष और सम स्थितिवाला हो गया। **'तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः'** - इसलिये वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इसी का नाम अपुनरावर्ती परमगति है। यह कब मिलता है? जब संसाररूपी शत्रु जीतने में आ जाय। संसार कब जीतने में आता है? जब मन का निरोध हो जाय, समत्व में प्रवेश पा जाय (क्योंकि मन का प्रसार ही जगत् है)। जब वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है तब ब्रह्मविद् का लक्षण क्या है? उसकी रहनी स्पष्ट करते हैं-

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

उसका कोई प्रिय-अप्रिय होता नहीं। इसलिए जिसे लोग प्रिय समझते हैं, उसे पाकर वह हर्षित नहीं होता और जिसे लोग अप्रिय समझते हैं (जैसा

धर्मावलम्वी चिह्न लगाते हैं), उसे पाकर वह उद्वेगवान् नहीं होता है। ऐसा स्थिर वुद्धि, `असंमूढ' - संशयरहित, `ब्रह्मविद्' - व्रह्म से संयुक्त, व्रह्मवेत्ता `ब्रह्मणि स्थितः' - परात्पर व्रह्म में सदैव स्थित है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

वाहर संसार के विषय भोगों में अनासक्त पुरुष अन्तरात्मा में स्थित जो सुख है, उस सुख को प्राप्त होता है। वह पुरुष `ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' - परव्रह्म परमात्मा के साथ मिलन से युक्त आत्मावाला है इसलिए वह अक्षय आनन्द का अनुभव करता है, जिस आनन्द का कभी क्षय नहीं होता। इस आनन्द का उपभोग कौन कर सकता है? जो वाहर के विषय भोगों से अनासक्त है। तो क्या भोग बाधक हैं? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

केवल त्वचा ही नहीं, सभी इन्द्रियाँ स्पर्श करती हैं। देखना - आँख का स्पर्श है, सुनना - कान का स्पर्श है। इसी प्रकार इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले सभी भोग यद्यपि भोगने में प्रिय प्रतीत होते हैं; किन्तु निःसन्देह वे सब `दुःखयोनयः' - दुःखद योनियों के ही कारण हैं। ये भोग ही योनियों के कारण हैं। इतना ही नहीं, वे भोग पैदा होने और मिटनेवाले हैं, नाशवान हैं। इसलिए कौन्तेय! विवेकी पुरुष उनमें नहीं फँसते। इन्द्रियों के इन स्पर्शों में रहता क्या है? काम और क्रोध, राग और द्वेष। इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

इसलिये जो मनुष्य शरीर के नाश होने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन करने में (मिटा देने में) सक्षम है, वह नर (न रमन करनेवाला) है। वही इस लोक में योग से युक्त है और वही सुखी है। जिसके पीछे दुःख नहीं है, उस सुख में अर्थात् परमात्मा में स्थितिवाला है। जीते-जी ही

इसकी प्राप्ति का विधान है, मरने पर नहीं। सन्त कबीर ने इसी को स्पष्ट किया - `अवधू! जीवत में कर आशा।' तो क्या मरने के बाद मुक्ति नहीं होती? वे कहते हैं - `मुए मुक्ति गुरु कहे स्वार्थी, झूठा दे विश्वासा।' यही योगेश्वर श्रीकृष्ण का कथन है कि शरीर रहते, मरने से पहले ही जो काम-क्रोध के वेग को मिटा देने में सक्षम हो गया, वही पुरुष इस लोक में योगी है, वही सुखी है। काम-क्रोध, बाह्यस्पर्श ही शत्रु हैं। इन्हें आप जीतें। इसी पुरुष के लक्षण पुनः बता रहे हैं-

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

जो व्यक्ति अन्तरात्मा में ही सुखवाला, `अन्तरारामः' - अन्तरात्मा में ही आरामवाला तथा जो अन्तरात्मा में ही प्रकाशवाला (साक्षात्कारवाला) है, वही योगी `ब्रह्मभूत' - ब्रह्म के साथ एक होकर `ब्रह्म निर्वाणम्' - वाणी से परे ब्रह्म, शाश्वत ब्रह्म को प्राप्त होता है। अर्थात् पहले विकारों (काम-क्रोध) का अन्त, फिर दर्शन, फिर प्रवेश। आगे देखें-

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

परमात्मा का साक्षात्कार करके जिनका पाप नष्ट हो गया है, जिनकी दुविधाएँ नष्ट हो गयी हैं, सम्पूर्ण प्राणियों के हित में जो लगे हुए हैं (प्राप्ति वाले ही ऐसा कर सकते हैं। जो स्वयं गड्ढे में पड़ा है, वह दूसरों को क्या बाहर निकालेगा? इसीलिये करुणा महापुरुष का स्वाभाविक गुण हो जाता है) तथा `यतात्मानः' - जितेन्द्रिय ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्म को प्राप्त होते हैं। उसी महापुरुष की स्थिति पर पुनः प्रकाश डालते हैं-

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

काम और क्रोध से रहित, जीते हुए चित्तवाले, परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषों के लिए सब ओर से शान्त परब्रह्म ही प्राप्त है। बार-बार

योगेश्वर श्रीकृष्ण उस पुरुष की रहनी पर बल दे रहे हैं, जिससे प्रेरणा मिले। प्रश्न लगभग पूर्ण हुआ। अब वे पुनः बल देते हैं कि इस स्थिति को प्राप्त करने का आवश्यक अंग 'श्वास-प्रश्वास का चिन्तन' है। यज्ञ की प्रक्रिया में प्राण को अपान में हवन, अपान को प्राण में हवन, प्राण-अपान दोनों की गति का निरोध उन्होंने बताया था। उसी को समझा रहे हैं-

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

अर्जुन! बाहर के विषयों, दृश्यों का चिन्तन न करते हुए, उन्हें त्यागकर, नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थिर करके, 'भ्रुवोः अन्तरे' का ऐसा अर्थ नहीं कि आँखों के बीच या भौंह के बीच कहीं देखने की भावना से दृष्टि लगायें। भृकुटी के बीच का शुद्ध अर्थ इतना है कि सीधे बैठने पर दृष्टि भृकुटी के ठीक मध्य से सीधे आगे पड़े। दाहिने-बायें, इधर-उधर चकपक न देखें। नाक की डाँड़ी पर सीधी दृष्टि रखते हुए (कहीं नाक ही न देखने लगें), नासिका के अन्दर विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके अर्थात् दृष्टि तो वहाँ स्थिर करो और सुरत को श्वास में लगा दो कि कब श्वास भीतर गयी? कितना रुकी? लगभग आधा सेकण्ड रुकती है, प्रयास करके न रोकें। कब श्वास बाहर निकली? कितनी देर तक बाहर रही? कहने की आवश्यकता नहीं कि श्वास में उठनेवाली नामध्वनि सुनायी पड़ती रहेगी। इस प्रकार श्वास-प्रश्वास पर जब सुरत टिक जायेगी तो धीरे-धीरे श्वास अचल, स्थिर ठहर जायेगी, सम हो जायेगी। न भीतर से संकल्प उठेंगे और न बाह्य संकल्प अन्दर टकराव कर पायेंगे। बाहर के भोगों का चिन्तन तो बाहर ही त्याग दिया गया था, भीतर भी संकल्प नहीं जाग्रत होंगे। सुरत एकदम खड़ी हो जाती है, तैल धारावत्। तेल की धारा पानी की तरह टप-टप नहीं गिरती, जब तक गिरेगी धारा ही गिरेगी। इसी प्रकार प्राण और अपान की गति एकदम सम, स्थिर करके इन्द्रियों, मन और बुद्धि को जिसने जीत लिया है; इच्छा, भय और क्रोध से रहित, मननशीलता की

चरम सीमा पर पहुँचा हुआ मोक्षपरायण मुनि सदा `मुक्त' ही है। मुक्त होकर वह कहाँ जाता है? क्या पाता है? इस पर कहते हैं-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

वह मुक्त पुरुष मुझे यज्ञ और तपों को भोगनेवाला सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का भी ईश्वर, सम्पूर्ण प्राणियों का स्वार्थरहित हितैषी - ऐसा साक्षात् जानकर शान्ति को प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि उस पुरुष के श्वास-प्रश्वास के यज्ञ और तप का भोक्ता मैं हूँ। यज्ञ और तप अन्त में जिसमें विलय होते हैं, वह मैं हूँ। वह मुझे प्राप्त होता है। यज्ञ के अन्त में जिसका नाम शान्ति है, वह मेरा ही स्वरूप है। वह मुक्त पुरुष मुझे जानता है और जानते ही मुझे प्राप्त हो जाता है। इसी का नाम शान्ति है। जैसे मैं ईश्वरों का भी ईश्वर हूँ, वैसे ही वह भी है।

निष्कर्ष :

इस अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने प्रश्न किया था कि, कभी तो आप निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं और कभी आप संन्यासमार्ग से कर्म करने की प्रशंसा करते हैं अतः दोनों में एक को, जो आपका सुनिश्चित किया हो, परम कल्याणकारी हो, उसे कहिए। श्रीकृष्ण ने बताया - अर्जुन! परमकल्याण तो दोनों में है। दोनों में वही निर्धारित यज्ञ की क्रिया ही की जाती है; फिर भी निष्काम कर्मयोग विशेष है। बिना इसे किये संन्यास (शुभाशुभ कर्मों का अन्त) नहीं होता। संन्यास मार्ग नहीं, मंजिल का नाम है। योगयुक्त ही संन्यासी है। योगयुक्त के लक्षण बताये कि वही प्रभु है। वह न करता है, न कुछ कराता है; बल्कि स्वभाव में प्रकृति के दबाव के अनुरूप लोग व्यस्त हैं। जो साक्षात् मुझे जान लेता है वही ज्ञाता है, वही पण्डित है। यज्ञ के परिणाम में लोग मुझे जानते हैं। श्वास-प्रश्वास का जप और यज्ञ-तप जिसमें विलय होते हैं, मैं ही हूँ। यज्ञ के परिणामस्वरूप मेरे को जानकर वे जिस शान्ति को प्राप्त होते हैं, वह भी मैं ही हूँ अर्थात् श्रीकृष्ण-जैसा, महापुरुष-जैसा स्वरूप उस प्राप्तिवाले को भी मिलता है। वह भी ईश्वरों का ईश्वर, आत्मा का भी आत्मस्वरूपमय हो जाता है, उस

परमात्मा के साथ एकीभाव पा लेता है (एक होनें में जन्म चाहे जितने लगें।) इस अध्याय में स्पष्ट किया कि यज्ञ-तपों का भोक्ता, महापुरुषों के भी अन्दर रहनेवाली शक्ति महेश्वर है, अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे `यज्ञभोक्ता महापुरुषस्थ महेश्वरः' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में "यज्ञभोक्ता महापुरुषस्थ महेश्वरः" नामक पाँचवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः `यथार्थ गीता' भाष्ये `यज्ञभोक्ता महापुरुषस्थ महेश्वरः' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।५।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

संसार में धर्म के नाम पर रीति-रिवाज, पूजा-पद्धतियाँ, सम्प्रदायों का बाहुल्य होने पर कुरीतियों का शमन करके एक ईश्वर की स्थापना एवं उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया को प्रशस्त करने के लिए किसी महापुरुष का आविर्भाव होता है। क्रियाओं को छोड़कर बैठ जाने और ज्ञानी कहलाने की रूढ़ि कृष्णकाल में अत्यन्त व्यापक थी। इसलिए इस अध्याय के प्रारम्भ में ही योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न को चौथी बार स्वयं उठाया कि ज्ञानयोग तथा निष्काम कर्मयोग दोनों के अनुसार कर्म करना ही होगा।

अध्याय दो में उन्होंने कहा था - अर्जुन! क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़कर कल्याणकारी कोई रास्ता नहीं है। इस युद्ध में हारोगे तो भी देवत्व है और जीतने पर महामहिम स्थिति ही है - ऐसा समझकर युद्ध कर। अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी। कौन-सी बुद्धि? यही कि युद्ध कर। ज्ञानयोग ऐसा नहीं है कि हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहें। ज्ञानयोग में केवल अपने हानि-लाभ का स्वयं निश्चय करके, अपनी शक्ति समझकर कर्म में प्रवृत्त होना है, जबकि प्रेरक महापुरुष ही है। ज्ञानयोग में युद्ध करना अनिवार्य है।

अध्याय तीन में अर्जुन ने प्रश्न किया कि - भगवन्! निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है, तो मुझे घोर कर्मों में क्यों लगाते हैं? अर्जुन को निष्काम कर्मयोग कठिन प्रतीत हुआ। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि दोनों निष्ठाएँ मेरे द्वारा कही गयी हैं; किन्तु किसी भी पथ के अनुसार कर्म को त्यागकर चलने का विधान नहीं है। न तो ऐसा ही है कि कर्म को न आरम्भ करने से कोई परम नैष्कर्म्य की सिद्धि पा ले और न आरम्भ की हुई क्रिया को त्याग देने से कोई उस परमसिद्धि को पाता है। दोनों मार्गों में नियत कर्म - यज्ञ की प्रक्रिया को करना ही होगा।

अब अर्जुन ने भली प्रकार समझ लिया कि ज्ञानमार्ग अच्छा लगे अथवा निष्काम कर्मयोग, दोनों दृष्टियों में कर्म करना ही है; फिर भी पाँचवें अध्याय में उसने प्रश्न किया कि - फल की दृष्टि से कौन श्रेष्ठ है? कौन सुविधाजनक है? श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! दोनों ही परमश्रेय को देनेवाले हैं। एक ही स्थान पर दोनों पहुँचाते हैं फिर भी सांख्य की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है; क्योंकि निष्काम कर्म का आचरण किये बिना कोई संन्यासी नहीं हो सकता। दोनों में कर्म एक ही है। अतः स्पष्ट है कि वह निर्धारित कर्म किये बिना कोई संन्यासी नहीं हो सकता और न कोई योगी ही हो सकता है। केवल इस पर चलनेवाले पथिकों की दो दृष्टियाँ हैं, जो पीछे बतायी गयी हैं।

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।१।।

श्रीकृष्ण महाराज बोले - अर्जुन! कर्म-फल के आश्रय से रहित होकर अर्थात् कर्म करते समय किसी प्रकार की कामना न रखते हुए जो 'कार्यम् कर्म' - करने योग्य प्रक्रिया विशेष को करता है वही संन्यासी है, वही योगी है। केवल अग्नि को त्यागनेवाला तथा केवल क्रिया को त्यागनेवाला न संन्यासी है, न योगी। क्रियाएँ बहुत सी हैं। उनमें से 'कार्यम् कर्म' करने योग्य क्रिया, 'नियत कर्म' - निर्धारित की हुई कोई क्रिया-विशेष है। वह है यज्ञ की प्रक्रिया - जिसका शुद्ध अर्थ है आराधना, जो आराध्य देव में प्रवेश दिला देनेवाली विधि-विशेष है। उसको कार्यरूप देना कर्म है। जो उसे करता है वही संन्यासी है, वही योगी होता है। केवल अग्नि को त्यागनेवाला कि 'हम अग्नि नहीं छूते' या कर्म त्यागनेवाला कि 'मेरे लिए कर्म हैं ही नहीं, मैं तो आत्मज्ञानी हूँ।' - केवल ऐसा कहे और कर्म आरम्भ ही न करे, करने योग्य क्रिया-विशेष न करे तो वह न संन्यासी है, न योगी। इस पर और देखें-

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

अर्जुन! जिसे 'संन्यास' ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग जान, क्योंकि

संकल्पों का त्याग किये बिना कोई भी पुरुष योगी नहीं होता अर्थात् कामनाओं का त्याग दोनों ही मार्गियों के लिए आवश्यक है। तब तो सरल है कि कह दें कि हम संकल्प नहीं करते और हो गये योगी-संन्यासी। श्रीकृष्ण कहते हैं, ऐसा कदापि नहीं है-

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

योग पर आरूढ़ होने की इच्छावाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में कर्म करना ही कारण है और योग का अनुष्ठान करते-करते जब वह परिणाम देने की अवस्था में आ जाय, उस योगारूढ़ता में 'शमः कारणम् उच्यते' - सम्पूर्ण संकल्पों का अभाव कारण है। इससे पहले संकल्प पिण्ड नहीं छोड़ते और-

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

जिस काल में पुरुष न तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है और न कर्मों में ही आसक्त है (योग की परिपक्वावस्था में पहुँच जाने पर आगे कर्म करके ढूँढ़े किसे? अतः नियत कर्म आराधना की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसीलिए वह कर्मों में भी आसक्त नहीं है), उस काल में 'सर्व संकल्प संन्यासी' - सर्व संकल्पों का अभाव है। वही संन्यास है, वही योगारूढ़ता है। रास्ते में संन्यास नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस योगारूढ़ता से लाभ क्या है?

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

अर्जुन! मनुष्य को चाहिए कि अपने द्वारा अपना उद्धार करे। अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि यह जीवात्मा स्वयं ही अपना मित्र है और यही अपना शत्रु भी है। कब यह शत्रु होता है और कब मित्र? इस पर कहते हैं-

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उसके लिए उसी का जीवात्मा मित्र है और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिए वह स्वयं शत्रुता में बरतता है।

इन दो श्लोकों में श्रीकृष्ण एक ही बात कहते हैं कि अपने द्वारा अपने आत्मा का उद्धार करें, उसे अधोगति में न पहुँचावें; क्योंकि आत्मा ही मित्र है। सृष्टि में न दूसरा कोई शत्रु है, न मित्र। किस प्रकार? जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती हुई हैं, उसके लिये उसी का आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतता है, परमकल्याण करनेवाला होता है और जिसके द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गई हैं, उसके लिये उसी का आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतता है, अनन्त योनियों और यातनाओं की ओर ले जाता है। प्रायः लोग कहते हैं - `मैं तो आत्मा हूँ'। गीता में लिखा है, "न इसे शस्त्र काट सकता है, न अग्नि जला सकती है, न वायु सुखा सकता है। यह नित्य है, अमृत-स्वरूप है, न बदलनेवाला है, शाश्वत है और वह आत्मा मुझमें है ही।" वे गीता की इन पंक्तियों पर ध्यान नहीं देते कि आत्मा अधोगति में भी जाता है। आत्मा का उद्धार भी होता है, जिसके लिये `कार्यम् कर्म' - करने योग्य प्रक्रिया विशेष करके ही उपलब्धी बतायी गई है। अब अनुकूल आत्मा के लक्षण देखें-

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख और मान-अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भली प्रकार शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुष में परमात्मा सदैव स्थित है, कभी विलग नहीं होता। `जितात्मा' अर्थात् जिसने मनसहित इन्द्रियों को जीत लिया है, वृत्ति परमशान्ति में प्रवाहित हो गई है। [यही आत्मा के उद्धार की अवस्था है] आगे कहते हैं-

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसकी स्थिति अचल, स्थिर और विकाररहित है, जिसने इन्द्रियों को विशेष रूप से जीत लिया है, जिसकी

दृष्टि में मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण एक समान है - ऐसा योगी 'युक्त' कहा जाता है। 'युक्त' का अर्थ है - योग से संयुक्त। यह योग की पराकाष्ठा है, जिसे योगेश्वर पाँचवें अध्याय में श्लोक सात से बारह तक चित्रित कर आये हैं। परमतत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार और उसके साथ होनेवाली जानकारी ज्ञान है। एक इञ्च भी इष्ट से दूरी है, जानने की इच्छा बनी है, तब तक वह अज्ञानी है। वह प्रेरक कैसे सर्वव्याप्त है? कैसे प्रेरणा देता है? कैसे अनेक आत्माओं का एक साथ पथ-प्रदर्शन करता है? कैसे वह भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञाता है? उस प्रेरक इष्ट की कार्य-प्रणाली का ज्ञान ही 'विज्ञान' है। जिस दिन से हृदय में इष्ट का आविर्भाव होता है, उसी दिन से वह निर्देश देने लगता है; किन्तु प्रारम्भ में साधक समझ नहीं पाता। पराकाष्ठाकाल में ही योगी उनकी आन्तरिक कार्य-प्रणाली को पूर्णतः समझ पाता है। यही समझ विज्ञान है। योगारूढ़ अथवा युक्तपुरुष का अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञान से तृप्त रहता है। इसी प्रकार योगयुक्त पुरुष की स्थिति का निरूपण करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं-

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष समदर्शी और समवर्ती होता है। जैसे पिछले श्लोक में उन्होंने बताया कि जो पूर्ण ज्ञाता या पण्डित है, वह विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण में, चाण्डाल में, गाय-कुत्ता-हाथी में समान दृष्टिवाला होता है - उसी का पूरक यह श्लोक है। वह हृदय से सहायता करनेवाले सहृदय, मित्र, बैरी, उदासीन, द्वेषी, बन्धुगणों, धर्मात्मा तथा पापियों में भी समान दृष्टिवाला योगयुक्त पुरुष अति श्रेष्ठ है। वह उनके कार्यों पर दृष्टि नहीं डालता बल्कि उनके भीतर आत्मा के संचार पर ही उसकी दृष्टि पड़ती है। इन सबमें वह केवल इतना अन्तर देखता है कि कोई कुछ नीचे की सीढ़ी पर खड़ा है, तो कोई निर्मलता के समीप; किन्तु वह क्षमता सबमें है। यहाँ योगयुक्त के लक्षण पुनः दुहराये गये।

कोई योगयुक्त कैसे बनता है? वह कैसे यज्ञ करता है? यज्ञस्थली कैसी हो? आसन कैसा हो? उस समय कैसे बैठा जाय? कर्त्ता के द्वारा पालन किये जानेवाले नियम, आहार-विहार, सोने-जागने का संयम तथा कर्म पर कैसी चेष्टा

हो? - इत्यादि बिन्दुओं पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अगले पाँच श्लोकों में प्रकाश डाला है, जिससे आप भी उस यज्ञ को सम्पन्न कर सकें।

अध्याय तीन में उन्होंने यज्ञ का नाम लिया और बताया कि यज्ञ की प्रक्रिया ही वह नियत कर्म है। अध्याय चार में उन्होंने यज्ञ का स्वरूप विस्तार से बताया, जिसमें प्राण को अपान में हवन, अपान को प्राण में हवन, प्राण-अपान की गति रोककर मन का निरोध इत्यादि किया जाता है। सब मिलाकर यज्ञ का शुद्ध अर्थ है आराधना तथा उस आराध्य देव तक की दूरी तय करानेवाली प्रक्रिया, जिस पर पाँचवें अध्याय में भी कहा। किन्तु उसके लिए आसन, भूमि, करने की विधि इत्यादि का चित्रण शेष था, उसी पर योगेश्वर श्रीकृष्ण यहाँ प्रकाश डालते हैं।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

चित्त को जीतने में लगा हुआ योगी मन, इन्द्रियों और शरीर को वश में रखकर, वासना और संग्रहरहित होकर, एकान्त स्थान में अकेले ही चित्त को (आत्मोपलब्धि करानेवाली) योग-क्रिया में लगावे। उसके लिए स्थान कैसा हो? आसन कैसा रहे?

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।

शुद्ध भूमि में कुश, मृगछाल, वस्त्र अथवा इससे उत्तरोत्तर (रेशमी, ऊनी, तख्त कुछ भी) बिछाकर अपने आसन को न अति ऊँचा, न नीचा, स्थिर स्थापित करें। शुद्ध भूमि का तात्पर्य उसे झाड़ने-बुहारने, सफाई करने से है। जमीन पर कुछ बिछा लेना चाहिए - चाहे मृगछाल हो या चटाई अथवा कोई भी वस्त्र, तख्त जो भी उपलब्ध हो, कोई एक वस्तु बिछा लेना चाहिए। आसन हिलने-डुलनेवाला न हो। न जमीन से बहुत ऊँचा हो और न एकदम नीचा। 'पूज्य महाराज जी' लगभग पाँच इंच ऊँचे आसन पर बैठते थे। एक बार भाविकों ने लगभग एक फीट ऊँचा संगमरमर का एक तख्त मँगा दिया। महाराज जी एक दिन तो बैठे फिर बोले - "नहीं हो। बहुत ऊँचा हो गया। ऊँचे नहीं बैठे के चाही, साधू को अभिमान होइ जावा करत है। नीचेहू न बैठे के चाही, हीनता आवत है; अपने से घृणा आवत है।" बस, उसको उठवाया और जंगल में एक

बगीचा था, वहाँ रखवा दिया। वहाँ न कभी महाराज जाते थे और न अव ही कोई जाता है। यह था उन महापुरुष का क्रियात्मक शिक्षण। इसी प्रकार साधक के लिए भी वहुत ऊँचा आसन नहीं होना चाहिए, नहीं तो भजनपूर्ति वाद में होगी, अहंकार पहले चढ़ वैठेगा। इसके पश्चात्-

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

उस आसन पर बैठकर (बैठकर ही ध्यान करने का विधान है), मन को एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करें। अव बैठने का तरीका बताते हैं-

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।

शरीर, गर्दन और सिर को सीधा, अचल, स्थिर करके (जैसे कोई पटरी खड़ी कर दी गई हो) इस प्रकार सीधा, दृढ़ होकर बैठ जाय और अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर (नासिका की नोंक देखते रहने का निर्देश नहीं है बल्कि सीधे बैठने पर नाक के सामने जहाँ दृष्टि पड़ती है, वहाँ दृष्टि रहे। दाहिने-बायें देखते रहने की चंचलता न रहे) अन्य दिशाओं को न देखता हुआ स्थिर होकर बैठे और-

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।१४।।

ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर (प्रायः लोग कहते हैं कि जननेन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है; किन्तु महापुरुषों की अनुभूति है कि मन से विषयों का स्मरण करके, आँखों से वैसे दृश्य देखकर, त्वचा से स्पर्श कर, कानों से विषयोत्तेजक शब्द सुनकर जननेन्द्रिय संयम सम्भव नहीं है। ब्रह्मचारी का वास्तविक अर्थ है, 'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी' - ब्रह्म का आचरण है नियत कर्म, यज्ञ की प्रक्रिया, जिसे करनेवाले 'यान्ति ब्रह्म सनातनम्' - सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाते हैं। इसे करते समय 'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्'- बाहर के स्पर्श, मन और सभी

इन्द्रियों के स्पर्श बाहर ही त्यागकर चित्त को ब्रह्म-चिन्तन में, श्वास-प्रश्वास में, ध्यान में लगाना है। मन ब्रह्म में लगा है, तो बाह्य-स्मरण कौन करे। यदि बाह्य-स्मरण होता है, तो अभी मन लगा कहाँ? विकार शरीर में नहीं, मन की तरंगों में रहते हैं। मन ब्रह्माचरण में लगा है, तो जननेन्द्रिय संयम ही नहीं, सकलेन्द्रिय संयम तक स्वाभाविक हो जाता है। अतः ब्रह्म के आचरण में स्थित रहकर) भयरहित और अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरणवाला, मन को संयत रखते हुए, मुझमें लगे हुए चित्त से युक्त मेरे परायण होकर स्थित हो। ऐसा करने का परिणाम क्या होगा?

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

इस प्रकार अपने आपको निरन्तर उसी चिन्तन में लगाता हुआ, संयत मनवाला योगी मेरे में स्थितिरूपी पराकाष्ठावाली शान्ति को प्राप्त होता है। इसलिए अपने को निरन्तर कर्म में लगाएँ। यहाँ यह प्रश्न पूर्णप्राय है। अगले दो श्लोकों में वे बताते हैं कि परमानन्द वाली शान्ति के लिए शारीरिक संयम, युक्ताहार, विहार भी आवश्यक हैं-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवाले का सिद्ध होता है, न अत्यन्त सोनेवाले का और न अत्यन्त जागनेवाले का ही सिद्ध होता है।तब किसका सिद्ध होता है?

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

दुःखों का नाश करनेवाला यह योग उचित आहार-विहार, कर्मों में उपयुक्त चेष्टा और संतुलित शयन-जागरण करनेवाले का ही पूर्ण होता है। अधिक भोजन करने से आलस्य, निद्रा और प्रमाद घेरेंगे- तब साधना नहीं होगी। भोजन छोड़ देने से इन्द्रियाँ क्षीण हो जायेंगी, अचल स्थिर बैठने की क्षमता नहीं रहेगी। 'पूज्य

महाराज जी' कहते थे कि खुराक से डेढ़-दो रोटी कम खाना चाहिए। विहार अर्थात् साधन के अनुकूल विचरण, कुछ परिश्रम भी करते रहना चाहिए, कोई कार्य ढूँढ़ लेना चाहिए अन्यथा रक्त-संचार शिथिल पड़ जाएगा, रोग घेर लेंगे। आयु सोना और जागना, आहार और अभ्यास से घटता-बढ़ता है। 'महाराज जी' कहा करते थे - "योगी को चार घण्टे सोना चाहिए और अनवरत चिन्तन में लगे रहना चाहिए। हठ करके न सोनेवाले शीघ्र पागल हो जाते हैं।" कर्मों में उपयुक्त चेष्टा भी हो अर्थात् नियत कर्म आराधना के अनुरूप निरन्तर प्रयत्नशील हो। बाह्य विषयों का स्मरण न कर सदैव उसी में लगे रहनेवाले का ही योग सिद्ध होता है; साथ ही-

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

इस प्रकार योग के अभ्यास से विशेषरूप से वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में भली प्रकार स्थित हो जाता है, विलीन-सा हो जाता है; उस काल में सम्पूर्ण कामनाओं से रहित हुआ पुरुष योगयुक्त कहा जाता है। अब विशेष जीते हुए चित्त के लक्षण क्या हैं?

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखा गया दीपक चलायमान नहीं होता, लौ सीधे ऊपर जाती है, उसमें कम्पन नहीं होता, यही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की दी गई है। दीपक तो उदाहरण मात्र है। आजकल दीपक का प्रचलन शिथिल पड़ रहा है। अगरबत्ती ही जलाने पर धुआँ सीधे ऊपर जाता है, यदि वायु में वेग न हो। यह योगी के जीते हुए चित्त का एक उदाहरण मात्र है। अभी चित्त भले ही जीता गया है, निरोध हो गया है; किन्तु अभी चित्त है। जब निरुद्ध चित्त का भी विलय हो जाता है, तब कौन-सी विभूति मिलती है? देखें-

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।

जिस अवस्था में योग के अभ्यास से (बिना अभ्यास के कभी निरोध नहीं होगा, अतः योग-अभ्यास से) निरुद्ध हुआ चित्त भी उपराम हो जाता है, विलय हो जाता है, मिट जाता है, उस अवस्था में `आत्मना' - अपने आत्मा के द्वारा `आत्मानम्' - परमात्मा को देखता हुआ `आत्मनि एव' - अपने आत्मा में ही संतुष्ट होता है। देखता तो परमात्मा को है लेकिन संतुष्ट अपने ही आत्मा से होता है; क्योंकि प्राप्तिकाल में तो परमात्मा का साक्षात्कार होता है किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपने ही आत्मा को उन शाश्वत ईश्वरीय विभूतियों से ओत-प्रोत पाता है। ब्रह्म अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और अमृतस्वरूप है तो इधर आत्मा भी अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और अमृतस्वरूप है। है तो किन्तु अचिन्त्य भी है; जब तक चित्त और चित्त की लहर है, तब तक वह आपके उपभोग के लिए नहीं है। चित्त का निरोध और निरुद्ध चित्त के विलयकाल में परमात्मा का साक्षात्कार होता है और दर्शन के ठीक दूसरे क्षण उन्हीं ईश्वरीय गुणधर्मों से युक्त अपने ही आत्मा को पाता है. इसलिए वह अपने ही आत्मा में सन्तुष्ट होता है। यही उसका स्वरूप है। यही पराकाष्ठा है। इसी का पूरक अगला श्लोक देखें-

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।

तथा इन्द्रियों से अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्था में अनुभव करता है और जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी भगवत्स्वरूप को तत्त्व से जानकर चलायमान नहीं होता, सदैव उसी में प्रतिष्ठित रहता है तथा-

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।

परमेश्वर की प्राप्तिरूपी जिस लाभ को, पराकाष्ठा की शान्ति को प्राप्त कर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और भगवत्प्राप्ति रूपी जिस अवस्था में स्थित हुआ योगी भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता, दुःख का उसे भान भी नहीं होता; क्योंकि भान करनेवाला चित्त तो मिट गया, इस प्रकार-

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

जो संसार के संयोग और वियोग से रहित है, उसी का नाम योग है। जो आत्यन्तिक सुख है, उसके मिलन का नाम योग है। जिसे परमतत्त्व परमात्मा कहते हैं, उसके मिलन का नाम योग है। वह योग न उकताये हुए चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्त्तव्य है। धैर्यपूर्वक लगा रहनेवाला ही योग में सफल होता है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।

इसलिये मनुष्य को चाहिए कि संकल्प से उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओं को वासना और आसक्ति सहित सर्वथा त्यागकर, मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सब ओर से अच्छी प्रकार वश में करके-

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त हो जाय। चित्त का निरोध और क्रमशः विलय हो जाय। तदनन्तर वह धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके अन्य कुछ भी चिन्तन न करे। निरन्तर लगकर पाने का विधान है। किन्तु आरम्भ में मन लगता नहीं, इसी पर योगेश्वर कहते हैं-

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

यह स्थिर न रहनेवाला चंचल मन जिस-जिस कारण से सांसारिक पदार्थों में विचरता है, उस-उस से रोककर वारम्वार अन्तरात्मा में ही निरोध करे। प्रायः लोग कहते हैं कि मन जहाँ भी जाता है जाने दो, प्रकृति में ही तो जायेगा और प्रकृति भी उस ब्रह्म के ही अन्तर्गत है, प्रकृति में विचरण करना ब्रह्म के बाहर नहीं है; किन्तु श्रीकृष्ण के अनुसार यह गलत है। गीता में इन मान्यताओं का

किंचित् भी स्थान नहीं है। श्रीकृष्ण का कथन है कि मन जहाँ-जहाँ जाय, जिन माध्यमों से जाय, उन्हीं माध्यमों से रोककर परमात्मा में ही लगावे। मन का निरोध सम्भव है। इस निरोध का परिणाम क्या होगा?

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

जिसका मन पूर्णरूपेण शान्त है, जो पाप से रहित है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे ब्रह्म से एकीभूत योगी को सर्वोत्तम आनन्द प्राप्त होता है, जिससे उत्तम कुछ भी नहीं है। इसी पर पुनः बल देते हैं-

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

पापरहित योगी इस प्रकार आत्मा को निरन्तर उस परमात्मा में लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के अनन्त आनन्द की अनुभूति करता है। वह 'ब्रह्म संस्पर्श' अर्थात् ब्रह्म के स्पर्श और प्रवेश के साथ अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। अतः भजन अनिवार्य है। इसी पर आगे कहते हैं-

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

योग के परिणाम से युक्त आत्मावाला, सबमें समभाव से देखनेवाला योगी, आत्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में व्याप्त देखता है और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही प्रवाहित देखता है। इस प्रकार देखने से लाभ क्या है?

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में मुझ परमात्मा को देखता है, व्याप्त देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ परमात्मा के ही अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। यह प्रेरक का आमने-सामने मिलन है, सख्य भाव है, सामीप्य मुक्ति है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

जो पुरुष अनेकता से परे उपर्युक्त एकत्व भाव से मुझ परमात्मा को भजता है, वह योगी सब प्रकार के कार्यों में बरतता हुआ मेरे में ही बरतता है; क्योंकि मुझे छोड़कर उसके लिये कोई बचा भी तो नहीं। उसका तो सब मिट गया, इसलिये वह अब उठता-बैठता, जो कुछ भी करता है, मेरे संकल्प से करता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

हे अर्जुन! जो योगी अपने ही समान सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है, अपने-जैसा देखता है, सुख और दुःख भी सबमें समान देखता है, वह योगी (जिसका भेद-भाव समाप्त हो गया है) परमश्रेष्ठ माना गया है। प्रश्न पूरा हुआ, इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

हे मधुसूदन! यह योग जो आप पहले बता आये हैं, जिससे समत्वभाव दृष्टि मिलती है; मन के चञ्चल होने से बहुत समय तक इसमें ठहरनेवाली स्थिति में मैं अपने को नहीं देखता।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

हे कृष्ण! यह मन बड़ा चंचल है, प्रमथन स्वभाववाला है, (प्रमथन अर्थात् दूसरे को मथ डालनेवाला) हठी तथा बलवान है; इसलिये इसे वश में करना मैं वायु की भाँति अति दुष्कर मानता हूँ। तूफानी हवा और इसको रोकना बराबर है। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

महान कार्य करने के लिये प्रयत्नशील अर्थात् महाबाहु अर्जुन! निःसन्देह मन चंचल है, बड़ी कठिनाई से वश में होनेवाला है; परन्तु कौन्तेय! यह अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वश में होता है। जहाँ चित्त को लगाना है, वहाँ स्थिर करने के लिये बार-बार प्रयत्न का नाम अभ्यास है तथा देखी-सुनी विषय-वस्तुओं में (संसार या स्वर्गादि भोगों में) राग अर्थात् लगाव का त्याग वैराग्य है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मन वश में करना कठिन है; किन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा यह वश में हो जाता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

अर्जुन! मन को वश में न करनेवाले पुरुष के लिये योग प्राप्त होना कठिन है; किन्तु स्ववश मनवाले प्रयत्नशील पुरुष के लिए योग सहज है - ऐसा मेरा अपना मत है। जितना कठिन तू मान बैठा है, उतना कठिन नहीं है। अतः इसे कठिन मानकर छोड़ मत दो, प्रयत्नपूर्वक लगकर योग को प्राप्त कर; क्योंकि मन वश में करने पर ही योग सम्भव है। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

योग करते-करते यदि किसी का मन चलायमान हो जाय, यद्यपि अभी योग में उसको श्रद्धा है ही, तो ऐसा पुरुष भगवत्सिद्धि को प्राप्त न होकर किस गति को पाता है?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

महाबाहु श्रीकृष्ण! भगवत्प्राप्ति के मार्ग से विचलित हुआ वह मोहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भाँति दोनों ओर से नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं होता? छोटी-सी बदली आकाश में छाये, तो वह न बरस पाती है न लौटकर मेघों से ही मिल पाती है बल्कि हवा के झोकों से देखते-देखते नष्टप्राय हो जाती है। उसी प्रकार शिथिल प्रयत्नवाला, कुछ काल तक साधन करके स्थगित करनेवाला नष्ट तो नहीं हो जाता? वह न आपमें प्रवेश कर सका और न भोग ही भोग पाया। उसकी कौन सी गति होती है?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

हे श्रीकृष्ण! मेरे इस संशय को सम्पूर्णता से मिटाने के लिए आप ही सक्षम हैं। आपके अतिरिक्त दूसरा कोई इस संशय को मिटानेवाला मिलना सम्भव नहीं है। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा-

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

पार्थिव शरीर को ही रथ बनाकर लक्ष्य की ओर अग्रसर अर्जुन! उस पुरुष का न तो इस लोक में और न परलोक में ही नाश होता है; क्योंकि हे तात! उस परमकल्याणकारी नियतकर्म को करनेवाला दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। उसका होता क्या है?

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

मन चलायमान होने से योगभ्रष्ट हुआ वह पुरुष पुण्यवानों के लोकों में वासनाओं को भोगकर (जिन वासनाओं को लेकर वह योगभ्रष्ट हुआ था, भगवान उसे थोड़े में सब दिखा-सुना देते हैं, उन्हें भोगकर) वह 'शुचीनां श्रीमतां' - शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है। (जो शुद्ध आचरणवाले हैं, वही श्रीमान् हैं।)

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अथवा वहाँ जन्म न मिलने पर भी स्थिरबुद्धि योगियों के कुल में वह प्रवेश पा जाता है। श्रीमानों के घर में पवित्र संस्कार बचपन से ही मिलने लगते हैं; किन्तु वहाँ जन्म न हो पाने पर वह योगियों के कुल में (घर में नहीं) शिष्य-परम्परा में प्रवेश पा जाता है। कबीर, तुलसी, रैदास, बाल्मीकि इत्यादि को शुद्ध आचरण और श्रीमानों का घर नहीं, योगियों के कुल में प्रवेश मिला। सद्‌गुरु के कुल में संस्कारों का परिवर्तन भी एक जन्म है और ऐसा जन्म संसार में निःसन्देह अतिदुर्लभ है। योगियों के यहाँ जन्म का अर्थ उनके शरीर से पुत्ररूप में उत्पन्न होना नहीं है। गृहत्याग से पूर्व पैदा होनेवाले लड़के मोहवश महापुरुष को भी भले ही पिता मानते रहे किन्तु महापुरुष के लिए घर वालों के नाम पर कोई नहीं होता। जो शिष्य उनकी मर्यादाओं का अनुष्ठान करते हैं, उनका महत्त्व लड़कों से कई गुना अधिक मानते हैं। वही उनके सच्चे पुत्र हैं।

जो योग के संस्कारों से युक्त नहीं हैं, उन्हें महापुरुष नहीं अपनाते। 'पूज्य महाराज जी' यदि साधु बनाते, तो हजारों विरक्त उनके शिष्य होते! किन्तु उन्होंने किसी को किराया-भाड़ा देकर, किसी के घर सूचना भेजकर, पत्र भेजकर, समझा-बुझाकर सबको उनके घर लौटा दिया। बहुत लोग हठ करने लगे, तो उन्हें अपशकुन हो। भीतर से मना हो कि इसमें साधु बनने के एक भी लक्षण नहीं है। इसे रखने में भलाई नहीं है, यह पार नहीं होगा। निराश होकर दो-एक ने पहाड़ से गिरकर अपनी जान भी दे दी; किन्तु महाराज जी ने उन्हें अपने यहाँ नहीं रखा। बाद में पता चलने पर बोले- **"जानत रहेउँ कि बड़ा विकल है लेकिन ई सोचतै कि सचहूँ के मरि जाई तो रखी लेते। एक ठो पतितै रहत, अउर का होत।"** ममत्व उनमें भी विकट था, फिर भी नहीं रखा। छः-सात को जिनके लिये आदेश हुआ था कि - **"आज एक योगभ्रष्ट आ रहा है, जन्म-जन्म से भटका हुआ चला आ रहा है, इस नाम और इस रूप का कोई आनेवाला है, उसे रखो, ब्रह्मविद्या का उपदेश करो, उसे आगे बढ़ाओ।"** केवल उन्हीं को रखा। आज भी उनमें से एक महापुरुष धारकुण्डी में

बैठे हैं, एक अनुसुइया में हैं, दो-तीन अन्यत्र भी हैं। उन्हें सद्गुरु के कुल में प्रवेश मिला। ऐसे महापुरुषों को पा जाना अति दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

वहाँ वह पुरुष पहले शरीर में साधन किये हुए बुद्धि के संयोग को अर्थात् पूर्वजन्म के साधन संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभाव से वह फिर 'संसिद्धौ' - भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धि के निमित्त प्रयत्न करने लगता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।४४।।

श्रीमानों के घर विषयों के वश में रहने पर भी वह पूर्वजन्म के अभ्यास से भगवत्पथ की ओर आकर्षित हो जाता है और योग में शिथिल प्रयत्नवाला वह जिज्ञासु भी वाणी के विषय को पार करके निर्वाण पद को पा जाता है। उसकी प्राप्ति का यही तरीका है। कोई एक जन्म में पाता भी नहीं।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

अनेक जन्मों से प्रयत्न करनेवाला योगी परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी सभी पापों से अच्छी प्रकार शुद्ध होकर परमगति को प्राप्त हो जाता है। प्राप्ति का यही क्रम है। पहले शिथिल प्रयत्न से वह योग आरम्भ करता है, मन चलायमान होने पर जन्म लेता है, सद्गुरु के कुल में प्रवेश पाता है और प्रत्येक जन्म में अभ्यास करते हुए वहीं पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति परमधाम है। श्रीकृष्ण ने कहा था कि इस योग में बीज का नाश नहीं होता। आप दो कदम चल भर दें, उस साधन का कभी नाश नहीं होता। हर परिस्थिति में रहते हुए पुरुष ऐसा कर सकता है। कारण कि थोड़ा साधन तो परिस्थितियों से घिरनेवाला व्यक्ति ही कर पाता है; क्योंकि उसके पास समय नहीं है। आप काले हों, गोरे हों अथवा कहीं के हों, गीता सबके लिए है।

आपके लिए भी है, बशर्ते आप मनुष्य हों। उत्कट प्रयत्नवाला चाहे जो हो; किन्तु शिथिल प्रयत्नवाला गृहस्थ ही होता है। गीता गृहस्थ-विरक्त, शिक्षित-अशिक्षित, सर्व साधारण मनुष्य मात्र के लिए है। किसी `साधु' नामक विचित्र प्राणी के लिए ही नहीं। अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं-

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

तपस्वियों से योगी श्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है। कर्मियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिए अर्जुन! तू योगी बन।

तपस्वी-

तपस्वी मनसहित इन्द्रियों को उस योग में ढालने के लिए तपाता है, अभी योग उसमें ढला नहीं।

कर्मी-

कर्मी इस नियत कर्म को जानकर उसमें प्रवृत्त होता है। न तो वह अपनी शक्ति समझकर ही प्रवृत्त है और न वह समर्पण करके ही प्रवृत्त है। करता भर है।

ज्ञानी-

ज्ञानमार्गी उसी नियत कर्म यज्ञ की प्रक्रिया विशेष को भली प्रकार समझते हुए अपनी शक्ति को सामने रखकर उसमें प्रवृत्त होता है। उसकी लाभ-हानि की जिम्मेदारी उसी की है। उस पर दृष्टि रखकर चलता है।

योगी-

निष्काम कर्मयोगी इष्ट पर निर्भर होकर पूरे समर्पण के साथ उसी नियत कर्म `योग साधना' में प्रवृत्त होता है, जिसके योगक्षेम की जिम्मेदारी भगवान तथा योगेश्वर वहन करते हैं। पतन की परिस्थितियाँ होते हुए भी उसके लिए पतन का भय नहीं है; क्योंकि जिस परमतत्त्व को चाहता है, वही उसे सँभालने की जिम्मेदारी भी ले लेता है।

तपस्वी अभी योग को ढालने में प्रयत्नशील है। कर्मी केवल कर्म जानकर करता भर है। ये गिर भी सकते हैं; क्योंकि न इन दोनों में समर्पण है और न अपनी हानि-लाभ देखने की क्षमता; किन्तु ज्ञानी योग की परिस्थितियों को जानता है, अपनी शक्ति समझता है, उसकी जिम्मेदारी उसी पर है और निष्काम कर्मयोगी तो इष्ट के ऊपर अपने को फेंक चुका है, वह इष्ट सँभालेगा। परमकल्याण के पथ पर ये दोनों ठीक चलते हैं; किन्तु जिसका भार वह इष्ट सँभालता है, वह इन सबमें श्रेष्ठ है; क्योंकि प्रभु ने उसे ग्रहण कर लिया है। उसका हानि-लाभ वह प्रभु देखता है। इसलिए योगी श्रेष्ठ है। इसलिए अर्जुन! तू योगी बन। समर्पण के साथ योग का आचरण कर!

योगी श्रेष्ठ है; किन्तु उनसे भी वह योगी सर्वश्रेष्ठ है, जो अन्तरात्मा से लगता है, इसी पर कहते हैं-

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।४७।।

सम्पूर्ण निष्काम कर्मयोगियों में भी जो श्रद्धाविभोर होकर अन्तरात्मा से, अन्तर्चिन्तन से मुझे निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है। भजन दिखावे या प्रदर्शन की वस्तु नहीं है। इससे समाज भले ही अनुकूल हो; किन्तु प्रभु प्रतिकूल हो जाते हैं। भजन अत्यन्त गोपनीय है और वह अन्तःकरण से होता है। उसका उतार-चढ़ाव अन्तःकरण के ऊपर है।

निष्कर्ष :

इस अध्याय के आरम्भ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि फल के आश्रय से रहित होकर जो `कार्यम् कर्म' अर्थात् करने योग्य प्रक्रिया विशेष का आचरण करता है, वही संन्यासी है और उसी कर्म को करनेवाला ही योगी है। केवल क्रियाओं अथवा अग्नि को त्यागनेवाला योगी अथवा संन्यासी नहीं होता। संकल्पों का त्याग किये बिना कोई भी पुरुष संन्यासी अथवा योगी नहीं होता। हम संकल्प नहीं करते - ऐसा कह देने मात्र से संकल्प पिण्ड नहीं छोड़ते। योग में आरूढ़ होने की इच्छावाले पुरुष को चाहिए कि `कार्यम् कर्म' करे। कर्म करते-करते योगारूढ़ हो जाने पर ही सर्वसंकल्पों का अभाव होता है, इससे पूर्व नहीं। सर्वसंकल्पों का अभाव ही संन्यास है।

योगेश्वर ने पुनः बताया कि आत्मा अधोगति में जाता है और उसका उद्धार भी होता है। जिस पुरुष द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीत ली गई हैं, उसका आत्मा उसके लिए मित्र बनकर मित्रता में बरतता है तथा परमकल्याण करनेवाला होता है। जिसके द्वारा ये नहीं जीती गईं, उसके लिए उसी का आत्मा शत्रु बनकर शत्रुता में बरतता है, यातनाओं का कारण बनता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचावे, अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करे।

उन्होंने प्राप्तिवाले योगी की रहनी बतायी। 'यज्ञस्थली', बैठने का आसन तथा बैठने के तरीके पर उन्होंने कहा कि स्थान एकान्त और स्वच्छ हो। वस्त्र, मृगचर्म अथवा कुश की चटाई में से कोई एक आसन हो। कर्म के अनुरूप चेष्टा, युक्ताहार-विहार, सोने-जागने के संयम पर उन्होंने बल दिया। योगी के निरुद्ध चित्त की उपमा उन्होंने वायुरहित स्थान में दीपक की अकम्पित लौ से दी और इस प्रकार उस निरुद्ध चित्त का भी जब विलय हो जाता है, उस समय वह योग की पराकाष्ठा अनन्त आनन्द को प्राप्त होता है। संसार के संयोग-वियोग से रहित अनन्त सुख का नाम मोक्ष है। योग का अर्थ है उससे मिलन! जो योगी इसमें प्रवेश पा जाता है, वह सम्पूर्ण भूतों में समदृष्टिवाला हो जाता है। जैसे अपनी आत्मा वैसे ही सबकी आत्मा को देखता है। वह परम पराकाष्ठा की शान्ति को प्राप्त होता है। अतः योग आवश्यक है। मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँ-वहाँ से घसीटकर बारम्बार इसका निरोध करना चाहिए। श्रीकृष्ण ने स्वीकार किया कि मन बड़ी कठिनाई से वश में होनेवाला है, लेकिन होता है। यह अभ्यास और वैराग्य द्वारा वश में हो जाता है। शिथिल प्रयत्नवाला व्यक्ति भी अनेक जन्म के अभ्यास से वहीं पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति अथवा परमधाम है। तपस्वियों, ज्ञानमार्गियों तथा केवल कर्मियों से योगी श्रेष्ठ है। इसलिए अर्जुन! तू योगी बन। समर्पण के साथ अन्तर्मन से योग का आचरण कर। प्रस्तुत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने प्रमुख रूप से योग की प्राप्ति के लिए अभ्यास पर बल दिया है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे 'अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में `अभ्यास योग' नामक छठाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः `यथार्थ गीता' भाष्ये `अभ्यासयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ सप्तमोऽध्यायः

गत अध्यायों में गीता के मुख्य-मुख्य प्रायः सभी प्रश्न पूर्ण हो गये हैं। निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग, कर्म और यज्ञ का स्वरूप और उसकी विधि, योग का वास्तविक स्वरूप और उसका परिणाम तथा अवतार, वर्णसंकर, सनातन, आत्मस्थित महापुरुष के लिए भी लोकहितार्थ कर्म करने पर बल, युद्ध इत्यादि पर विशद चर्चा की गई। अगले अध्यायों में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इन्हीं से सन्दर्भित अनेक पूरक प्रश्नों को लिया है, जिनका समाधान तथा अनुष्ठान आराधना में सहायक सिद्ध होगा।

छठें अध्याय के अन्तिम श्लोक में योगेश्वर ने यह कहकर प्रश्न का स्वयं बीजारोपण कर दिया कि जो योगी 'मद्गतेनान्तरात्मना' - मुझमें अच्छी प्रकार स्थित अन्तःकरणवाला है, उसे मैं अतिशय श्रेष्ठ योगी मानता हूँ। परमात्मा में अच्छी प्रकार स्थिति क्या है? बहुत से योगी परमात्मा को प्राप्त तो होते हैं फिर भी कहीं कोई कमी उन्हें खटकती है। लेशमात्र भी कसर न रह जाय - ऐसी अवस्था कब आयेगी? सम्पूर्णता से परमात्मा की जानकारी कब आयेगी? कब होती है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

पार्थ! तू मुझमें आसक्त हुए मनवाला, बाहरी नहीं अपितु 'मदाश्रयः'- अर्थात् मेरे परायण होकर, योग में लगा हुआ (छोड़कर नहीं) मुझको जिस प्रकार

संशयरहित जानेगा, उसको सुन! जिसे जानने के पश्चात् लेशमात्र भी संशय न रह जाय। विभूतियों की उस समग्र जानकारी पर पुनः बल देते हैं-

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूँगा। पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उस अमृततत्त्व की प्राप्ति के साथ मिलनेवाली जानकारी का नाम ज्ञान है। परमतत्त्व परमात्मा की प्रत्यक्ष जानकारी का नाम ज्ञान है। महापुरुष को एक साथ सर्वत्र कार्य करने की जो क्षमता मिलती है, वह विज्ञान है। कैसे वह प्रभु एक साथ सबके हृदय में कार्य करता है? किस प्रकार वह उठाता, बैठाता और प्रकृति के द्वन्द्व से निकालकर स्वरूप तक की दूरी तय करा लेता है?-उसकी इस कार्य-प्रणाली का नाम विज्ञान है। इस विज्ञानसहित ज्ञान को सम्पूर्णता से कहूँगा, जिसे जानकर (सुनकर नहीं) संसार में और कुछ भी जानने योग्य नहीं रह जायेगा। जानने वालों की संख्या बहुत कम है-

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

हजारों मनुष्यों में कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियों में भी कोई विरला ही पुरुष मुझे तत्त्व (साक्षात्कार) के साथ जानता है। अब समग्र तत्त्व है कहाँ? एक स्थान पर पिण्डरूप में है अथवा सर्वत्र व्याप्त है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

अर्जुन! भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार - ऐसे यह आठ प्रकार के भेदोंवाली मेरी प्रकृति है। यह अष्टधा मूल प्रकृति है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

'इयम्' अर्थात् यह आठ प्रकारों वाली तो मेरी अपरा प्रकृति है अर्थात् जड़ प्रकृति है। महाबाहु अर्जुन! इससे दूसरी को जीवरूप 'परा' अर्थात् चेतन प्रकृति जान, जिससे सम्पूर्ण जगत् धारण किया हुआ है। वह है जीवात्मा। जीवात्मा भी प्रकृति के सम्बन्ध में रहने के कारण प्रकृति ही है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

अर्जुन! ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत 'एतद्योनीनि' इन महाप्रकृतियों से, परा और अपरा प्रकृतियों से ही उत्पन्न होनेवाले हैं। यही दोनों एकमात्र योनि हैं। मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय रूप हूँ अर्थात् मूल कारण हूँ। जगत् की उत्पत्ति मुझसे है और (प्रलय) विलय भी मुझमें है। जब तक प्रकृति विद्यमान है, तब तक मैं ही उसकी उत्पत्ति हूँ और जब कोई महापुरुष प्रकृति का पार पा लेता है, तब मैं ही महाप्रलय भी हूँ, जो अनुभव में आता है।

सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के प्रश्न को मानव-समाज ने कौतूहल से देखा है। विश्व के अनेक शास्त्रों में इसे किसी-न-किसी तरह समझाने का प्रयास चला आ रहा है। कोई कहता है - प्रलय में संसार डूब जाता है, तो किसी के अनुसार सूर्य इतना नीचे आ जाता है कि पृथ्वी जल जाती है। कोई इसी को कयामत कहता है कि इसी दिन सबका फैसला सुनाया जाता है तो कोई नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय की गणना में व्यस्त है; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार प्रकृति अनादि है, परिवर्तन होते रहे हैं; किन्तु यह नष्ट कभी नहीं हुई।

भारतीय धर्मग्रन्थों के अनुसार मनु ने प्रलय देखा था। इसके साथ ग्यारह ऋषियों ने मत्स्य की सींग में नाव बाँधकर हिमालय के एक उत्तुंग शिखर की शरण ली थी। लीलाकार श्रीकृष्ण के उपदेशों एवं जीवन से सम्बन्धित उनके समकालीन शास्त्र भागवत में मृकण्डु मुनि के पुत्र मारकण्डेय जी द्वारा प्रलय का आँखों देखा हाल प्रस्तुत है। वे हिमालय के उत्तर में पुष्पभद्रा नदी के किनारे रहते थे।

भागवत के द्वादश स्कन्ध के आठवें और नौवें अध्याय के अनुसार शौनकादि ऋषियों ने सूत जी से पूछा कि मारकण्डेय जी ने महाप्रलय में वट के पत्ते पर भगवान बालमुकुन्द के दर्शन किये थे; किन्तु वे तो हमारे ही वंश के थे, हमसे कुछ ही समय पूर्व हुए थे। उनके जन्म के बाद न कोई प्रलय हुआ और न सृष्टि ही डूबी। सब कुछ यथावत् है, तब उन्होंने कैसा प्रलय देखा?

सूत जी ने बताया कि मारकण्डेय जी की प्रार्थना से प्रसन्न होकर नरनारायण ने उन्हें दर्शन दिया। मारकण्डेय जी ने कहा कि मैं आपकी वह माया देखना चाहता हूँ, जिससे प्रेरित होकर यह आत्मा अनन्त योनियों में भ्रमण करता है। भगवान ने स्वीकार किया और एक दिन जब मुनि अपने आश्रम में भगवान् के चिन्तन में तन्मय हो रहे थे, तब उन्हें दिखाई पड़ा कि चारों ओर से समुद्र उमड़कर उनके ऊपर आ रहा है। उसमें 'मगर' छलाँगे लगा रहे थे। उनकी चपेट में ऋषि मारकण्डेय भी आ रहे थे। वे इधर-उधर बचने के लिए भाग रहे थे। आकाश, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, स्वर्ग, ज्योतिष-मण्डल सभी उस समुद्र में डूब गये। इतने में मारकण्डेय जी को बरगद का पेड़ और उसके पत्ते पर एक शिशु दिखाई दिया। श्वास के साथ मारकण्डेय जी भी उस शिशु के उदर में चले गये और अपना आश्रम, सूर्यमण्डल सहित सृष्टि को जीवित पाया और पुनः श्वास के साथ उस शिशु के उदर से वे बाहर आ गये। नेत्र खुलने पर मारकण्डेय जी ने अपने को उसी आश्रम में अपने ही आसन पर पाया।

स्पष्ट है कि करोड़ों वर्ष के भजन के पश्चात् उन मुनि ने ईश्वरीय दृश्य को अपने हृदय में देखा, अनुभव में देखा; बाहर सब कुछ ज्यों-का-त्यों था। अतः प्रलय योगी के हृदय में ईश्वर से मिलनेवाली अनुभूति है। भजन की पूर्तिकाल में योगी के हृदय में संसार का प्रवाह मिटकर अव्यक्त परमात्मा ही शेष बचता है, यही प्रलय है। बाहर प्रलय नहीं होता। महाप्रलय शरीर रहते ही अद्वैत की अनिर्वचनीय स्थिति है। यह क्रियात्मक है। केवल बुद्धि से निर्णय लेनेवाले भ्रम का ही सृजन करते हैं, चाहे हम हों या आप।

इसी पर आगे देखें-

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

धनंजय! मेरे सिवाय किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश मेरे में गुँथा हुआ है। है तो, परन्तु जानेंगे कब? जब (इस अध्याय के प्रथम श्लोक के अनुसार) अनन्य आसक्ति (भक्ति) से मेरे परायण होकर योग में उसी रूप से लग जायँ। इसके बिना नहीं। योग में लगना आवश्यक है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

कौन्तेय! जल में मैं रस हूँ। चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ। सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ। (ओ+अहं+कार) स्वयं का आकार हूँ। आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ। तथा मैं-

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूँ। सम्पूर्ण जीवों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में उनका तप हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

पार्थ! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन कारण अर्थात् बीज मुझे ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ। इसी क्रम में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! मैं बलवानों की कामना और आसक्तिरहित बल हूँ। संसार में सब बलवान् ही तो बनते हैं। कोई दण्ड-बैठक लगाता है, कोई परमाणु इकट्ठा करता है; किन्तु नहीं, श्रीकृष्ण कहते हैं कि काम और राग से परे जो बल है वह मैं हूँ, वही वास्तविक बल है। सब भूतों में धर्म के अनुकूल कामना मैं हूँ। परब्रह्म परमात्मा ही एकमात्र धर्म है। जो सबको धारण किये हुए है, जो शाश्वत आत्मा है वही धर्म है। जो उससे अविरोध रखनेवाली कामना है, मैं हूँ। आगे भी श्रीकृष्ण ने कहा कि, अर्जुन! मेरी प्राप्ति के लिए इच्छा कर। सब कामनायें तो वर्जित हैं; किन्तु उस परमात्मा को पाने की कामना आवश्यक है अन्यथा आप साधन कर्म में प्रवृत्त नहीं होंगे। ऐसी कामना भी मेरी ही देन है।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

और भी जो सत्त्वगुण से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, जो रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होनेवाले भाव हैं, उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं, ऐसा

जान। परन्तु वास्तव में उनमें मैं और वे मेरे में नहीं हैं। क्योंकि न मैं उनमें खोया हुआ हूँ और न वे ही मुझमें प्रवेश कर पाते हैं; क्योंकि मुझे कर्म से स्पृहा नहीं है, मैं निर्लेप हूँ, मुझे इनमें कुछ पाना नहीं है। इसलिए मुझमें प्रवेश नहीं कर पाते। ऐसा होने पर भी-

जिस प्रकार आत्मा की उपस्थिति से ही शरीर को भूख-प्यास लगती है, आत्मा को अन्न अथवा जल से कोई प्रयोजन नहीं है, उसी प्रकार प्रकृति परमात्मा की उपस्थिति में ही अपना कार्य कर पाती है, परमात्मा उसके गुण और कार्यों से निर्लेप रहता है।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

सात्त्विक, राजस और तामस - इन तीन गुणों के कार्यरूप भावों से यह सारा जगत् मोहित हो रहा है। इसलिये लोग इन तीनों गुणों से परे मुझ अविनाशी को तत्त्व से भली प्रकार नहीं जानते। मैं इन तीनों गुणों से परे हूँ अर्थात् जव तक अंशमात्र भी गुणों का आवरण विद्यमान है, तब तक कोई मुझे नहीं जानता। उसे अभी चलना है, वह राही है और-

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

यह त्रिगुणमयी मेरी अद्भुत माया दुस्तर है; किन्तु जो पुरुष मुझे ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया का पार पा जाते हैं। यह माया है तो दैवी, परन्तु अगरवत्ती जलाकर इसकी पूजा न करने लगें, इससे पार पाना है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

जो मुझे निरन्तर भजते हैं, वे जानते हैं। फिर भी लोग नहीं भजते। माया द्वारा जिनके ज्ञान का अपहरण कर लिया गया है, जो आसुरी स्वभाव को धारण किये हुए मनुष्यों में अधम, काम-क्रोधादि दुष्कृतियों को करनेवाले मूढ़ लोग मुझे नहीं भजते। तो भजता कौन है?

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! `सुकृतिनः' - उत्तम अर्थात् नियत कर्म (जिसके परिणाम में श्रेय की प्राप्ति हो, उसको) करनेवाले, `अर्थार्थी' अर्थात् सकाम, `आर्तः' अर्थात् दुःख से छूटने की इच्छावाले, `जिज्ञासुः' अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से जानने की इच्छावाले और `ज्ञानी' अर्थात् जो प्रवेश की स्थिति में हैं - ये चारों प्रकार के भक्तजन मुझे भजते हैं।

`अर्थ' वह वस्तु है, जिससे हमारे शरीर अथवा सम्बन्धों की पूर्ति हो। इसलिये अर्थ, कामनायें सब कुछ पहले तो भगवान् द्वारा पूर्ण होती हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं ही पूर्ण करता हूँ; किन्तु इतना ही वास्तविक `अर्थ' नहीं है। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है - यही अर्थ है।

सांसारिक `अर्थ' की पूर्ति करते-करते भगवान वास्तविक अर्थ आत्मिक सम्पत्ति की ओर बढ़ा देते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि इतने ही से मेरा भक्त सुखी नहीं होगा इसलिये वे आत्मिक सम्पत्ति भी उसे देने लगते हैं। `लोक लाहु परलोक निबाहु' - लोक में लाभ और परलोक में निर्वाह ये दोनों भगवान की वस्तु हैं। अपने भक्त को खाली नहीं छोड़ते।

`आर्त' जो दुःखी हो। `जिज्ञासुः - समग्रता से जानने की इच्छावाले, जिज्ञासु मुझे भजते हैं। साधना की परिपक्व अवस्था में दिग्दर्शन (प्रत्यक्ष दर्शन) की अवस्थावाले ज्ञानी भी मुझे भजते हैं। इस प्रकार चार प्रकार के भक्त मुझे भजते हैं, जिनमें ज्ञानी श्रेष्ठ है अर्थात् ज्ञानी भी भक्त ही है। इन सबमें भी-

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

अर्जुन! उनमें भी नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित, अनन्य भक्तिवाला ज्ञानी विशिष्ट है; क्योंकि साक्षात्कार के सहित जाननेवाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी भी मुझे अत्यन्त प्रिय है। वह ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है-

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

यद्यपि ये चारों प्रकार के भक्त उदार ही हैं (कौन-सी उदारता कर दी? क्या आपके भक्ति करने से भगवान् को कुछ मिल जाता है? क्या भगवान में कोई कमी है जिसे आपने पूरा कर दिया? नहीं, वस्तुतः वही उदार है जो अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचाये, जो उसके उद्धार के लिये अग्रसर है। इस प्रकार यह सब उदार हैं।) परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है, ऐसी मेरी मान्यता है; क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही स्थित है। अर्थात् वह मैं हूँ, वह मुझमें है। मुझमें और उसमें कोई अन्तर नहीं है। इसी पर पुनः वल देते हैं-

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

अभ्यास करते-करते बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में, प्राप्तिवाले जन्म में साक्षात्कार को प्राप्त हुआ ज्ञानी 'सब कुछ वासुदेव' ही हैं' - इस प्रकार मेरे को भजता है। वह महात्मा अति दुर्लभ है। वह किसी वासुदेव की प्रतिमा नहीं गढ़वाता बल्कि अपने भीतर ही उस परमदेव का वास पाता है। उसी ज्ञानी महात्मा को श्रीकृष्ण तत्त्वदर्शी भी कहते हैं। इन्हीं महापुरुषों से बाहर समाज में कल्याण सम्भव है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष तत्त्वदर्शी महापुरुष श्रीकृष्ण के शब्दों में अति दुर्लभ हैं।

जब श्रेय और प्रेय (मुक्ति और भोग) दोनों ही भगवान से मिलते हैं, तब तो सभी को एकमात्र भगवान का भजन करना चाहिए, फिर भी लोग उन्हें नहीं भजते। क्यों? श्रीकृष्ण के ही शब्दों में-

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

"वह तत्त्वदर्शी महात्मा अथवा परमात्मा ही सब कुछ है" - लोग ऐसा समझ नहीं पाते; क्योंकि भोगों की कामनाओं द्वारा लोगों का विवेक अपहरण कर लिया गया है इसलिए वे अपनी प्रकृति अर्थात् जन्म-जन्मान्तरों से अर्जित संस्कारों के स्वभाव से प्रेरित होकर मुझ परमात्मा से भिन्न अन्य देवताओं और

उनके लिए प्रचलित नियमों की शरण लेते हैं। यहाँ अन्य देवता का प्रसंग पहली बार आया है।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, मैं उसी देवता के प्रति उसकी श्रद्धा को स्थिर करता हूँ। मैं स्थिर करता हूँ; क्योंकि देवता नाम की कोई वस्तु होती तब तो वह देवता ही श्रद्धा को स्थिर करता-

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।२२।।

वह पुरुष उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देव-विग्रह के पूजन में तत्पर होता है और उस देवता के माध्यम से मेरे ही द्वारा निर्मित उन इच्छित भोगों को निःसन्देह प्राप्त होता है। भोग कौन देता है? मैं ही देता हूँ। उसकी श्रद्धा का परिणाम है भोग, न कि किसी देवता की देन। किन्तु वह फल तो पा ही लेता है फिर इसमें बुराई क्या है? इस पर कहते हैं-

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

परन्तु उन अल्पबुद्धि वालों का वह फल नाशवान् है। आज फल है तो भोगते-भोगते नष्ट हो जायेगा इसलिए नाशवान् है। देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं अर्थात् देवता भी नाशवान् हैं। देवताओं से लेकर यावन्मात्र जगत् परिवर्तनशील और मरणधर्मा है। मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है, जो अव्यक्त है 'नैष्ठिकीम् परमशान्ति' पाता है।

अध्याय तीन में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुमलोग देवताओं अर्थात् दैवी सम्पद् की उन्नति करो। ज्यों-ज्यों दैवी सम्पद् की उन्नति होगी, वही तुम्हारी उन्नति है। क्रमशः उन्नति करते-करते परमश्रेय को प्राप्त कर लो। यहाँ देवता उस दैवी सम्पद् का समूह

है, जिससे परमदेव परमात्मा का देवत्व अर्जित किया जाता है। दैवी सम्पद् मोक्ष के लिए है, जिसके छब्बीस लक्षणों का निरूपण गीता के सोलहवें अध्याय में किया गया है।

'देवता' हृदय के अन्तराल में परमदेव परमात्मा के देवत्व को अर्जित करानेवाले सद्गुणों का नाम है। थी तो यह अंदर की वस्तु; किन्तु कालान्तर में लोगों ने भीतर की वस्तु को बाहर देखना प्रारंभ कर दिया। मूर्तियाँ गढ़ लीं, कर्मकाण्ड रच डाले और वास्तविकता से दूर खड़े हो गये। श्रीकृष्ण ने इस भ्रान्ति का निराकरण उपर्युक्त चार श्लोकों में किया। गीता में पहली बार 'अन्य देवताओं' का नाम लेते हुए उन्होंने कहा कि देवता होते ही नहीं। लोगों की श्रद्धा जहाँ झुकती है, वहाँ मैं ही खड़ा होकर उनकी श्रद्धा को पुष्ट करता हूँ और मैं ही वहाँ फल भी देता हूँ। वह फल भी नश्वर है। फल नष्ट हो जाते हैं, देवता नष्ट हो जाते हैं और देवताओं को पूजनेवाला भी नष्ट हो जाता है। जिनका विवेक नष्ट हो गया है, वे मूढ़बुद्धि ही अन्य देवताओं को पूजते हैं। श्रीकृष्ण तो यहाँ तक कहते हैं कि अन्य देवताओं को पूजने का विधान ही अयुक्तिसंगत है (आगे देखेंगे, ९/२३)।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

यद्यपि जब देवताओं के नाम पर, देवता नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, जो फल मिलता है वह भी नाशवान् है, फिर भी सब लोग मेरा भजन नहीं करते; क्योंकि बुद्धिहीन पुरुष (जैसा पिछले श्लोक में आया कि कामनाओं द्वारा जिनका ज्ञान अपहृत हो गया है वे) मेरे सर्वोत्तम, अविनाशी और परमप्रभाव को भली प्रकार नहीं जानते, इसलिये वे मुझ अव्यक्त पुरुष को व्यक्तिभाव को प्राप्त हुआ मानते हैं, मनुष्य मानते हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण भी मनुष्य शरीरधारी योगी थे, योगेश्वर थे। जो स्वयं योगी हो और दूसरों को भी योग प्रदान करने की जिनमें क्षमता हो, उन्हें योगेश्वर कहते हैं। साधना के सही दौर में पड़कर क्रमशः उत्थान होते-होते महापुरुष भी उसी परमभाव में स्थित हो जाते हैं। शरीरधारी होते हुए भी वे उसी अव्यक्त स्वरूप में स्थित हो जाते हैं; फिर भी कामनाओं से विवश मन्दबुद्धि के लोग उन्हें साधारण व्यक्ति ही मानते हैं। वे सोचते हैं कि हमारी ही तरह तो यह भी पैदा हुए हैं, भगवान् कैसे हो सकते हैं? उन बेचारों का दोष भी क्या है? दृष्टिपात् करते हैं तो शरीर ही दिखाई पड़ता है। वे महापुरुष के वास्तविक स्वरूप को देख क्यों नहीं पाते? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण से ही सुनें-

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

सामान्य मनुष्य के लिए माया एक परदा है, जिसके द्वारा परमात्मा सर्वथा छिपा है। योग-साधना समझकर वह इसमें प्रवृत्त होता है। इसके पश्चात् योगमाया अर्थात् योगक्रिया भी एक आवरण ही है। योग का अनुष्ठान करते-करते उसकी पराकाष्ठा योगारूढ़ता आ जाने पर वह छिपा हुआ परमात्मा विदित होता है। योगेश्वर कहते हैं कि मैं अपनी योगमाया से ढँका हुआ हूँ, केवल योग की परिपक्व अवस्था वाले ही मुझे यथार्थ देख सकते हैं। मैं सबके लिये प्रत्यक्ष नहीं हूँ इसलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित (जिसे अब जन्म नहीं लेना है), अविनाशी (जिसका नाश नहीं होना है), अव्यक्त स्वरूप (जिसे पुनः व्यक्त नहीं होना है) को नहीं जानता। अर्जुन भी श्रीकृष्ण को अपनी ही तरह मनुष्य मानता था। आगे उन्होंने दृष्टि दिया तो अर्जुन गिड़गिड़ाने लगा, प्रार्थना करने लगा। वस्तुतः अव्यक्तस्थित महापुरुष को पहचानने में हमलोग प्रायः अन्धे ही हैं। आगे कहते हैं-

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

अर्जुन! मैं अतीत, वर्तमान और भविष्य में होनेवाले सम्पूर्ण प्राणियों को जानता हूँ परन्तु मुझे कोई नहीं जानता। क्यों नहीं जान पाता? -

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप।।२७।।

भरतवंशी अर्जुन! इच्छा और द्वेष अर्थात् रागद्वेषादि द्वन्द्व के मोह से संसार के सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त मोह को प्राप्त हो रहे हैं इसलिए मुझे नहीं जान पाते। तो क्या कोई जानेगा ही नही? योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

परन्तु पुण्य कर्म (जो संसृति का अन्त करनेवाला है, जिसका नाम कार्यम् कर्म, नियत कर्म, यज्ञ की प्रक्रिया कहकर बारम्बार समझाया है, उस कर्म को) करनेवाले जिन भक्तों का पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषादि द्वन्द्व के मोह से भली प्रकार मुक्त होकर, व्रत में दृढ़ रहकर मुझे भजते हैं। किसलिए भजते हैं?

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

जो मेरी शरण होकर जरा और मरण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करते हैं. वे पुरुष उस ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को और सम्पूर्ण कर्म को जानते हैं और इसी क्रम में-

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।।३०।।

जो पुरुष अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ के सहित मुझे जानते हैं, मुझमें समाहित चित्तवाले वे पुरुष अन्तकाल में भी मुझको ही जानते हैं, मुझमें ही स्थित रहते हैं और सदैव मुझे प्राप्त रहते हैं। छब्बीसवें-सत्ताइसवें श्लोक में उन्होंने कहा कि मुझे कोई नहीं जानता; क्योंकि वे मोहग्रस्त हैं। किन्तु जो उस मोह से छूटने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे (१) सम्पूर्ण ब्रह्म, (२) सम्पूर्ण अध्यात्म, (३) सम्पूर्ण कर्म, (४) सम्पूर्ण अधिभूत, (५) सम्पूर्ण अधिदैव और (६) सम्पूर्ण अधियज्ञसहित मुझको जानते हैं अर्थात् इन सबका परिणाम मैं (सद्गुरु) हूँ। वही मुझे जानता है, ऐसा नहीं कि कोई नहीं जानता।

निष्कर्ष :

इस सातवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि अनन्य भाव से मुझमें सर्मपित होकर, मेरे आश्रित होकर जो योग में लगता है वह समग्ररूप से मुझे जानता है। मुझे जानने के लिए हजारों में कोई विरला ही प्रयत्न करता है और प्रयत्न करनेवालों में विरला ही कोई जानता है। वह मुझे पिण्डरूप में एकदेशीय नहीं वरन् सर्वत्र व्याप्त देखता है। आठ भेदोंवाली मेरी जड़ प्रकृति है और इसके

अन्तराल में जीवरूप मेरी चेतन प्रकृति है। इन्हीं दोनों के संयोग से पूरा जगत् खड़ा है। तेज और बल मेरे ही द्वारा हैं। राग और काम से रहित बल तथा धर्मानुकूल कामना भी मैं ही हूँ। जैसा कि सब कामनाएँ तो वर्जित हैं, लेकिन मेरी प्राप्ति के लिए कामना कर। ऐसी इच्छा का अभ्युदय होना मेरा ही प्रसाद है। केवल परमात्मा को पाने की कामना ही `धर्मानुकूल कामना' है।

श्रीकृष्ण ने वताया कि मैं तीनों गुणों से अतीत हूँ। परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु भोगासक्त मूढ़ पुरुष सीधे मुझे न भजकर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, जवकि वहाँ देवता नाम का कोई है ही नहीं। पत्थर-पानी-पेड़ जिसको भी वे पूजना चाहते हैं, उसी में उनकी श्रद्धा को मैं ही पुष्ट करता हूँ। उसकी आड़ में खड़ा होकर मैं ही फल देता हूँ; क्योंकि न वहाँ कोई देवता है, न किसी देवता के पास कोई भोग ही है। लोग मुझे साधारण व्यक्ति समझकर नहीं भजते; क्योंकि मैं योग-प्रक्रिया द्वारा ढँका हुआ हूँ। अनुष्ठान करते-करते योगमाया का आवरण पार करनेवाले ही मुझ शरीरधारी को भी अव्यक्त रूप में जानते हैं, अन्य स्थितियों में नहीं।

मेरे भक्त चार प्रकार के हैं - अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी। चिन्तन करते-करते अनेक जन्मों के अन्तिम जन्म में प्राप्तिवाला ज्ञानी मेरा ही स्वरूप है अर्थात् अनेक जन्मों से चिंतन करके उस भगवत्स्वरूप को प्राप्त किया जाता है। राग-द्वेष के मोह से आक्रान्त मनुष्य मुझे कदापि नहीं जान सकते, किन्तु राग-द्वेष के मोह से रहित होकर जो नियतकर्म (जिसे संक्षेप में आराधना कह सकते हैं) का चिन्तन करते हुए जरा-मरण से छूटने के लिए प्रयत्नशील हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण रूप से मुझे जान लेते हैं। वे सम्पूर्ण ब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, सम्पूर्ण अधिदैव को, सम्पूर्ण कर्म को और सम्पूर्ण यज्ञ के सहित मुझे जानते हैं। वे मुझमें प्रवेश करते हैं और अन्तकाल में भी मुझको ही जानते हैं अर्थात् फिर कभी वे विस्मृत नहीं होते।

इस अध्याय में परमात्मा की समग्र जानकारी का विवेचन है, अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे `समग्र बोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'समग्र जानकारी' नामक सातवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'समग्र बोधः' नाम सप्तमोऽध्यायः।।७।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथाष्टमोऽध्यायः

सातवें अध्याय के अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि पुण्यकर्म (नियतकर्म, आराधना) को करनेवाले योगी सम्पूर्ण पापों से छूटकर उस व्याप्त ब्रह्म को जानते हैं अर्थात् कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो व्याप्त ब्रह्म की जानकारी दिलाता है। उस कर्म को करनेवाले व्याप्त ब्रह्म को, सम्पूर्ण कर्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को, सम्पूर्ण अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञसहित मुझको जानते हैं। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो इन सबसे परिचित कराती है। वे अन्तकाल में भी मुझको ही जानते हैं। उनकी जानकारी कभी विस्मृत नहीं होती है।

इस पर अर्जुन ने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही उन्हीं शब्दों को दुहराते हुए प्रश्न रखा -

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहा जाता है?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है और वह इस शरीर में कैसे है? सिद्ध है कि अधियज्ञ अर्थात् यज्ञ का अधिष्ठाता कोई ऐसा पुरुष है, जो मनुष्य-शरीर के आधारवाला है। समाहित चित्तवाले पुरुषों द्वारा अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं? इन सातों प्रश्नों का क्रम से निर्णय देने के लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण बोले-

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।३।।

`अक्षरं ब्रह्म परमं'** - जो अक्षय है, जिसका क्षय नहीं होता, वही परमब्रह्म है। **`स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते' - स्वयं में स्थिर भाव ही अध्यात्म अर्थात् आत्मा का आधिपत्य है। इससे पहले सभी माया के आधिपत्य में रहते हैं; किन्तु जब `स्व'-भाव अर्थात् स्वरूप में स्थिरभाव (स्वयं में स्थिरभाव) मिल जाता है तो आत्मा का ही आधिपत्य उसमें प्रवाहित हो जाता है। यही अध्यात्म है, अध्यात्म की पराकाष्ठा है। **`भूतभावोद्भवकरः'**- भूतों के वे भाव जो कुछ-न-कुछ उद्भव करते हैं अर्थात् प्राणियों के वे संकल्प जो भले अथवा बुरे संस्कारों की संरचना करते हैं, उनका विसर्ग अर्थात् विसर्जन, उनका मिट जाना ही कर्म की पराकाष्ठा है। यही सम्पूर्ण कर्म है, जिसके लिये योगेश्वर ने कहा था - `वह सम्पूर्ण कर्म को जानता है।' वहाँ कर्म पूर्ण है, आगे आवश्यकता नहीं है (नियत कर्म) इस अवस्था में जबकि भूतों के वे भाव जो कुछ-न-कुछ रचते हैं, भले अथवा बुरे संस्कार संग्रह करते हैं, बनाते हैं, वे जब सर्वथा शान्त हो जायँ, यही कर्म की सम्पूर्णता है, इसके आगे कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अतः कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो भूतों के सम्पूर्ण संकल्पों को, जिनसे कुछ-न-कुछ संस्कार बनते हैं उनका शमन कर देती है। कर्म का अर्थ है (आराधना) चिन्तन, जो यज्ञ में है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।।४।।

जब तक अक्षय भाव नहीं मिलता, तब तक नष्ट होनेवाले सम्पूर्ण क्षर भाव अधिभूत अर्थात् भूतों के अधिष्ठान हैं। वही भूतों की उत्पत्ति के कारण हैं। **`पुरुषः च अधिदैवतम्'** और प्रकृति से परे जो परम पुरुष है, वही अधिदेव अर्थात् सम्पूर्ण देवों (दैवी सम्पद्) का अधिष्ठाता है, दैवी सम्पद् उसी परमदेव में विलय हो जाती है। देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन! इस मनुष्य तन में मैं ही **`अधियज्ञ'** हूँ अर्थात् यज्ञों का अधिष्ठाता हूँ! अतः इसी शरीर में, अव्यक्त स्वरूप में

स्थित महापुरुष ही अधियज्ञ है। श्रीकृष्ण एक योगी थे। जो सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता है, अन्त में यज्ञ उसमें प्रवेश पा जाते हैं। वही परमस्वरूप मिल जाता है। इस प्रकार अर्जुन के छः प्रश्नों का समाधान हुआ। अब अन्तिम प्रश्न कि अन्तकाल में कैसे आप जानने में आते हैं, जो कभी विस्मृत नहीं होते?

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो पुरुष अन्तकाल में अर्थात् मन के निरोध और विलयकाल में मेरा ही स्मरण करते हुए शरीर के सम्बन्ध को छोड़ अलग हो जाता है, वह `मद्भावं' - साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है।

शरीर का निधन शुद्ध अन्तकाल नहीं है। मरने के वाद भी शरीरों का क्रम पीछे लगा रहता है। संचित संस्कारों की सतह के मिट जाने के साथ ही मन का निरोध हो जाता है और वह मन भी जब विलीन हो जाता है तो वहीं पर अन्तकाल है, जिसके वाद शरीर धारण नहीं करना पड़ता। यह क्रियात्मक है, केवल कहने से, वार्त्ताक्रम से समझ में नहीं आता। जब तक वस्त्रों की तरह शरीर का परिवर्तन हो रहा है, तब तक शरीरों का अन्त कहाँ हुआ? मन के निरोध और निरुद्ध मन के भी विलयकाल में जीते-जी शरीर के सम्बन्धों का विच्छेद हो जाता है। यदि मरने के बाद ही यह स्थिति मिलती तो श्रीकृष्ण भी पूर्ण नहीं होते। उन्होंने कहा कि अनेक जन्म के अभ्यास से प्राप्तिवाला ज्ञानी साक्षात् मेरा स्वरूप है। मैं वह हूँ और वह मुझमें है। लेशमात्र भी उसमें और मुझमें अन्तर नहीं है। यह जीते-जी प्राप्ति है। जब फिर कभी शरीर न मिले, वही शरीरों का अन्त है।

यह तो वास्तविक शरीरान्त का चित्रण हुआ, जिसके पश्चात् जन्म नहीं लेना पड़ता है। दूसरा शरीरान्त मृत्यु है, जो लोक-प्रचलित है; किन्तु इस शरीरान्त के पश्चात् पुनः जन्म लेना पड़ता है-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

कौन्तेय! मृत्यु के समय मनुष्य जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, उस-उस को ही प्राप्त होता है। तब तो बड़ा सस्ता सौदा है। आजीवन मौज करें, मरने लगें तो भगवान् का स्मरण कर लेंगे। किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं- ऐसा होता नहीं, 'सदा तद्भावभावितः' - उस ही भाव का चिन्तन कर पाता है, जैसा जीवन भर किया है। वही विचार बरबस आ जाता है, जिसका जीवन भर अभ्यास किया गया है, अन्यथा नहीं हो पाता। अतः-

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।

इसलिए अर्जुन! तू हर समय मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। मुझमें अर्पित मन और बुद्धि से युक्त होकर तू निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। निरन्तर चिन्तन और युद्ध एक साथ कैसे सम्भव है? हो सकता है कि निरन्तर चिन्तन और युद्ध का यही स्वरूप हो कि 'जय कन्हैयालाल की', 'जय भगवान् की' - कहते रहें और वाण चलाते रहें। किन्तु स्मरण का स्वरूप अगले श्लोक में स्पष्ट करते हुए योगेश्वर कहते हैं-

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

हे पार्थ! उस स्मरण के लिए योग के अभ्यास से युक्त हुआ (मेरा चिन्तन और योग का अभ्यास पर्याय है) मेरे सिवाय दूसरी ओर न जानेवाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करनेवाला परमप्रकाशस्वरूप दिव्यपुरुष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त होता है। मान लीजिए कि यह पेन्सिल भगवान है, तो इसके सिवाय अन्य किसी वस्तु का स्मरण नहीं आना चाहिए। इसके अगल-बगल आपको पुस्तक दिखाई पड़ती है या अन्य कुछ भी, तो आपका स्मरण खण्डित हो गया। स्मरण जब इतना सूक्ष्म है कि इष्ट के अतिरिक्त दूसरी वस्तु का स्मरण भी न हो, मन में तरंगें भी न आयें, तो स्मरण और युद्ध दोनों एक साथ कैसे होंगे? वस्तुतः जब आप चित्त को सब ओर से समेटकर अपने एक आराध्य के स्मरण में प्रवृत्त होंगे, तो उस समय मायिक प्रवृत्तियाँ - काम-क्रोध, राग-द्वेष बाधा के रूप में

सामने प्रकट ही हैं। आप स्मरण करेंगे, किन्तु वे आपके अन्दर उद्वेग पैदा करेंगी, आपका मन स्मरण से चलायमान करना चाहेंगी। इन बाह्य प्रवृत्तियों का पार पाना ही युद्ध है। निरन्तर चिन्तन के साथ ही युद्ध सम्भव है। गीता का एक भी श्लोक बाह्य मार-काट का समर्थन नहीं करता। चिन्तन किसका करें?- इस पर कहते हैं-

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।

उस युद्ध के साथ वह पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता, सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले किन्तु अचिन्त्य (जब तक चित्त और चित्त की लहर है, तब तक वह दिखाई नहीं देता। चित्त के निरोध और विलयकाल में ही जो विदित होता है), नित्य प्रकाशस्वरूप और अविद्या से परे उस परमात्मा का स्मरण करता है। पीछे बताया - मेरा चिन्तन करता है, यहाँ कहते हैं - परमात्मा का। अतः उस परमात्मा के चिन्तन (ध्यान) का माध्यम तत्त्वस्थित महापुरुष है। इसी क्रम में-

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

जो निरन्तर उस परमात्मा का स्मरण करता है, वह भक्तियुक्त पुरुष 'प्रयाणकाले'-मन के विलीन अवस्था काल में योगबल से अर्थात् उसी नियत कर्म के आचरण द्वारा भृकुटी के मध्य में प्राण को भली प्रकार स्थापित करके (प्राण-अपान को भली प्रकार सम करके, न अन्दर से उद्वेग पैदा हो न बाह्य संकल्प कोई लेनेवाला हो, सत्-रज-तम भली प्रकार शान्त हों, सुरत इष्ट में ही स्थित हो, उस काल में) वह अचल मन अर्थात् स्थिर बुद्धिवाला पुरुष उस दिव्य पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है। सतत् स्मरणीय है कि उसी एक परमात्मा की प्राप्ति का विधान योग है। उसके लिये नियत क्रिया का आचरण ही योग-क्रिया है, जिसका सविस्तार वर्णन योगेश्वर ने चौथे-छठें अध्याय में किया है। अभी

उन्होंने कहा - "निरन्तर मेरा ही स्मरण कर"। कैसे करें? तो इसी योग-धारणा में स्थिर रहते हुए करना है। ऐसा करनेवाला दिव्य पुरुष को ही प्राप्त होता है, जो कभी विस्मृत नहीं होता। यहाँ इस प्रश्न का समाधान हुआ कि आप प्रयाणकाल में किस प्रकार जानने में आते हैं? पाने योग्य पद का चित्रण देखें, जो गीता में स्थान-स्थान पर आया है -

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

'वेदविद्' अर्थात् अविदित तत्त्व को प्रत्यक्ष जाननेवाले लोग जिस परमपद को 'अक्षरम्' - अक्षय कहते हैं, वीतराग महात्मा जिसमें प्रवेश के लिए यत्नशील रहते हैं, जिस परमपद को चाहनेवाले ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं (ब्रह्मचर्य का अर्थ जननेन्द्रिय मात्र का निरोध नहीं, वल्कि 'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी'-वाह्य स्पर्शों को मन से त्यागकर ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन-स्मरण ही ब्रह्मचर्य है, जो ब्रह्म का दर्शन करा उसी में स्थान दिला शान्त हो जाता है। इस आचरण से इन्द्रिय-संयम ही नहीं, बल्कि सकलेन्द्रिय संयम स्वतः हो जाता है। इस प्रकार जो ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं) जो हृदय में संग्रह करने योग्य है, धारण करने योग्य है, उस पद को मैं तेरे लिए कहूँगा। वह पद है क्या, कैसे पाया जाता है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।

सब इन्द्रियों के दरवाजों को रोककर अर्थात् वासनाओं से अलग रहकर, मन को हृदय में स्थित करके (ध्यान हृदय में ही धरा जाता है, बाहर नहीं; पूजा बाहर नहीं होती) प्राण अर्थात् अन्तःकरण के व्यापार को मस्तिष्क में निरोधकर, योग-धारणा में स्थित होकर (योग को धारण किये रहना है, दूसरा तरीका नहीं है) इस प्रकार स्थित होकर-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

जो पुरुष `ओम् इति' - ओम् इतना ही, जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उसका जप तथा मेरा स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण एक योगेश्वर, परमतत्त्व में स्थित महापुरुष, सद्गुरु थे। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि `ओम्' अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, तू उसका जप कर और ध्यान मेरा कर। प्राप्ति के हर महापुरुष का नाम वही होता है जिसे वह प्राप्त है, जिसमें वह विलय है इसलिए नाम ओम् बताया और रूप अपना। योगेश्वर ने `कृष्ण-कृष्ण' जपने का निर्देश नहीं दिया। कालान्तर में भावुकों ने उनका भी नाम जपना आरम्भ कर दिया और अपनी श्रद्धा के अनुसार उसका फल भी पाते हैं, जैसा कि मनुष्य की श्रद्धा जहाँ टिक जाती है वहाँ मैं ही उसकी श्रद्धा को पुष्ट करता तथा मैं ही फल का विधान भी करता हूँ।

भगवान शिव ने `राम' शब्द के जपने पर बल दिया। `रमन्ते योगिनः यस्मिन् स राम।' `रा और म के बीच में कबिरा रहा लुकाय।' रा और म इन दो अक्षरों के अन्तराल में कबीर अपने मन को रोकने में सक्षम हो गये।

श्रीकृष्ण ओम् पर बल देते हैं। ओ अहं स ओम् अर्थात् वह सत्ता मेरे भीतर है, कहीं बाहर न ढूँढ़ने लगे। यह ओम् भी उस परम सत्ता का परिचय देकर शान्त हो जाता है। वास्तव में उस प्रभु के अनन्त नाम हैं किन्तु जप के लिए वही नाम सार्थक है जो छोटा हो, श्वास में ढल जाए और एक परमात्मा का ही बोध कराता हो। उससे भिन्न अनेक देवी-देवताओं की अविवेकपूर्ण कल्पना में उलझकर लक्ष्य से दृष्टि न हटा दें।

`पूज्य महाराज जी' कहा करते थे कि - `मेरा रूप देखें और श्रद्धानुसार कोई भी दो-ढाई अक्षर का नाम - `ॐ', `राम', `शिव' में से कोई एक लें। उसका चिन्तन करें और उसी के अर्थस्वरूप इष्ट के स्वरूप का ध्यान करें।" ध्यान सद्गुरु का ही किया जाता है। आप राम, कृष्ण अथवा `वीतराग विषयं वा चित्तम्' वीतराग महात्माओं अथवा `यताभिमतध्यानाद्वा' (पातंजल योग. १/३७, ३९) किसी का भी स्वरूप पकड़ें, वे अनुभव में आपको मिलेंगे और आपके समकालीन किसी सद्गुरु की ओर बढ़ा देंगे, जिनके मार्ग-दर्शन से आप

शनैः-शनैः प्रकृति के क्षेत्र से पार होते जायेंगे। मैं भी प्रारम्भ में एक देवता (कृष्ण के विराट रूप) के चित्र का ध्यान करता था; किन्तु पूज्य महाराज जी के अनुभवी प्रवेश के साथ वह शान्त हो गया।

प्रारम्भिक साधक नाम तो जपते हैं किन्तु महापुरुष के स्वरूप का ध्यान करने में हिचकते हैं। वे अपनी अर्जित मान्यताओं का पूर्वाग्रह छोड़ नहीं पाते। वे किसी अन्य देवता का ध्यान करते हैं, जिसका योगेश्वर श्रीकृष्ण ने निषेध किया है। अतः पूर्ण समर्पण के साथ किसी अनुभवी महापुरुष की शरण लें। पुण्य-पुरुषार्थ सबल होते ही कुतर्कों का शमन और यथार्थ क्रिया में प्रवेश मिल जायेगा। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार इस प्रकार `ॐ' के जप और परमात्मस्वरूप सद्गुरु के स्वरूप का निरन्तर स्मरण करने से मन का निरोध और विलय हो जाता है और उसी क्षण शरीर के सम्बन्ध का त्याग हो जाता है। केवल मरने से शरीर पीछा नहीं छोड़ता।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

"मेरे अतिरिक्त और कोई चित्त में है ही नहीं" - उस अन्य किसी का चिन्तन न करता हुआ अर्थात् अनन्य चित्त से स्थिर हुआ जो अनवरत मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें युक्त योगी के लिए मैं सुलभ हूँ। आपके सुलभ होने से क्या मिलेगा?

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

मुझे प्राप्त कर वे दुःखों के स्थानस्वरूप क्षणभंगुर पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते, बल्कि परमसिद्धि को प्राप्त होते हैं अर्थात् मुझे प्राप्त होना अथवा परमसिद्धि को प्राप्त होना एक ही बात है। केवल भगवान ही ऐसे हैं, जिन्हें पाकर उस पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। फिर पुनर्जन्म की सीमा कहाँ तक है?

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

अर्जुन! ब्रह्मा से लेकर कीट-पतंगादि सभी लोक पुनरावर्ती हैं, जन्म लेने और मरने तथा पुनः-पुनः इसी क्रम में चलनेवाले हैं किन्तु कौन्तेय! मुझे प्राप्त होकर उस पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता।

धर्मग्रन्थों में लोक-लोकान्तरों की परिकल्पना ईश्वर-पथ की विभूतियों का बोध कराने के आन्तरिक अनुभव या रूपक मात्र है। अन्तरिक्ष में न तो कोई ऐसा गड्ढा है, जहाँ कीड़े काटते हों और न ऐसा महल जिसे स्वर्ग कहा जाता हो। दैवी सम्पद् से युक्त पुरुष देवता और आसुरी सम्पद् से युक्त मनुष्य ही असुर हैं। श्रीकृष्ण के ही सगे-सम्बन्धी कंस राक्षस और बाणासुर दैत्य थे। देव, मानव, तिर्यक् योनियाँ ही विभिन्न लोक हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार यह जीवात्मा मनसहित पाँचों इन्द्रियों को लेकर जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के अनुरूप नया शरीर धारण कर लेता है।

अमर कहे जानेवाले देवता भी मरणधर्मा हैं - 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। इससे बड़ी क्षति क्या होगी? वह देव-तन ही किस काम का, जिसमें संचित पुण्य भी समाप्त हो जाय? देवलोक, पशुलोक, कीट-पतंगादि लोक भोगलोक मात्र हैं। केवल मनुष्य ही कर्मों का रचयिता है, जिसके द्वारा वह उस परमधाम तक को प्राप्त कर सकता है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता। यथार्थ कर्म का आचरण करके मनुष्य देवता बन जाय, ब्रह्मा की स्थिति प्राप्त कर ले, किन्तु वह पुनर्जन्म से तब तक नहीं बच सकता, जब तक कि मन के निरोध और विलय के साथ परमात्मा का साक्षात्कार करके उसी परमभाव में स्थित न हो जाय। उदाहरणार्थ उपनिषद् भी इस सत्य का उद्घाटन करते हैं-

> यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
> अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। कठोपनिषद (२/३/१४)

जब हृदय में स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अंमर हो जाता है और यहीं - इसी संसार में इसी मनुष्य-शरीर में परब्रह्म का भली-भाँति साक्षात् अनुभव कर लेता है।

प्रश्न उठता है कि क्या ब्रह्मा भी मरणधर्मा है? अध्याय तीन में तो योगेश्वर श्रीकृष्ण ने प्रजापति ब्रह्मा के प्रसंग में कहा था कि प्राप्ति के पश्चात् बुद्धि मात्र

यन्त्र है। उसके द्वारा परमात्मा ही व्यक्त होता है। ऐसे महापुरुषों के द्वारा ही यज्ञ की संरचना हुई है और यहाँ कहते हैं कि ब्रह्मा की स्थिति प्राप्त करनेवाला भी पुनरावर्ती है। योगेश्वर श्रीकृष्ण कहना क्या चाहते हैं?

वस्तुतः जिन महापुरुषों के द्वारा परमात्मा ही व्यक्त होता है, उन महापुरुषों की बुद्धि भी ब्रह्मा नहीं है, लेकिन लोगों को उपदेश देने के कारण, कल्याण का सूत्रपात् करने के कारण ब्रह्मा कहे जाते हैं। स्वयं में वे ब्रह्मा भी नहीं हैं। उनके पास अपनी बुद्धि रह ही नहीं जाती। किन्तु इसके पूर्व साधनाकाल में बुद्धि ही ब्रह्मा है - "अहंकार शिव बुद्धि अज, मन शशि चित्त महान"

साधारण मनुष्य की बुद्धि ब्रह्मा नहीं है। बुद्धि जव इष्ट में प्रवेश करने लगती है तभी से ब्रह्मा की रचना होने लगती है, जिसके चार सोपान मनीषियों ने कहे हैं। पीछे अध्याय तीन में बता आये हैं, स्मरण के लिए पुनः देख सकते हैं - ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ट। ब्रह्मवित् वह बुद्धि है, जो ब्रह्मविद्या से संयुक्त हो। ब्रह्मविद्वर वह है, जिसे ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठता प्राप्त हो। ब्रह्मविद्वरीयान् वह बुद्धि है, जिससे वह ब्रह्मविद्या में दक्ष ही नहीं वरन् उसका नियन्त्रक, संचालक वन जाता है। ब्रह्मविद्वरिष्ट बुद्धि का वह अन्तिम छोर है, जिससे इष्ट प्रवाहित है। यहाँ तक बुद्धि का अस्तित्व है, क्योंकि प्रवाहित होनेवाला इष्ट अभी कहीं अलग है और ग्रहणकर्त्ता बुद्धि अलग है। अभी वह प्रकृति की सीमा में है। अव स्वयं प्रकाशस्वरूप में जव बुद्धि (ब्रह्मा) रहती है, जागृत है तो सम्पूर्ण भूत (चिन्तन का प्रवाह) जागृत है और जव अविद्या में रहती है तो अचेत है। इसी को प्रकाश और अन्धकार, रात्रि और दिन कहकर सम्वोधित किया जाता है। देखें-

ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मविद्वेता की वह श्रेणी, जिसमें इष्ट प्रवाहित है, उसको प्राप्त सर्वोत्कृष्ट वुद्धि में भी विद्या (जो स्वयं प्रकाशस्वरूप है, उसमें मिलाती है) का दिन और अविद्या की रात्रि, प्रकाश और अन्धकार का क्रम लगा रहता है, यहाँ तक साधक में माया कामयाब होती है। प्रकाशकाल में अचेत भूत सचेत हो जाते हैं, उन्हें लक्ष्य दिखायी पड़ने लगता है तथा बुद्धि के अन्तराल में अविद्या की रात्रि के प्रवेशकाल में सभी भूत अचेत हो जाते हैं। वुद्धि निश्चय नहीं कर पाती। स्वरूप की ओर बढ़ना बन्द हो जाता है। यही ब्रह्मा का दिन और यही ब्रह्मा की रात्रि है। दिन के प्रकाश में बुद्धि की सहस्रों प्रवृत्तियों में ईश्वरीय प्रकाश छा जाता है और अविद्या की रात्रि में इन्हीं सहस्रों परतों में अचेतावस्था का अन्धकार आ जाता है।

शुभ और अशुभ, विद्या और अविद्या - इन दोनों प्रवृत्तियों के सर्वथा शान्त होने पर अर्थात् अचेत और सचेत, रात्रि में विलीन और दिन में उत्पन्न दोनों प्रकार के भूतों (संकल्प प्रवाह) के मिट जाने पर उस अव्यक्त बुद्धि से भी अति परे शाश्वत अव्यक्त भाव मिलता है, जो फिर कभी नष्ट नहीं होता। भूतों की अचेत और सचेत दोनों स्थित्तियों के मिटने पर ही वह सनातन भाव मिलता है।

बुद्धि की उपर्युक्त चार अवस्थाओं के वाद वाला पुरुष ही महापुरुष है। उसके अन्तराल में बुद्धि नहीं है, बुद्धि परमात्मा का यन्त्र-जैसी हो गई है किन्तु लोगों को वह उपदेश करता है, निश्चय से प्रेरणा देता है; अतः उसमें बुद्धि प्रतीत होती है। किन्तु वह बुद्धि के स्तर से परे है। वह परम अव्यक्त भाव में स्थित है। उसका पुनर्जन्म नहीं होना है, किन्तु इस अव्यक्त स्थिति से पूर्व जब तक उसके पास अपनी बुद्धि है, जब तक वह ब्रह्मा है, वह पुनर्जन्म की परिधि में ही है। इन्हीं तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

जो हजार चतुर्युगों की ब्रह्मा की रात्रि और हजार चतुर्युगों के उसके दिन को साक्षात् जानते हैं, वे पुरुष समय के तत्त्व को यथार्थ जानते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में दिन और रात, विद्या और अविद्या के रूपक हैं। ब्रह्मविद्या से संयुक्त बुद्धि ब्रह्मा की प्रवेशिका तथा ब्रह्मविद्वरिष्ट बुद्धि ब्रह्मा की पराकाष्ठा है। विद्या से संयुक्त बुद्धि ही ब्रह्मा का दिन है। जब विद्या कार्यरत होती है, उस समय योगी स्वरूप की ओर अग्रसर होता है, अन्तःकरण की सहस्त्रों प्रवृत्तियों में ईश्वरीय प्रकाश का संचार हो उठता है। इसी प्रकार अविद्या की रात्रि आने पर अन्तःकरण की सहस्त्रों प्रवृत्तियों में माया का द्वन्द्व प्रवाहित होता है। प्रकाश और अन्धकार की यहीं तक सीमा है। इसके पश्चात् न तो अविद्या रह जाती है और न विद्या ही। वह परमतत्त्व परमात्मा विदित हो जाता है। जो इसे तत्त्व से भली प्रकार जानते हैं, वे योगीजन काल के तत्त्व को जाननेवाले हैं कि कब अविद्या की रात होती है? कब विद्या का दिन आता है? काल का प्रभाव कहाँ तक है अथवा समय कहाँ तक पीछा करता है?

प्रारम्भिक मनीषी अन्तःकरण को चित्त अथवा कभी-कभी केवल बुद्धि कहकर सम्बोधित करते थे? कालान्तर में अन्तःकरण का विभाजन मन, बुद्धि,

चित्त और अहंकार की चार प्रमुख वृत्तियों में किया गया, वैसे अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ अनन्त हैं। बुद्धि के अन्तराल में ही अविद्या की रात्रि होती है और उसी बुद्धि में विद्या का दिन भी होता है। यही ब्रह्मा की रात्रि और दिन है। जगत्रूपी रात्रि में सभी जीव अचेत पड़े हैं। प्रकृति में विचरण करती हुई उनकी बुद्धि उस प्रकाशस्वरूप को नहीं देख पाती; किन्तु योग का आचरण करनेवाले योगी इससे जग जाते हैं, वे स्वरूप की ओर बढ़ते हैं, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा है-

कबहुँ दिवस महँ निबिड़तम, कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग।।
(रामचरित. ४/१५ ख)

विद्या से संयुक्त बुद्धि कुसंग पाकर अविद्या में परिणत हो जाती है। पुनः सुसंग से विद्या का संचार उसी बुद्धि में हो जाता है। यह उतार-चढ़ाव पूर्तिपर्यन्त लगा रहता है। पूर्ति के पश्चात् न बुद्धि है न ब्रह्मा, न रात रहती है न दिन। यही ब्रह्मा के दिन-रात के रूपक हैं। न हजारों साल की लम्बी रात होती है, न हजारों चतुर्युग का दिन ही होता-है और न कहीं कोई चार मुँहवाला ब्रह्मा ही है। बुद्धि की उपर्युक्त चार क्रमिक अवस्थाएँ ही ब्रह्मा के चार मुख और अन्तःकरण की चार प्रमुख प्रवृत्तियाँ ही उनके चतुर्युग हैं। रात और दिन इन्हीं प्रवृत्तियों में होते हैं। जो पुरुष इसके भेद को तत्त्व से जानते हैं, वे योगीजन काल के भेद को जानते हैं कि काल कहाँ तक पीछा करता है और कौन पुरुष काल से भी अतीत हो जाता है? रात्रि और दिन, अविद्या और विद्या में होनेवाले कार्य को योगेश्वर श्रीकृष्ण स्पष्ट करते हैं-

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।१८।।

ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अर्थात् विद्या (दैवी सम्पद्) के प्रवेश काल में सम्पूर्ण प्राणी अव्यक्त बुद्धि में जागृत हो जाते हैं और रात्रि के प्रवेशकाल में उसी अव्यक्त, अदृश्य बुद्धि में जागृति के सूक्ष्म तत्त्व अचेत हो जाते हैं। वे प्राणी अविद्या की रात्रि में स्वरूप को स्पष्ट देख नहीं पाते किन्तु उनका अस्तित्व रहता

है। जागृत होने और अचेत होने का माध्यम यह बुद्धि है, जो सबमें अव्यक्त रहती है, दृष्टिगोचर नहीं है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

हे पार्थ! सब प्राणी इस प्रकार जागृत होकर प्रकृति से विवश होकर अविद्यारूपी रात्रि के आने पर अचेत हो जाते हैं। वे नहीं देख पाते कि हमारा लक्ष्य क्या है? दिन के प्रवेश काल में वे पुनः जागृत हो जाते हैं। जब तक बुद्धि है, तब तक इसके अन्तराल में विद्या और अविद्या का क्रम चलता रहता है। तब तक वह साधक ही है, महापुरुष नहीं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

एक तो ब्रह्मा अर्थात् बुद्धि अव्यक्त है, इन्द्रियों से दिखायी नहीं पड़ती और इससे भी परे सनातन अव्यक्त भाव है, जो भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता अर्थात् विद्या में सचेत और अविद्या में अंचेत, दिन में उत्पन्न और रात्रि में विलीन भावोंवाले अव्यक्त ब्रह्मा के भी मिट जाने पर वह सनातन अव्यक्त भाव मिलता है, जो नष्ट नहीं होता। बुद्धि में होनेवाले उक्त दोनों उतार-चढ़ाव जब मिटं जाते हैं तब सनातन अव्यक्त भाव मिलता है, जो मेरा परमधाम है। जब सनातन अव्यक्त भाव प्राप्त हो गया तो बुद्धि भी उसी भाव में रंग जाती है, उसी भाव को धारण कर लेती है। इसलिए वह बुद्धि स्वयं तो मिट जाती है और उसके स्थान पर सनातन अव्यक्त भाव ही शेष बचता है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

उस सनातन अव्यक्त भाव को अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा जाता है। उसी को परमगति कहते हैं। वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते - उनका पुनर्जन्म नहीं होता। इस सनातन अव्यक्त भाव की प्राप्ति का विधान बताते हैं-

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

पार्थ! जिस परमात्मा के अन्तर्गत सम्पूर्ण भूत हैं, जिससे सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, सनातन अव्यक्त भाववाला वह परमपुरुष अनन्य भक्ति से प्राप्त होने योग्य है। अनन्य भक्ति का तात्पर्य है कि परमात्मा के सिवाय अन्य किसी का स्मरण न करते हुए उनसे जुड़ जाय। अनन्य भाव से लगनेवाले पुरुष भी कब तक पुनर्जन्म की सीमा में हैं और कब वे पुनर्जन्म का अतिक्रमण कर जाते हैं? इस पर योगेश्वर कहते हैं-

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

हे अर्जुन! जिस काल में शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन पुनर्जन्म को नहीं पाते और जिस काल में शरीर त्यागने पर पुनर्जन्म पाते हैं, मैं अब उस काल का वर्णन करता हूँ।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

शरीर-सम्बन्ध का त्याग करते समय जिनके समक्ष ज्योतिर्मय अग्नि जल रही हो, दिन का प्रकाश फैला हो, सूर्य चमक रहा हो, शुक्ल पक्ष का चन्द्र बढ़ रहा हो, उत्तरायण का निरभ्र और सुन्दर आकाश हो, उस काल में प्रयाण करनेवाले ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

अग्नि ब्रह्मतेज का प्रतीक है। दिन विद्या का प्रकाश है। शुक्ल पक्ष निर्मलता का द्योतक है। विवेक, वैराग्य, शम, दम, तेज और प्रज्ञा ये षडैश्वर्य ही षण्मास हैं। ऊर्ध्वरेता स्थिति ही उत्तरायण है। प्रकृति से सर्वथा परे इस अवस्था में जानेवाले ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता; किन्तु अनन्य चित्त से लगे हुए योगीजन यदि इस आलोक को प्राप्त नहीं कर पाये, जिनकी साधना अभी पूर्ण नहीं है, उनका क्या होता है? इस पर कहते हैं-

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।२५।।

जिसके प्रयाणकाल में धुआँ फैल रहा हो, योगाग्नि हो (अग्नि यज्ञ-प्रक्रिया में पाये जानेवाले अग्नि का स्वरूप है।) किन्तु धुएँ से आच्छादित हो, अविद्या की रात्रि हो, अँधेरा हो, कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा क्षीण हो रहा हो, कालिमा का वाहुल्य हो, षड्विकारों (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर) से युक्त दक्षिणायन अर्थात् बहिर्मुखी हो (जो परमात्मा के प्रवेश से अभी बाहर है) उस योगी को पुनः जन्म लेना पड़ता है; तो क्या शरीर के साथ उस योगी की साधना नष्ट हो जाती है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

शुक्ल कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।।२६।।

उपर्युक्त शुक्ल और कृष्ण दोनों प्रकार की गतियाँ जगत् में शाश्वत हैं अर्थात् साधन का कभी विनाश नहीं होता। एक (शुक्ल) अवस्था में प्रयाण करनेवाला पीछे न आनेवाली परमगति को प्राप्त होता है और दूसरी अवस्था में, जिसमें क्षीण प्रकाश तथा अभी कालिमा है, ऐसी अवस्था को गया हुआ पीछे लौटता है, जन्म लेता है। जब तक पूर्ण प्रकाश नहीं मिलता, तब तक उसे भजन करना है। प्रश्न पूर्ण हुआ। अब इसके लिए साधन पर पुनः बल देते हैं-

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

हे पार्थ! इस प्रकार इन मार्गों को जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता। वह जानता है कि पूर्ण प्रकाश पा लेने पर ब्रह्म को प्राप्त होगा और क्षीण प्रकाश रहने पर भी पुनर्जन्म में साधन का नाश नहीं होता। दोनों गतियाँ शाश्वत हैं। अतः अर्जुन! तू सब काल में योग से युक्त हो अर्थात् निरन्तर साधन कर।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

इसको साक्षात्कार सहित जानकर (मानकर नहीं) योगी वेद, यज्ञ, तप और दान के पुण्यफलों का निःसन्देह अतिक्रमण कर जाता है और सनातन परमपद को प्राप्त होता है। अविदित परमात्मा की साक्षात् जानकारी का नाम वेद है। वह अविदित तत्त्व जब विदित हो ही गया, तो अब कौन किसे जाने? अतः विदित होने के पश्चात् वेदों से भी प्रयोजन समाप्त हो जाता है; क्योंकि जाननेवाला भिन्न नहीं है। यज्ञ अर्थात् आराधना की नियत क्रिया आवश्यक थी, किन्तु जब यह तत्त्व विदित हो गया तो किसके लिए भजन करें? मनसहित इन्द्रियों को लक्ष्य के अनुरूप तपाना तप है। लक्ष्य प्राप्त होने पर किसके लिए तप करें? मन, वचन और कर्म से सर्वतोभावेन समर्पण का नाम दान है। इन सब का पुण्यफल है - परमात्मा की प्राप्ति। फल भी अब विलग नहीं है अतः इन सबकी अब आवश्यकता न रही। वह योगी यज्ञ, तप, दान इत्यादि के फल को भी पार कर जाता है। वह परमपद को प्राप्त होता है।

निष्कर्ष :

इस अध्याय में पाँच प्रमुख बिन्दुओं पर विचार किया गया, जिनमें सर्वप्रथम अध्याय सात के अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा बीजारोपित प्रश्नों को स्पष्ट समझाने की जिज्ञासा से इस अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने सात प्रश्न किये कि - भगवन्! जिसे आपने कहा, वह ब्रह्म क्या है? वह अध्यात्म क्या है? वह सम्पूर्ण कर्म क्या है? अधिदैव-अधिभूत और अधियज्ञ क्या है और अन्त काल में आप किस प्रकार जानने में आते हैं कि कभी विस्मृत नहीं होते? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि जिसका विनाश नहीं होता, वही परब्रह्म है। स्वयं की उपलब्धि वाला परमभाव ही अध्यात्म है। जिससे जीव माया के आधिपत्य से निकलकर आत्मा के आधिपत्य में हो जाता है, वही अध्यात्म है और भूतों के वे भाव जो शुभ अथवा अशुभ संस्कारों को उत्पन्न करते हैं, उन भावों का रुक जाना 'विसर्गः'-मिट जाना ही कर्म की सम्पूर्णता है। इसके आगे कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो संस्कारों के उद्गम को ही मिटा देता है।

इसी प्रकार क्षरभाव अधिभूत हैं अर्थात् नष्ट होनेवाले ही भूतों को उत्पन्न करने में माध्यम हैं। वे ही भूतों के अधिष्ठाता हैं। परमपुरुष ही अधिदैव है।

उसमें दैवी सम्पद् विलीन होती है। इस शरीर में अधियज्ञ मैं ही हूँ अर्थात् जिसमें यज्ञ विलय होते हैं, वह मैं हूँ, यज्ञ का अधिष्ठाता हूँ। वह मेरे स्वरूप को ही प्राप्त होता है अर्थात् श्रीकृष्ण एक योगी थे। अधियज्ञ कोई ऐसा पुरुष है जो इस शरीर में रहता है, बाहर नहीं। अन्तिम प्रश्न था कि अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं। उन्होंने बताया कि जो मेरा निरन्तर स्मरण करते हैं, मेरे सिवाय किसी दूसरे विषय-वस्तु का चिन्तन नहीं आने देते और ऐसा करते हुए शरीर का सम्बन्ध त्याग देते हैं, वे मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होते हैं, जिसे अन्त में भी वही प्राप्त रहता है। शरीर की मृत्यु के साथ यह उपलब्धि होती हो ऐसी बात नहीं है। मरने पर ही मिलता तो श्रीकृष्ण पूर्ण न होते, अनेक जन्मों में चलकर पानेवाला ज्ञानी उनका स्वरूप न होता। मन का सर्वथा निरोध और निरुद्ध मन का भी विलय ही अन्तकाल है, जहाँ फिर शरीरों की उत्पत्ति का माध्यम शान्त हो जाता है। उस समय वह परमभाव में प्रवेश पा जाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

इस प्राप्ति के लिए उन्होंने स्मरण का विधान बताया कि अर्जुन! निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। दोनों एक साथ कैसे होगा? कदाचित् ऐसा हो कि `जय गोपाल, हे कृष्ण' कहते रहें, लाठी भी चलाते रहें। स्मरण का स्वरूप स्पष्ट किया कि योग-धारणा में स्थिर रहते हुए, मेरे सिवाय अन्य किसी भी वस्तु का स्मरण न करते हुए निरन्तर स्मरण कर। जब स्मरण इतना सूक्ष्म है, तो युद्ध कौन करेगा? मान लीजिए, यह पुस्तक भगवान है, तो इसके अगल-बगल की वस्तु, सामने बैठे हुए लोग या अन्य देखी-सुनी कोई वस्तु संकल्प में भी न आये, दिखाई न पड़े, यदि दिखाई पड़ती है तो स्मरण नहीं है, ऐसा स्मरण में युद्ध कैसा? वस्तुतः जब आप इस प्रकार निरन्तर स्मरण में प्रवृत्त होंगे, तो उसी क्षण युद्ध का सही स्वरूप खड़ा होता है। उस समय मायिक प्रवृत्ति बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही है। काम, क्रोध, राग-द्वेष दुर्जय शत्रु हैं। ये शत्रु स्मरण करने नहीं देंगे। उनसे पार पाना तो युद्ध है। इन शत्रुओं के मिट जाने पर ही व्यक्ति परमगति को प्राप्त होता है।

इस परमगति को पाने के लिए अर्जुन! तू जप तो `ओम्' का और ध्यान मेरा कर अर्थात् श्रीकृष्ण एक योगी थे। नाम और रूप आराधना की कुंजी है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस प्रश्न को भी लिया कि पुनर्जन्म क्या है? उसमें कौन-कौन आते हैं? उन्होंने बताया कि ब्रह्मा से लेकर यावन्मात्र जगत् पुनरावर्ती है और इन सबके समाप्त होने पर भी मेरा परम अव्यक्त भाव तथा उसमें स्थिति समाप्त नहीं होती।

इस योग में प्रविष्ट पुरुष की दो गतियाँ हैं। जो पूर्ण प्रकाश को प्राप्त षडैश्वर्य सम्पन्न ऊर्ध्वरेता है, जिसमें लेशमात्र भी कमी नहीं है, वह परमगति को प्राप्त होता है।यदि उस योगकर्त्ता में लेशमात्र भी कमी है, कृष्ण पक्ष-सी कालिमा का संचार है, ऐसी अवस्था में ही शरीर का समय समाप्त होनेवाले योगी को जन्म लेना पड़ता है। वह सामान्य जीव की तरह जन्म-मरण के चक्कर में नहीं फँसता बल्कि जन्म लेकर उससे आगे की शेष साधना को पूरा करता है।

इस प्रकार आगे के जन्म में उसी क्रिया से चलकर वह भी वहीं पहुँच जाता है जिसका नाम परमधाम है। पहले भी श्रीकृष्ण कह आये हैं कि इसका थोड़ा भी साधन जन्म-मरण के महान् भय से उद्धार कराके ही छोड़ता है। `दोनों रास्ते शाश्वत हैं, अमिट हैं' - इस बात को समझकर कोई भी पुरुष योग से चलायमान नहीं होता। अर्जुन! तू योगी बन। योगी वेद, तप, यज्ञ और दान के भी पुण्यफल का उल्लंघन कर जाता है, परमगति को प्राप्त होता है।

इस अध्याय में स्थान-स्थान पर परमगति का चित्रण किया गया है। जिसे अव्यक्त, अक्षय और अक्षर कहकर सम्बोधित किया गया, जिसका कभी क्षय अथवा विनाश नहीं होता। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे `अक्षर ब्रह्मयोगो' नाम अष्टमोऽध्यायः।।८।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण-अर्जुन के सम्वाद में `अक्षर ब्रह्मयोग' नामक आठवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः `यथार्थ गीता' भाष्ये `अक्षर ब्रह्मयोगो' नाम अष्टमोऽध्यायः।।८।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ नवमोऽध्यायः

अध्याय छः तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योग का क्रमबद्ध विश्लेषण किया। जिसका शुद्ध अर्थ था, यज्ञ की प्रक्रिया। यज्ञ उस परम में प्रवेश दिला देनेवाली आराधना की विधि-विशेष का चित्रण है, जिसमें चराचर जगत् हवन-सामग्री के रूप में है। मन के निरोध और निरुद्ध मन के भी विलयकाल में वह अमृत तत्त्व विदित हो जाता है। पूर्तिकाल में यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उसको पान करनेवाला ज्ञानी है और वह सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। उस मिलन का नाम ही योग है। उस यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म कहलाता है। सातवें अध्याय में उन्होंने बताया कि इस कर्म को करनेवाले व्याप्त ब्रह्म, सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण अध्यात्म, सम्पूर्ण अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञ सहित मुझको जानते हैं। आठवें अध्याय में उन्होंने कहा कि यही परमगति है, यही परमधाम है।

प्रस्तुत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्वयं चर्चा की कि योगयुक्त पुरुष का ऐश्वर्य कैसा है? सब में व्याप्त रहने पर भी वह कैसे निर्लेप है? करते हुए भी वह कैसे अकर्त्ता है? उस पुरुष के स्वभाव एवं प्रभाव पर प्रकाश डाला, योग को आचरण में ढालने पर आनेवाले देवतादिक विघ्नों से सतर्क किया और उस पुरुष के शरण होने पर बल दिया।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! असूया (डाह, ईर्ष्या) रहित तेरे लिये मैं इस परम गोपनीय ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा अर्थात् प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष की रहनी के साथ कहूँगा कि कैसे वह महापुरुष सर्वत्र एक साथ कर्म करता है, कैसे वह जागृति प्रदान करता है, रथी बनकर आत्मा के साथ कैसे

सदैव रहता है? 'यत् ज्ञात्वा' - जिसे साक्षात् जानकर तू दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जायेगा। वह ज्ञान कैसा है? इस पर कहते हैं-

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।

विज्ञान से संयुक्त यह ज्ञान सभी विद्याओं का राजा है। विद्या का अर्थ भाषा-ज्ञान अथवा शिक्षा नहीं है। **'विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदाया', 'सा विद्या या विमुक्तये'** विद्या उसे कहते हैं कि जिसके पास आये, उसे उठाकर ब्रह्म-पथ पर चलाते हुए मोक्ष प्रदान कर दे। यदि रास्ते में ऋद्धियों-सिद्धियों अथवा प्रकृति में कहीं उलझ गया तो सिद्ध है कि अविद्या सफल हो गयी। वह विद्या नहीं है। यह राजविद्या ऐसी है, जो निश्चित कल्याण करनेवाली है। यह सभी गोपनीयों का राजा है। अविद्या और विद्या के अवगुण्ठन का अनावरण होने पर योगयुक्तता के पश्चात् ही इससे मिलन होता है। यह अति पवित्र, उत्तम और प्रत्यक्ष फलवाला है। 'इधर करो, उधर लो'- ऐसा प्रत्यक्ष फलवाला है। यह अन्ध-विश्वास नहीं है कि इस जन्म में साधन करो, फल कभी दूसरे जन्म में मिलेगा। यह परमधर्म परमात्मा से संयुक्त है। विज्ञानसहित यह ज्ञान करने में सरल और अविनाशी है।

अध्याय दो में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था कि अर्जुन! इस योग में बीज का नाश नहीं होता। इसका थोड़ा भी साधन जन्म-मरण के महान भय से उद्धार कर देता है। छठें अध्याय में अर्जुन ने पूछा था कि - भगवन्! शिथिल प्रयत्नवाला साधक नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाता? श्रीकृष्ण ने बताया कि अर्जुन! पहले तो कर्म समझना आवश्यक है और समझने के बाद थोड़ा भी साधन पार लग गया तो उसका किसी जन्म में कभी विनाश नहीं होता; बल्कि उस थोड़े से अभ्यास के प्रभाव से हर जन्म में वही करता है। अनेक जन्मों के परिणाम में वहीं पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति अर्थात् परमात्मा है। उसी को योगेश्वर श्रीकृष्ण यहाँ भी कहते हैं कि यह साधन करने में बड़ा सुगम और अविनाशी है परन्तु इसके लिए श्रद्धा नितान्त आवश्यक है-

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

परंतप अर्जुन! इस धर्म में (जिसका थोड़ा भी साधन करने पर विनाश नहीं होता) श्रद्धारहित पुरुष (एक इष्ट में मन को केन्द्रित न रखनेवाला पुरुष) मुझे प्राप्त न होकर संसार-क्षेत्र में भ्रमण करता ही रहता है। अतः श्रद्धा अनिवार्य है। क्या आप संसार से परे हैं? इस पर कहते हैं-

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

मुझ अव्यक्त स्वरूप से यह सब जगत् व्याप्त है अर्थात् मैं जिस स्वरूप में स्थित हूँ, वह सर्वत्र व्याप्त है। सभी प्राणी मुझमें स्थान पाये हैं किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ; क्योंकि मैं अव्यक्त स्वरूप में स्थित हूँ। महापुरुष जिस अव्यक्त स्वरूप में स्थित है, वहीं से (शरीर छोड़कर उसी अव्यक्त स्तर से ही) बात करते हैं। इसी क्रम में आगे कहते हैं-

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

वस्तुतः सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं क्योंकि वे मरणधर्मा हैं, प्रकृति के आश्रित हैं; किन्तु मेरे योगमाया के ऐश्वर्य को देख कि जीवधारियों को उत्पन्न और पोषण करनेवाला मेरा आत्मा भूतों में स्थित नहीं है। मैं आत्मस्वरूप हूँ इसलिये मैं उन भूतों में स्थित नहीं हूँ। यही योग का प्रभाव है। इसको स्पष्ट करने के लिये योगेश्वर श्रीकृष्ण दृष्टान्त देते हैं-

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

जैसे आकाश से ही उत्पन्न होनेवाला महान वायु आकाश में सदैव स्थित है किन्तु उसे मलिन नहीं कर पाता - ठीक वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान। ठीक इसी प्रकार मैं आकाशवत् निर्लेप हूँ। वे मुझे मलिन नहीं कर पाते। प्रश्न पूरा हुआ, यही योग का प्रभाव है। अब योगी क्या करता है? इस पर कहते हैं-

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

अर्जुन! कल्प के विलयकाल में सब मेरी प्रकृति अर्थात् मेरे स्वभाव को प्राप्त होते हैं और कल्प के आदि में मैं उनको बार-बार `विसृजामि' - विशेष रूप से सृजन करता हूँ। थे तो वे पहले से किन्तु विकृत थे, उन्हीं को रचता हूँ, सजाता हूँ। जो अचेत हैं उन्हें जागृत करता हूँ। कल्प के लिये प्रेरित करता हूँ। कल्प का तात्पर्य है उत्थानोन्मुख परिवर्तन। आसुरी सम्पद् से निकलकर जैसे-जैसे पुरुष दैवी सम्पद् में प्रवेश पाता है, यहीं से कल्प का आरम्भ है और जब ईश्वर भाव को प्राप्त हो जाता है, वहीं कल्प का क्षय है। अपना कर्म पूरा करके कल्प भी विलय हो जाता है। भजन का आरम्भ कल्प का आदि है और भजन की पराकाष्ठा, जहाँ लक्ष्य विदित होता है, कल्प का अन्त है। जब यह प्रत्यगात्मा योनियों के कारणभूत राग-द्वेषादि से मुक्ति पाकर अपने शाश्वत स्वरूप में स्थिर हो जाय, इसी को श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह मेरी प्रकृति को प्राप्त होता है।

जो महापुरुष प्रकृति का विलय करके स्वरूप में प्रवेश पा गया उसकी प्रकृति कैसी? क्या उसमें प्रकृति शेष ही है? नहीं, अध्याय ३/३३ में योगेश्वर श्रीकृष्ण कह चुके हैं कि सभी प्राणी अपनी प्रकृति को प्राप्त होते हैं। जैसा उनके ऊपर प्रकृति के गुणों का दबाव है, वैसा करते हैं और `ज्ञानवानपि' - प्रत्यक्षदर्शन के साथ जानकारी वाला ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के सदृश चेष्टा करता है। वह पीछे वालों के कल्याण के लिये करता है। पूर्ण ज्ञानी तत्त्वस्थित महापुरुष की रहनी ही उसकी प्रकृति है। वह अपने इसी स्वभाव में बरतता है। कल्प के क्षय में लोग महापुरुष की इसी रहनी को प्राप्त होते हैं। महापुरुष के इसी कृतित्व पर पुनः प्रकाश डालते हैं-

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

अपनी प्रकृति अर्थात् महापुरुष की रहनी स्वीकार करके `प्रकृतेर्वशात्' अपने-अपने स्वभाव में स्थित प्रकृति के गुणों से परवश हुए इस सम्पूर्ण भूत समुदाय को मैं बारम्बार `विसृजामि' - विशेष सृजन, विशेष रूप से सजाता हूँ। इन्हें अपने स्वरूप की ओर बढ़ने के लिये प्रेरित करता हूँ। तब तो आप इस कर्म से बँधे हैं?

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

अध्याय ४/९ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था कि महापुरुष की कार्य-प्रणाली अलौकिक है। अध्याय ९/४ में बताया - मैं अव्यक्त रूप से करता हूँ। यहाँ भी वही कहते हैं कि, धनंजय! जिन कर्मों को मैं अदृश्य रूप से करता हूँ, उनमें मेरी आसक्ति नहीं है। उदासीन के सदृश स्थित रहनेवाले मुझ परमात्म स्वरूप को वे कर्म नहीं बाँधते; क्योंकि कर्म के परिणाम में जो लक्ष्य मिलता है, उसमें मैं स्थित हूँ। इसलिये उन्हें करने के लिये मैं विवश नहीं हूँ।

यह तो स्वभाव के साथ जुड़ी प्रकृति के कार्यों का प्रश्न था, महापुरुष की रहनी थी, उनकी रचना थी। अब मेरे अध्यास से जो माया रचती है, वह क्या है? वह भी एक कल्प है-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।।१०।।

अर्जुन! मेरी अध्यक्षता में अर्थात् मेरी उपस्थिति में सर्वत्र व्याप्त मेरे अध्यास से यह माया (त्रिगुणमयी प्रकृति, अष्टधा मूल प्रकृति और चेतन दोनों) चराचर सहित जगत् को रचती है, जो क्षुद्र कल्प है और इसी कारण से यह संसार आवागमन के चक्र में घूमता रहता है। प्रकृति का यह क्षुद्र कल्प जिसमें काल का परिवर्तन है, मेरे अध्यास से प्रकृति ही करती है, मैं नहीं करता; किन्तु सातवें श्लोक का कल्प आराधना का संचार एवं पूर्तिपर्यन्त मार्ग-दर्शनवाला कल्प महापुरुष स्वयं करते हैं। एक स्थान पर वे स्वयं कर्त्ता हैं, जहाँ वे विशेष रूप से सृजन करते हैं। यहाँ कर्त्ता प्रकृति है, जो केवल मेरे आभास से यह क्षणिक परिवर्तन करती है जिसमें शरीरों का परिंवर्तन, काल-परिवर्तन, युग-परिवर्तन इत्यादि आते हैं। ऐसा व्याप्त प्रभाव होने पर भी मूढ़ लोग मुझे नहीं जानते। यथा-

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वररूप मेरे परमभाव को न जाननेवाले मूढ़ लोग मुझे मनुष्य शरीर के आधारवाला और तुच्छ समझते हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के ईश्वरों का भी जो महान् ईश्वर है, उस परमभाव में मैं स्थित हूँ; किन्तु हूँ मनुष्य-शरीरधारी, मूढ़ लोग इसे नहीं जानते। वे मुझे मनुष्य कहकर सम्बोधित करते हैं। उनका दोष भी क्या है? जब वे दृष्टिपात् करते हैं तो महापुरुष का शरीर ही तो दिखायी पड़ता है। कैसे वे समझें कि आप महान् ईश्वर-भाव में स्थित हैं? वे क्यों नहीं देख पाते? इस पर कहते हैं-

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

वे वृथा आशा (जो कभी पूर्ण न हो ऐसी आशा), वृथा कर्म (बन्धनकारी कर्म), वृथा ज्ञान (जो वस्तुतः अज्ञान है), 'विचेतसः' - विशेष रूप से अचेत हुए, राक्षसों और असुरों के-से मोहित होनेवाले स्वभाव को धारण किये होते हैं अर्थात् आसुरी स्वभाववाले होते हैं इसलिए मनुष्य समझते हैं। असुर और राक्षस मन का एक स्वभाव है, न कि कोई जाति या योनि। आसुरी स्वभाववाले मुझे नहीं जान पाते किन्तु महात्माजन मुझे जानते और भजते हैं-

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

हे पार्थ! परन्तु दैवी प्रकृति अर्थात् दैवी सम्पद् के आश्रित हुए महात्माजन मुझे सब भूतों का आदिकारण, अव्यक्त और अक्षर जानकर अनन्य मन से अर्थात् मन के अन्तराल में किसी अन्य को स्थान न देकर केवल मुझमें श्रद्धा रखकर निरन्तर मुझे भजते हैं। किस प्रकार भजते हैं? इस पर कहते हैं-

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

वे निरन्तर चिन्तन के व्रत में अचल रहते हुए मेरे गुणों का चिन्तंन करते हैं, प्राप्ति के यत्न करते हैं और मुझे बारम्बार नमस्कार करते हुए सदैव मुझ से संयुक्त होकर अनन्य भक्ति से मुझे उपासते हैं। अविरल लगे रहते हैं। कौन-सी

उपासना करते हैं? कैसा है यह कीर्तिमान? कोई दूसरी उपासना नहीं वरन् वही 'यज्ञ' जिसे विस्तार से बता आये हैं। उसी आराधना को यहाँ संक्षेप में योगेश्वर श्रीकृष्ण दुहरा रहे हैं-

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

उनमें से कोई तो मुझ सर्वव्याप्त विराट् परमात्मा को ज्ञान-यज्ञ द्वारा यजन करते हैं अर्थात् अपनी लाभ-हानि और शक्ति को समझकर इसी नियत कर्म यज्ञ में प्रवृत्त होते हैं। कुछ एकत्व भाव से मेरी उपासना करते हैं कि मुझे इसी में एक होना है और दूसरे सब कुछ मुझे अलग रखकर, मुझे समर्पण करके निष्काम सेवा-भाव से मुझे उपासते हैं तथा बहुत प्रकार से उपासते हैं; क्योंकि एक ही यज्ञ के ये सभी उँचे-नीचे स्तर हैं। यज्ञ का आरम्भ सेवा से ही होता है; किन्तु उसका अनुष्ठान होता कैसे है? योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं - यज्ञ मैं करता हूँ। यदि महापुरुष रथी न हो, तो यज्ञ पार नहीं लगेगा। उन्हीं के निर्देशन में साधक समझ पाता है कि अब वह किस स्तर पर है, कहाँ तक पहुँच सका है? वस्तुतः यज्ञकर्त्ता कौन है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।

कर्त्ता मैं हूँ। वस्तुतः कर्त्ता के पीछे प्रेरक के रूप में सदैव संचालित करनेवाला इष्ट ही है। कर्त्ता द्वारा जो पार लगता है, मेरी देन है। यज्ञ मैं हूँ। यज्ञ आराधना की विधि-विशेष है। पूर्तिकाल में यज्ञ जिसका सृजन करता है, उस अमृत को पान करनेवाला पुरुष सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। स्वधा मैं हूँ अर्थात् अतीत के अनन्त संस्कारों का विलय करना, उन्हें तृप्त कर देना मेरी देन है। भवरोग को मिटानेवाली औषधि मैं हूँ। मुझे पाकर लोग इस रोग से निवृत्त हो जाते हैं। मन्त्र मैं हूँ। मन को श्वास के अन्तराल में निरोध करना मेरी देन है। इस निरोध-क्रिया में तीव्रता लानेवाली वस्तु 'आज्य' (हवि) भी मैं हूँ। मेरे ही प्रकाश में मन की सभी प्रवृत्तियाँ विलय होती हैं तथा हवन अर्थात् समर्पण भी मैं ही हूँ।

यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण बार-बार 'मैं हूँ' कह रहे हैं। इसका आशय मात्र इतना है कि मैं ही प्रेरक के रूप में आत्मा से अभिन्न होकर खड़ा हो जाता हूँ तथा निरन्तर निर्णय देते हुए योग-क्रिया को पूर्ण कराता हूँ। इसी का नाम विज्ञान है। पूज्य महाराज जी कहा करते थे कि - "जब तक इष्टदेव रथी होकर श्वास-प्रश्वास पर रोकथाम न करने लगें, तब तक भजन आरम्भ ही नहीं होता।" कोई लाख आँख मूंदे, भजन करे, शरीर को तपा डाले लेकिन जब तक जिस परमात्मा की हमें चाह है वह जिस सतह पर हम खड़े हैं, उस स्तर पर उतर कर आत्मा से अभिन्न होकर जागृत नहीं हो जाता, तब तक सही मात्रा में भजन का स्वरूप समझ में नहीं आता। इसीलिये महाराज जी कहते थे - "मेरे स्वरूप को पकड़ो, मैं सब दूँगा।" श्रीकृष्ण कहते हैं - सब मुझसे होता है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।।१७।।

अर्जुन! मैं ही सम्पूर्ण जगत् का 'धाता' अर्थात् धारण करनेवाला, 'पिता' अर्थात् पालन करनेवाला, 'माता' अर्थात् उत्पन्न करनेवाला, 'पितामहः' अर्थात् मूल उद्गम हूँ, जिसमें सभी प्रवेश पाते हैं और जानने योग्य पवित्र ओंकार अर्थात् 'अहम् आकारः इति ओंकारः' वह परमात्मा मेरे स्वरूप में है, 'सोऽहं, तत्त्वमसि' इत्यादि एक दूसरे के पर्याय हैं, ऐसा जानने योग्य स्वरूप मैं ही हूँ। 'ऋक्' अर्थात् सम्पूर्ण प्रार्थना, 'साम' अर्थात् समत्व दिलानेवाली प्रक्रिया, 'यजुः' अर्थात् यजन की विधि विशेष भी मैं ही हूँ। योग अनुष्ठान के उक्त तीनों आवश्यक अंग मुझसे होते हैं-

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।

हे अर्जुन! 'गतिः' अर्थात् प्राप्त होने योग्य परमगति, 'भर्ता' - भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, 'साक्षी' अर्थात् द्रष्टा रूप में स्थित सबको जाननेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेने योग्य, अकारण प्रेमी मित्र, उत्पत्ति और प्रलय अर्थात् शुभाशुभ संस्कारों का विलय तथा अविनाशी कारण मैं ही हूँ। अर्थात् अन्त में जिनमें प्रवेश मिलता है, वे सारी विभूतियाँ मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

मैं सूर्य रूप से तपता हूँ, वर्षा को आकर्षित करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। मृत्यु से परे अमृततत्त्व तथा मृत्यु, सत् और असत् सब कुछ मैं ही हूँ। अर्थात् जो परम प्रकाश प्रदान करता है, वह सूर्य मैं ही हूँ। कभी-कभी भजनेवाले मुझे असत् भी मान बैठते हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कहते हैं-

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

आराधना विद्या के तीनों अंग - ऋक्, साम और यजु अर्थात् प्रार्थना, समत्व की प्रक्रिया और यजन का आचरण करनेवाले, सोम अर्थात् चन्द्रमा के क्षीण प्रकाश को पानेवाले पाप से मुक्त होकर पवित्र हुए पुरुष उसी यज्ञ की निर्धारित प्रक्रिया द्वारा मुझे इष्टरूप में पूजकर स्वर्ग के लिये प्रार्थना करते हैं। यही असत् की कामना है, इससे वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उनका पुनर्जन्म होता है, जैसा पिछले श्लोक में योगेश्वर ने बताया। वे पूजते मुझे ही हैं, उसी निर्धारित विधि से पूजते हैं; किन्तु बदले में स्वर्ग की याचना करते हैं। वे पुरुष अपने पुण्य के फलस्वरूप इन्द्रलोक को प्राप्त होकर स्वर्ग में देवताओं के दिव्य भोग भोगते हैं; अर्थात् यह भोग भी मैं ही देता हूँ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

वे उस विशाल स्वर्ग को भोगकर पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक अर्थात् जन्म-मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार 'त्रयीधर्मम्' - प्रार्थना, समत्व एवं यजन की तीनों विधियों से एक ही यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाले मेरे शरण हुए भी

कामनावाले पुरुष बारम्बार जाने-आने को अर्थात् पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। किन्तु उनका मूल नाश कभी नहीं होता क्योंकि इस पथ में बीज का नाश नहीं है किन्तु जो किसी प्रकार की कामना नहीं करते, उन्हें क्या मिलता है?

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

अनन्य भाव से मुझमें स्थित भक्तजन मुझ परमात्म स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करते हैं, `पर्युपासते' - लेशमात्र भी त्रुटि न रखकर मुझे उपासते हैं, उन नित्य एकीभाव से संयुक्त हुए पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ अर्थात् उनके योग की सुरक्षा की सारी जिम्मेदारी मैं अपने हाथ में लेता हूँ। इतना होने पर भी लोग अन्य देवताओं को भजते हैं-

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

कौन्तेय! श्रद्धा से युक्त हुए जो भक्त दूसरे-दूसरे देवताओं को पूजते हैं, वे भी मुझे ही पूजते हैं; क्योंकि वहाँ देवता नाम की कोई वस्तु तो होती नहीं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक है, मेरी प्राप्ति की विधि से रहित है।

यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दूसरी बार देवताओं के प्रकरण को लिया है। सर्वप्रथम अध्याय सात के बीसवें से तेईसवें श्लोक तक उन्होंने कहा कि, अर्जुन! कामनाओं द्वारा जिनके ज्ञान का अपहरण कर लिया गया है, ऐसे मूढ़वुद्धि पुरुष अन्य देवताओं की पूजा करते हैं और जहाँ पूजा करते हैं, वहाँ देवता नाम की सक्षम सत्ता तो है ही नहीं। परन्तु पीपल-पत्थर-भूत-भवानी अथवा अन्यत्र जहाँ उनकी श्रद्धा झुक जाती है, वहाँ कोई देवता नहीं है। मैं ही सर्वत्र हूँ, उस स्थान पर मैं ही खड़ा होकर उनकी देवश्रद्धा को उन स्थानों पर स्थिर करता हूँ। मैं ही फल का विधान करता हूँ, फल देता हूँ। फल निश्चित मिलता है; किन्तु उनका फल नाशवान है। आज है, तो कल भोगने में आ जायेगा, नष्ट हो जायेगा, जवकि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। अतः वे मूढ़बुद्धि जिनके ज्ञान का अपहरण हो गया है, वही अन्य देवता की पूजा करते हैं।

प्रस्तुत अध्याय नौ के तेईस से पचीसवें श्लोक तक योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः दुहराते हैं कि अर्जुन! जो श्रद्धा से अन्य-अन्य देवताओं को पूजते हैं, वे मुझे ही पूजते हैं; किन्तु अविधिपूर्वक है। वहाँ देवता नाम की सक्षम वस्तु नहीं है, उनकी प्राप्ति की विधि गलत है। अब प्रश्न उठता है कि जब वे भी प्रकारान्तर से आपको ही पूजते हैं और फल भी मिलता ही है, तो दोष क्या है?

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

सम्पूर्ण यज्ञों का भोक्ता अर्थात् यज्ञ जिसमें विलय होते हैं, यज्ञ के परिणाम में जो मिलता है वह मैं हूँ और स्वामी भी मैं ही हूँ, परन्तु वे मुझे तत्त्व से भली प्रकार नहीं जानते इसलिये 'च्यवन्ति' - गिरते हैं। अर्थात् वे कभी अन्य देवताओं में गिरते हैं और तत्त्व से जब तक नहीं जानते तब तक कामनाओं से भी गिरते हैं। उनकी गति क्या है?

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

अर्जुन! देवताओं को पूजनेवाले देवताओं को प्राप्त होते हैं। देवता हैं तो परिवर्तित सत्ता। वे अपने सद्कर्मानुसार जीवन व्यतीत करते हैं। पितरों को पूजनेवाले पितरों को प्राप्त होते हैं अर्थात् अतीत में उलझे रहते हैं। भूतों को पूजनेवाले भूत होते हैं, शरीर धारण करते हैं और मेरा भक्त मुझे प्राप्त होता है। वे मेरे साक्षात् स्वरूप होते हैं। उनका पतन नहीं होता। इतना ही नहीं, मेरी पूजा का विधान भी सरल है-

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

भक्ति का आरम्भ यहीं से है कि पत्र-पुष्प-फल-जल इत्यादि जो कोई मुझे भक्तिपूर्वक अर्पित करता है, मन से प्रयत्न करनेवाले उस भक्त का वह सब मैं खाता हूँ अर्थात् स्वीकार करता हूँ। इसलिये-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

अर्जुन! तू जो कर्म (यथार्थ कर्म) करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, समर्पण करता है, दान देता है, मनसहित इन्द्रियों को जो मेरे अनुरूप तपाता है, वह सब मुझे अर्पण कर अर्थात् मेरे प्रति समर्पित होकर यह सब कर। समर्पण करने से योग के क्षेत्र की जिम्मेदारी मैं ले लूँगा।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

इस प्रकार सर्वस्व के न्यास संन्यास योग से युक्त हुआ तू शुभाशुभ फलदाता कर्मों के बन्धन से मुक्त होकर मुझे प्राप्त होगा।

उपर्युक्त तीन श्लोकों में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने क्रमवद्ध साधन और उसके परिणाम का चित्रण किया है। पहले पत्र-पुष्प, फल-जल का पूर्ण श्रद्धा से अर्पण, दूसरे समर्पित होकर कर्म का आचरण और तीसरे पूर्ण समर्पण के साथ सर्वस्व का त्याग। इनके द्वारा कर्म-बन्धन से विमुक्त (विशेष रूप से मुक्त) हो जायेगा। मुक्ति से मिलेगा क्या? वताया, मुझे प्राप्त होगा। यहाँ मुक्ति और प्राप्ति एक दूसरे के पूरक हैं। आपकी प्राप्ति ही मुक्ति है, तो उससे लाभ? इस पर कहते हैं-

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

मैं सब भूतों में सम हूँ। सृष्टि में न मेरा कोई प्रिय है और न अप्रिय है किन्तु जो अनन्य भक्त है, वह मुझमें है और मैं उसमें हूँ। यही मेरा एकमात्र रिश्ता है। उसमें परिपूर्ण हो जाता हूँ। मुझमें और उसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। तव तो वहुत भाग्यशाली लोग ही भजन करते होंगे? भजन करने का अधिकार किसे है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

यदि अत्यन्त दुराचारी भी अनन्य भाव से अर्थात् (अन्य न) मेरे सिवाय किसी अन्य वस्तु या देवता को न भजकर केवल मुझे ही निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है। अभी वह साधु हुआ नहीं है किन्तु उसके हो जाने में

सन्देह भी नहीं है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चय से लग गया है। अतः भजन आप भी कर सकते हैं, बशर्ते कि आप मनुष्य हों, क्योंकि मनुष्य ही यथार्थ निश्चयवाला है। गीता पापियों का उद्धार करती है और वह पथिक-

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

इस भजन के प्रभाव से वह दुराचारी भी शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, परमधर्म परमात्मा से संयुक्त हो जाता है तथा सदैव रहनेवाली परमशान्ति को प्राप्त होता है। कौन्तेय! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। यदि एक जन्म में पार नहीं लगा तो अगले जन्मों में भी वही साधन करके शीघ्र ही परमशान्ति को प्राप्त होता है। अतः सदाचारी, दुराचारी सभी को भजन करने का अधिकार है। इतना ही नहीं, अपितु-

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

पार्थ! स्त्री, वैश्य, शूद्रादि तथा जो कोई पापयोनि वाले भी हों, वे सभी मेरे आश्रित होकर परमगति को प्राप्त होते हैं। अतः यह गीता मनुष्य मात्र के लिए है, चाहे वह कुछ भी करता हो, कहीं भी पैदा हुआ हो। सबके लिये यह एक समान कल्याण का उपदेश करती है। गीता सार्वभौम है।

पापयोनिः - अध्याय १६/७-२१ में आसुरी वृत्ति के लक्षणों के अन्तर्गत भगवान् ने बताया कि जो शास्त्र-विधि को त्यागकर नाममात्र के यज्ञों द्वारा दम्भ से यजन करते हैं, वे नरों में अधम हैं। यज्ञ है नहीं किन्तु नाम दे रखा है और दम्भ से यजन करता है वह क्रूरकर्मी और पापाचारी (पापयोनि) है। जो मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं वही पापी हैं। वैश्य-शूद्र भगवत्पथ की सीढ़ियाँ हैं। स्त्रियों के प्रति कभी सम्मान, कभी हीनता की भावना समाज में रही है इसीलिए श्रीकृष्ण ने इनका नाम लिया। योग-प्रक्रिया में स्त्री और पुरुष दोनों का समान ही प्रवेश है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

फिर तो ब्राह्मण, राजर्षि तथा क्षत्रिय श्रेणी प्राप्त भक्तों के लिए कहना ही क्या है? ब्राह्मण एक अवस्था विशेष है, जिसमें ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली सारी योग्यताएँ विद्यमान हैं। शान्ति, आर्जव, अनुभवी उपलब्धि, ध्यान और इष्ट के निर्देशन पर जिसमें चलने की क्षमता है, यही ब्राह्मण की अवस्था है। राजर्षि क्षत्रिय में ऋद्धियों-सिद्धियों का संचार, शौर्य, स्वामीभाव, पीछे न हटने का स्वभाव रहता है। इस योगस्तर पर पहुँचे हुए योगी तो पार होते ही हैं, उनके लिए क्या कहना है। अतः अर्जुन! तू सुखरहित क्षणभंगुर इस मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर मेरा ही भजन कर। इस नश्वर शरीर के ममत्व, पोषण में समय नष्ट न कर।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यहाँ चौथी बार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की चर्चा की। अध्याय दो में उन्होंने कहा कि क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़कर कल्याण का कोई रास्ता नहीं है। अध्याय तीन में उन्होंने कहा कि स्वधर्म में निधन भी श्रेयतर है। अध्याय चार में उन्होंने संक्षेप में बताया कि चार वर्णों की रचना मैंने की। तो क्या मनुष्य को चार जातियों में बाँटा? बोले, नहीं 'गुण कर्म विभागशः' - गुण के पैमाने से कर्म को चार श्रेणियों में रखा। श्रीकृष्ण के अनुसार कर्म एकमात्र यज्ञ की प्रक्रिया है। अतः इस यज्ञ के करनेवाले चार प्रकार के हैं। प्रवेशकाल में यह यज्ञकर्त्ता शूद्र है, अल्पज्ञ है। कुछ करने की क्षमता आई, आत्मिक सम्पत्ति का संग्रह हुआ तो वही यज्ञकर्त्ता वैश्य बन गया। इससे उन्नत होने पर प्रकृति के तीनों गुणों को काटने की क्षमता आ जाने पर वही साधक क्षत्रिय श्रेणी का है और जब इसी साधक के स्वभाव में ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली योग्यतायें ढल जाती हैं, तो वही ब्राह्मण है। वैश्य एवं शूद्र की अपेक्षा क्षत्रिय और ब्राह्मण श्रेणी का साधक प्राप्ति के अधिक समीप है। शूद्र और वैश्य भी उसी ब्रह्म में प्रवेश पाकर शान्त होंगे फिर इसके आगे की अवस्थावालों के लिये तो कहना ही क्या है? उनके लिये तो निश्चित ही है।

गीता जिन उपनिषदों का सार-सर्वस्व है, उनमें ब्रह्मविदुषी महिलाओं के आख्यान भरे पड़े हैं। तथाकथित धर्मभीरु, रूढ़िवादी वेदाध्ययन के अधिकार-अनाधिकार की व्यवस्था देने में माथा-पच्ची करते रहें, योगेश्वर श्रीकृष्ण का स्पष्ट उद्घोष है कि यज्ञार्थ कर्म की निर्धारित क्रिया में स्त्री-पुरुष सभी प्रवेश ले सकते हैं।

अतः वे भजन की धारणा पर प्रोत्साहन देते हैं-

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

अर्जुन! मेरे में ही मन वाला हो। सिवाय मेरे दूसरे भाव मन में न आने पायें। मेरा अनन्य भक्त हो, अनवरत चिन्तन में लग। श्रद्धासहित मेरा ही निरन्तर पूजन कर और मेरे को ही नमस्कार कर। इस प्रकार मेरे शरण हुआ, आत्मा को मुझमें एकीभाव से स्थित कर तू मुझे ही प्राप्त होगा अर्थात् मेरे साथ एकता प्राप्त करेगा।

निष्कर्ष :

इस अध्याय के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! तुझ दोषरहित भक्त के लिए मैं इस ज्ञान को विज्ञानसहित कहूँगा। जिसे जानकर कुछ भी जानना शेष नहीं रहेगा। इसे जानकर तू संसार-बन्धन से छूट जायेगा। यह ज्ञान सम्पूर्ण विद्याओं का राजा है। विद्या वह है, जो परमब्रह्म में प्रवेश दिलाये। यह ज्ञान उसका भी राजा है अर्थात् निश्चित कल्याण करनेवाला है। यह सम्पूर्ण गोपनीयों का भी राजा है, गोपनीय वस्तु को भी प्रत्यक्ष करनेवाला है। यह प्रत्यक्ष फलवाला, साधन करने में सुगम और अविनाशी है। थोड़ा भी इसका साधन आप से पार लग जाय, तो इसका कभी नाश नहीं होता वरन् इसके प्रभाव से वह परमश्रेय तक पहुँच जाता है, किन्तु इसमें एक शर्त है। श्रद्धाविहीन पुरुष परमगति को प्राप्त न होकर संसार-चक्र में भटकता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने योग के ऐश्वर्य पर भी प्रकाश डाला। दुःख के संयोग का वियोग ही योग है अर्थात् जो संसार के संयोग-वियोग से सर्वथा रहित है, उसका नाम है योग। परमतत्त्व परमात्मा के मिलन का नाम योग है। परमात्मा की प्राप्ति ही योग की पराकाष्ठा है। जो इसमें प्रवेश पा गया, उस योगी के प्रभाव को देख कि सम्पूर्ण भूतों का स्वामी और जीवधारियों का पोषण करनेवाला होने पर भी मेरा आत्मा उन भूतों में स्थित नहीं है। मैं आत्मस्वरूप में स्थित हूँ। वही हूँ। जैसे आकाश में उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला वायु आकाश में ही स्थित है किन्तु उसे मलिन नहीं कर पाता, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं लेकिन मैं उनमें लिप्त नहीं हूँ।

अर्जुन! कल्प के आदि में मैं भूतों को विशेष प्रकार से रचता हूँ, सजाता हूँ और कल्प की पूर्तिकाल में सम्पूर्ण भूत मेरी प्रकृति को अर्थात् योगारूढ़ महापुरुष की रहनी को, उनके अव्यक्त भाव को प्राप्त होते हैं। यद्यपि महापुरुष प्रकृति से परे है किन्तु प्राप्ति के पश्चात् स्वभाव अर्थात् स्वयं में स्थित रहते हुए लोक-संग्रह के लिए जो कार्य करता है, वह उसकी एक रहनी है। इसी रहनी के कार्य-कलाप को उस महापुरुष की प्रकृति कहकर सम्बोधित किया गया है।

एक रचयिता तो मैं हूँ, जो भूतों को कल्प के लिये प्रेरित करता हूँ और दूसरी रचयिता त्रिगुणमयी प्रकृति है, जो मेरे अध्यास से चराचर सहित भूतों को रचती है। यह भी एक कल्प है, जिसमें शरीर-परिवर्तन, स्वभाव-परिवर्तन और काल-परिवर्तन निहित है। गोस्वामी तुलसीदास जी भी यही कहते हैं-

एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा।। (रामचरितमानस, ३/१४/५)

प्रकृति के दो भेद विद्या और अविद्या हैं। इनमें अविद्या दुष्ट है, दुःखरूप है जिससे विवश जीव भव-कूप में पड़ा है, जिससे प्रेरित होकर जीव काल, कर्म, स्वभाव और गुण के घेरे में आ जाता है। दूसरी है विद्या माया, जिसे श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं रचता हूँ। गोस्वामी जी के अनुसार प्रभु रचते हैं।

एक रचइ जग गुन बस जाके।
प्रभु प्रेरित नहीं निज बल ताके।। (३/१४/६)

यह जगत् की रचना करती है, जिसके आश्रित गुण हैं। कल्याणकारी गुण एकमात्र ईश्वर में हैं। प्रकृति में गुण हैं ही नहीं, वह तो नश्वर है लेकिन विद्या में प्रभु ही प्रेरक बनकर करते हैं।

इस प्रकार कल्प दो प्रकार के हैं। एक तो वस्तु का, शरीर और काल का परिवर्तन कल्प है; किन्तु यह परिवर्तन प्रकृति ही मेरे आभास से करती है किन्तु इससे महान् कल्प जो आत्मा को निर्मल स्वरूप प्रदान करता है, उसका श्रृंगार महापुरुष करते हैं। वे अचेत भूतों को सचेत करते हैं। भजन का आदि ही इस कल्प का आरम्भ है और भजन की पराकाष्ठा कल्प का अन्त है। जब यह

कल्प भव-रोग से पूर्ण नीरोग बनाकर शाश्वत ब्रह्म में प्रवेश (स्थिति) दिला देता है, उस प्रवेशकाल में योगी मेरी रहनी और मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष की रहनी ही उसकी प्रकृति है।

धर्म-ग्रन्थों में कथानक मिलते हैं कि चारों युग बीतने पर ही कल्प पूर्ण होता है, महाप्रलय होता है। प्रायः लोग इसे यथार्थ नहीं समझते। युग का अर्थ है दो। आप अलग हैं, आराध्य अलग है तब तक युग-धर्म रहेंगे। गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में इसकी चर्चा की है। जब तामसी गुण कार्य करते हैं, रजोगुण अल्प मात्रा में है, चारों ओर बैर-विरोध है, ऐसा व्यक्ति कलियुगीन है, वह भजन नहीं कर पाता; किन्तु साधन प्रारम्भ होने पर युग-परिवर्तन हो जाता है। रजोगुण बढ़ने लगता है, तमोगुण क्षीण हो चलता है, कुछ सत्त्वगुण भी स्वभाव में आ जाते हैं; हर्ष और भय की दुविधा लगी रहती है तो वही साधक द्वापर की अवस्था में आ जाता है। क्रमशः सत्त्वगुण का बाहुल्य होने पर रजोगुण स्वल्प रह जाता है, आराधना कर्म में रति हो जाती है, ऐसे त्रेता युग में त्याग की स्थितिवाला साधक अनेकों यज्ञ करता है। `यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'-यज्ञ-श्रेणीवाला जप, जिसका उतार-चढ़ाव श्वास-प्रश्वास पर है, उसे करने की क्षमता रहती है। जब मात्र सत्त्वगुण शेष रहा, विषमता खो गयी, समता आ गई, यह कृत युग अर्थात् कृतार्थ युग अथवा सत्युग का प्रभाव है। उस समय सब योगी विज्ञानी होते हैं, ईश्वर से मिलनेवाले होते हैं, स्वाभाविक ध्यान पकड़ने की उनमें क्षमता रहती है।

विवेकीजन युगधर्मों का उतार-चढ़ाव मन में समझते हैं। मन के निरोध के लिये अधर्म का परित्याग कर धर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। निरुद्ध मन का भी विलय हो जाने पर युगों के साथ-साथ कल्प का भी अन्त हो जाता है। पूर्णता में प्रवेश दिलाकर कल्प भी शान्त हो जाता है। यही प्रलय है, जब प्रकृति पुरुष में विलीन हो जाती है। इसके पश्चात् महापुरुष की जो रहनी है वही उसकी प्रकृति है, उसका स्वभाव है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं - अर्जुन! मूढ़ लोग मुझे नहीं जानते, मुझ ईश्वरों के ईश्वर को भी तुच्छ समझते हैं, साधारण मनुष्य मानते हैं। प्रत्येक महापुरुष के

साथ यह विडम्बना रही है कि तत्कालीन समाज ने उनकी उपेक्षा की। उनका डटकर विरोध हुआ। श्रीकृष्ण भी इसके अपवाद नहीं थे। वे कहते हैं कि मैं परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु शरीर मेरा भी मनुष्य का ही है। अतः मूढ़ पुरुष मुझे तुच्छ कहकर, मनुष्य कहकर सम्बोधित करते हैं। ऐसे लोग व्यर्थ आशा वाले हैं, व्यर्थ कर्मवाले हैं, व्यर्थ ज्ञानवाले हैं कि कुछ भी करें और कह दें कि हम तो कामना नहीं करते, हो गये निष्काम कर्मयोगी। वे आसुरी स्वभाववाले मुझे नहीं परख पाते; किन्तु दैवी सम्पद् को प्राप्त जन अनन्य भाव से मेरा ध्यान करते हैं। मेरे गुणों का निरन्तर चिन्तन करते हैं।

अनन्य उपासना अर्थात् यज्ञार्थ कर्म के दो ही मार्ग हैं। पहला है ज्ञान यज्ञ अर्थात् अपने भरोसे, अपनी शक्ति को समझकर उसी नियत कर्म में प्रवृत्त होना और दूसरी विधि स्वामी-सेवक भावना की है, जिसमें सद्गुरु के प्रति समर्पित होकर वही कर्म किया जाता है। इन्हीं दो दृष्टियों से लोग मुझे उपासते हैं किन्तु उनके द्वारा जो पार लगता है वह यज्ञ, वह हवन, वह कर्त्ता, श्रद्धा और औषधि जिससे भवरोग की चिकित्सा होती है, मैं ही हूँ। अन्त में जो गति प्राप्त होती है, वह गति भी मैं ही हूँ।

इसी यज्ञ को लोग 'त्रैविद्याः' - प्रार्थना, यजन और समत्व दिलाने वाली विधियों से सम्पादित करते हैं किन्तु बदले में स्वर्ग की कामना करते हैं, तो मैं स्वर्ग भी देता हूँ। उसके प्रभाव से वे इन्द्रपद प्राप्त कर लेते हैं, दीर्घकाल तक उसे भोगते हैं किन्तु पुण्य क्षीण होने पर वे पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं। उनकी क्रिया सही थी किन्तु भोगों की कामना रहने पर पुनर्जन्म पाते हैं। अतः भोगों की कामना नहीं करनी चाहिये। जो अनन्य भाव से अर्थात् 'मेरे सिवाय दूसरा है ही नहीं', ऐसे भाव से जो निरन्तर मेरा चिन्तन करते हैं, लेशमात्र भी त्रुटि न रह जाय ऐसे जो भजते हैं, उनके योग की सुरक्षा का भार मैं अपने हाथ ले लेता हूँ।

इतना होने पर भी कुछ लोग अन्य देवताओं की पूजा करते हैं। वे भी मेरी ही पूजा करते हैं; किन्तु वह मेरी प्राप्ति की विधि नहीं है। वे सम्पूर्ण यज्ञों के भोक्ता के रूप में मुझे नहीं जानते अर्थात् उनकी पूजा के परिणाम में मैं नहीं मिलता इसीलिये उनका पतन हो जाता है। वे देवता, भूत अथवा पितरों के

कल्पित रूप में निवास करते हैं, जबकि मेरा भक्त साक्षात् मुझमें निवास करता है, मेरा ही स्वरूप हो जाता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस यज्ञार्थ कर्म को अत्यन्त सुगम बताया कि कोई फल-फूल या जो भी श्रद्धा से देता है, उसे मैं स्वीकार करता हूँ। अतः अर्जुन! तू जो कुछ आराधना करता है, मुझे समर्पित कर। जब सर्वस्व का न्यास हो जायेगा, तब योग से युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जायेगा और यह मुक्ति मेरा ही स्वरूप है।

दुनिया में सब प्राणी मेरे ही हैं, किसी भी प्राणी से न मुझे प्रेम है न द्वेष। मैं तटस्थ हूँ; किन्तु जो मेरा अनन्य भक्त है, मैं उसमें हूँ वह मुझमें है। अत्यन्त दुराचारी, जघन्यतम पापी ही कोई क्यों न हो फिर भी अनन्य श्रद्धा-भक्ति से मुझे भजता है, तो वह साधु मानने योग्य है। उसका निश्चय स्थिर है तो वह शीघ्र ही परम से संयुक्त हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्ति को प्राप्त होता है। यहाँ श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि धार्मिक कौन है। सृष्टि में जन्म लेनेवाला कोई भी प्राणी यदि अनन्य भाव से एक परमात्मा को भजता है, उनका चिन्तन करता है तो वह शीघ्र ही धार्मिक हो जाता है। अतः धार्मिक वह है, जो एक परमात्मा का सुमिरन करता है। अन्त में आश्वासन देते हैं कि - अर्जुन! मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता। कोई शूद्र हो, नीच हो, आदिवासी हो या अनादिवासी या कुछ भी नामधारी हो, पुरुष अथवा स्त्री हो अथवा पापयोनि, तिर्यक् योनिवाला भी जो हो, मेरी शरण होकर परमश्रेय को प्राप्त होता है। इसलिये अर्जुन, सुखरहित, क्षणभंगुर किन्तु दुर्लभ मनुष्य शरीर को पाकर मेरा भजन कर। फिर तो जो ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली अर्हताओं से युक्त है, उस ब्राह्मण तथा जो राजर्षित्व के स्तर से भजनेवाला है, ऐसे योगी के लिए कहना ही क्या है? वह तो पार ही है। अतः अर्जुन! निरन्तर मुझमें मनवाला हो, निरन्तर नमस्कार कर। इस प्रकार मेरी शरण हुआ तू मुझे ही प्राप्त होगा, जहाँ से पीछे लौटकर नहीं आना पड़ता।

प्रस्तुत अध्याय में उस विद्या पर प्रकाश डाला गया, जिसे श्रीकृष्ण स्वयं जागृत करते हैं। यह राज-विद्या है, जो एक बार जागृत होने पर निश्चित कल्याण करती है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'राजविद्या जागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण-अर्जुन के सम्वाद में 'राजविद्या जागृति' नामक नौवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'राजविद्या जागृति' नाम नवमोऽध्यायः।।९।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ दशमोऽध्यायः

गत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गुप्त राजविद्या का चित्रण किया, जो निश्चय ही कल्याण करती है। दसवें अध्याय में उनका कथन है कि, महाबाहु अर्जुन! मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को फिर भी सुन। यहाँ उसी को दूसरी बार कहने की आवश्यकता क्या है? वस्तुतः साधक को पूर्तिपर्यंत खतरा है। ज्यों-ज्यों वह स्वरूप में ढलता जाता है, प्रकृति के आवरण सूक्ष्म होते जाते हैं, नये-नये दृश्य आते हैं। उसकी जानकारी महापुरुष ही देते रहते हैं। वह नहीं जानता। यदि वे मार्गदर्शन करना बन्द कर दें, तो साधक स्वरूप की उपलब्धि से वंचित रहेगा। जब तक वह स्वरूप से दूर है, तब तक सिद्ध है कि प्रकृति का कोई-न-कोई आवरण बना है, फिसलने-लड़खड़ाने की संभावना बनी रहती है। अर्जुन शरणागत शिष्य है। उसने कहा था - 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' - भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ, मुझे संभालिये। अतः उसके हित की कामना से योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः बोले-

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

महाबाहु अर्जुन! मेरे परम प्रभावयुक्त वचन को पुनः सुन, जो मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवाले के हित की इच्छा से कहूँगा।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

अर्जुन! मेरी उत्पत्ति को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते

हैं। श्रीकृष्ण ने कहा था, 'जन्म कर्म च मे दिव्यं' - मेरा वह जन्म और कर्म अलौकिक है, इन चर्म-चक्षुओं से देखा नहीं जा सकता। इसलिए मेरे उस प्रकट होने को देव और महर्षि स्तर तक पहुँचे हुए लोग भी नहीं जानते। मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का आदि कारण हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

जो मुझ जन्म-मृत्यु से रहित, आदि-अन्त से रहित, सब लोकों के महान ईश्वर को साक्षात्कार सहित विदित कर लेता है, वह पुरुष मरणधर्मा मनुष्यों में ज्ञानवान् है अर्थात् अज, अनादि और सर्व लोक महेश्वर को भली प्रकार जानना ही ज्ञान है और ऐसा जाननेवाला सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है, पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह उपलब्धि भी मेरी ही देन है।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।

अर्जुन! निश्चयात्मिका बुद्धि, साक्षात्कार सहित जानकारी, लक्ष्य में विवेकपूर्वक प्रवृत्ति, क्षमा, शाश्वत सत्य, इंद्रियों का दमन, मन का शमन, अन्तःकरण की प्रसन्नता, चिन्तन-पथ के कष्ट, परमात्मा की जागृति, स्वरूप की प्राप्तिकाल में सर्वस्व का विलय, इष्ट के प्रति अनुशासनात्मक भय और प्रकृति से निर्भयता तथा-

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

अहिंसा अर्थात् अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचाने का आचरण, समता - जिसमें विषमता न हो, संतोष, तप-मनसहित इन्द्रियों को लक्ष्य के अनुरूप तपाना, दान अर्थात् सर्वस्व का समर्पण, भगवत्पथ में मान-अपमान का सहन - इस प्रकार प्राणियों के उपर्युक्त भाव मुझसे ही होते हैं। ये सभी भाव दैवी चिंतन-पद्धति के लक्षण हैं। इनका अभाव ही आसुरी सम्पद् है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

सप्तर्षि अर्थात् योग की सात क्रमिक भूमिकायें (शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावना और तुर्यगा) तथा इनके अनुरूप अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार), उसके अनुरूप मन जो मेरे में भाववाला है - यह सब मेरे ही संकल्प से (मेरी प्राप्ति के संकल्प से तथा जो मेरी ही प्रेरणा से होते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं) उत्पन्न होते हैं। इस संसार में ये (सम्पूर्ण दैवी सम्पद्) इन्हीं की प्रजा है। क्योंकि सप्त भूमिकाओं के संचार में 'दैवी सम्पद्' ही है, अन्य नहीं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

जो पुरुष योग की और मेरी उपर्युक्त विभूतियों को साक्षात्कार के साथ जानता है, वह स्थिर ध्यान योग द्वारा मुझमें एकीभाव से स्थित होता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखे दीपक की लो सीधी जाती है, कंपन नहीं होता, योगी के जीते हुए चित्त की यही परिभाषा है। प्रस्तुत श्लोक में 'अविकम्पेन' शब्द इसी आशय की ओर संकेत करता है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ. मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है - इस प्रकार मानकर श्रद्धा और भक्ति से युक्त विवेकीजन मेरा निरन्तर भजन करते हैं। तात्पर्य यह है कि योगी द्वारा मेरे अनुरूप जो प्रवृत्ति होती है, उसे मैं ही किया करता हूँ। वह मेरा ही प्रसाद है। (कैसे है? इसे पीछे स्थान-स्थान पर बताया जा चुका है) वे निरन्तर भजन किस प्रकार करते हैं? इस पर कहते हैं-

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

अन्य किसी को स्थान न देकर मुझमें ही निरन्तर चित्त को लगानेवाले, मुझमें ही प्राणों को लगानेवाले सदैव परस्पर मेरी प्रक्रियाओं का बोध करते हैं। मेरा गुण-गान करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं तथा निरन्तर मुझमें ही रमण करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुए तथा प्रेमपूर्वक भजनेवाले उन भक्तों को मैं वह बुद्धियोग अर्थात् योग में प्रवेशवाली बुद्धि देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं अर्थात् योग की जागृति ईश्वर की देन है। वह अव्यक्त पुरुष `महापुरुष' योग में प्रवेश दिलानेवाली बुद्धि कैसे देता है?

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

उनके ऊपर पूर्ण अनुग्रह करने के लिए मैं उनकी आत्मा से अभिन्न खड़ा होकर, रथी होकर अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को ज्ञानरूपी दीपक के द्वारा प्रकाशित कर नष्ट करता हूँ। वस्तुतः किसी स्थितप्रज्ञ योगी द्वारा जब तक वह परमात्मा आपके आत्मा से ही जाग्रत होकर पल-पल पर संचालन नहीं करता, रोकथाम नहीं करता, इस प्रकृति के द्वन्द्व से निकालते हुए स्वयं आगे नहीं ले चलता, तब तक वास्तव में यथार्थ भजन आरम्भ ही नहीं होता। वैसे तो भगवान् सर्वत्र से बोलने लगते हैं लेकिन प्रारम्भ में वे स्वरूपस्थ महापुरुष द्वारा ही बोलते हैं। यदि ऐसा महापुरुष आपको प्राप्त नहीं है, तो वे आपसे स्पष्ट नहीं बोलेंगे।

इष्ट, सद्गुरु अथवा परमात्मा का रथी होना एक ही बात है। साधक की आत्मा से जागृत हो जाने पर उनके निर्देश चार प्रकार से मिलते हैं। पहले स्थूल सुरा-सम्बन्धी अनुभव होता है। आप चिन्तन में बैठे हैं। कब आपका मन लगनेवाला है? कितनी सीमा तक लग गया है? कब मन भागना चाहता है और कब भाग गया? इसको हर मिनट-सेकेंण्ड पर इष्ट अंग-स्पंदन से संकेत करते

हैं। अंगों का फड़कना स्थूल सुरा-सम्बन्धी अनुभव है, जो एक पल में दो-चार स्थान पर एक साथ आता है और आपके विकृत हो जाने पर मिनट-मिनट पर आने लगेगा। यह संकेत तभी आता है, जब इष्ट के स्वरूप को आप अनन्य भाव से पकड़ें अन्यथा साधारण जीवों में संस्कार के टकराव से अंग-स्पंदन होते रहते हैं, जिनका इष्ट वालों से कोई सम्पर्क नहीं है।

दूसरा अनुभव स्वप्नसुरा-सम्बन्धी होता है। साधारण मनुष्य अपनी वासनाओं से सम्बन्धित स्वप्न देखता है; किन्तु जब आप इष्ट को पकड़ लेंगे तो यह सपना भी निर्देश में बदल जाता है। योगी सपना नहीं देखता, होनी देखता है।

उपर्युक्त दोनों अनुभव प्रारम्भिक हैं, किसी तत्त्वस्थित महापुरुष के सान्निध्य से, मन में उनके प्रति श्रद्धा रखने मात्र से, उनकी टूटी-फूटी सेवा से भी जागृत हो जाते हैं; किन्तु इन दोनों से भी सूक्ष्म शेष दो अनुभव क्रियात्मक हैं, जिन्हें क्रियात्मक चलकर ही देखा जा सकता है।

तीसरा अनुभव सुषुप्ति सुरा-सम्बन्धी होता है। संसार में सब सोते ही तो हैं। मोह-निशा में सभी अचेत पड़े हैं। रात-दिन जो कुछ करते हैं, स्वप्न ही तो है। यहाँ सुषुप्ति का शुद्ध अर्थ है, जब परमात्मा के चिन्तन की ऐसी डोरी लग जाय कि सुरत (ख्याल) एकदम स्थिर हो जाय, शरीर जागता रहे और मन सुप्त हो जाय। ऐसी अवस्था में वह इष्टदेव फिर अपना एक संकेत देंगे। योग की अवस्था के अनुरूप एक रूपक (दृश्य) आता है जो सही दिशा प्रदान करता है, भूत-भविष्य से अवगत कराता है। 'पूज्य महाराज जी' कहा करते थे कि डाक्टर जैसे बेहोशी की दवा देकर, उचित उपचार देकर होश में लाता है ऐसे ही भगवान बता देते हैं।

चौथा और अन्तिम अनुभव समसुरा-सम्बन्धी है। जिसमें आपने सुरत लगायी थी, उस परमात्मा से समत्व प्राप्त हो गया, उसके बाद उठते-बैठते, चलते-फिरते सर्वत्र से उसे अनुभूति होने लगती है। यह योगी त्रिकालज्ञ होता है। यह अनुभव तीनों कालों से परे अव्यक्तस्थितिवाले महापुरुष आत्मा से जागृत होकर अज्ञानजनित अन्धकार को ज्ञान-दीप से नष्ट करके करते हैं। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

भगवन्! आप परब्रह्म, परमधाम तथा परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सभी ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष, देवों का भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। परमपुरुष, परमधाम का ही पर्याय दिव्य पुरुष, अजन्मा आदि शब्द हैं। देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास तथा स्वयं आप भी मुझसे वही कहते हैं। अर्थात् पहले भूतकालीन महर्षि कहते हैं, अब वर्तमान में जिनकी संगत उपलब्ध है; नारद, देवल, असित और व्यास का नाम लिया, जो अर्जुन के समकालीन थे (सत्पुरुषों की संगति अर्जुन को प्राप्त थी) आप भी वही कहते हैं। अतः-

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

हे केशव! जो कुछ भी आप मेरे लिए कह रहे हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूँ। आपके व्यक्तित्व को न देवता और न दानव ही जानते हैं।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

हे भूतों को उत्पन्न करनेवाले! हे भूतों के ईश्वर! हे देव-देव! हे जगत् के स्वामी! हे पुरुषों में उत्तम! स्वयं आप ही अपने को जानते हैं अथवा जिसकी आत्मा में जागृत होकर आप जना देते हैं, वह जानता हैं। वह भी आपके द्वारा आपका जानना हुआ। इसलिए-

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

आप ही अपनी उन दिव्य विभूतियों को सम्पूर्ण रूप से लेशमात्र भी शेष न रखकर कहने में सक्षम हैं, जिन विभूतियों द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

हे योगिन्! (श्रीकृष्ण एक योगी थे) मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! मैं किन-किन भावों द्वारा आपका स्मरण करूँ?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श्रृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

हे जनार्दन! अपनी योग-शक्ति को और योग की विभूति को फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये। संक्षेप में तो इसी अध्याय के आरम्भ में कहा ही है पुनः कहिए; क्योंकि अमृत तत्त्व को दिलानेवाले इन वचनों को सुनने से मेरी तृप्ति नहीं होती।

राम चरित जे सुनत अघाहीं।
रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।। (रामचरितमानस, ७/५२/१)

जब तक प्रवेश नहीं मिल जाता तब तक उस अमृत तत्त्व को जानने की पिपासा बनी रहती है। प्रवेश से पूर्व रास्ते में ही यह सोचकर कोई बैठ गया कि - बहुत जान लिया, तो उसने नहीं जाना। सिद्ध है कि उसका मार्ग अवरुद्ध होना चाहता है। इसलिए साधक को पूर्तिपर्यन्त इष्ट के निर्देशन को पकड़ते रहना चाहिए और उसे आचरण में ढालना चाहिए। अर्जुन की उक्त जिज्ञासा पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा-

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं अपनी दिव्य विभूतियों को, उनमें से प्रमुख विभूतियों को तुझसे कहूँगा क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ अर्थात् जन्म, मृत्यु और जीवन भी मैं ही हूँ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में प्रकाशमान सूर्य हूँ। वायु के भेदों में मैं मरीचि नामक वायु और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

वेदों में मैं सामवेद अर्थात् पूर्ण समत्व दिलानेवाला गायन हूँ। देवों में मैं उनका अधिपति इन्द्र हूँ और इन्द्रियों में मन हूँ क्योंकि मन के निग्रह से ही मैं जाना जाता हूँ तथा प्राणियों में मैं उनकी चेतना हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

एकादश रुद्रों में मैं शंकर हूँ। शंक् अर स शंकर अर्थात् शंकाओं से उपराम अवस्था में हूँ। यक्ष तथा राक्षसों में मैं धन का स्वामी कुबेर हूँ। आठ वसुओं में मैं अग्नि और शिखरवालों में सुमेरु अर्थात् शुभों का मेल मैं हूँ। वही सर्वोपरि शिखर है, न कि कोई पहाड़ी। वस्तुतः यह सब योग-साधना के प्रतीक हैं, यौगिक शब्द हैं।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

पुर की रक्षा करनेवाले पुरोहितों में वृहस्पति मुझे ही जान, जिससे दैवी सम्पद् का संचार होता है और हे पार्थ! सेनापतियों में मैं स्वामी कार्तिकेय हूँ।

कर्म का त्याग ही कार्तिक है, जिससे चराचर का संहार, प्रलय और इष्ट की प्राप्ति होती है। जलाशयों में मैं समुद्र हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

महर्षियों में मैं भृगु हूँ और वाणी में एक अक्षर `ॐ' कार हूँ, जो उस ब्रह्म का परिचायक है। सब प्रकार के यज्ञों में मैं जप-यज्ञ हूँ। यज्ञ परम में प्रवेश दिला देनेवाली आराधना की विधि विशेष का चित्रण है। उसका सारांश है - स्वरूप का स्मरण और नाम का जप। दो वाणियों से पार हो जाने पर नाम जब यज्ञ की श्रेणी में आता है तो वाणी से नहीं जपा जाता, न चिन्तन से न कण्ठ से; बल्कि वह श्वास में जागृत हो जाता है। केवल सुरत को श्वास के पास लगाकर मन से अविरल चलना भर पड़ता है। यज्ञ की श्रेणीवाले नाम का उतार-चढ़ाव श्वास पर निर्भर है। यह क्रियात्मक है। स्थिर रहनेवालों में हिमालय हूँ। शीतल, सम और अचल एकमात्र परमात्मा है। जब प्रलय हुआ, तब मनु उसी शिखर में बँध गया। अचल,सम और शान्त ब्रह्म का प्रलय नहीं होता। उस ब्रह्म की पकड़ मैं हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

सब वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ। अश्वः - कल तक भी जिसके रहने की गारण्टी नहीं दी जा सकती, ऐसा `ऊर्ध्वमूलमधः शाखम् अश्वत्थ' - ऊपर परमात्मा जिसका मूल है, नीचे प्रकृति जिसकी शाखाएँ हैं, ऐसा संसार ही एक वृक्ष है, जिसे पीपल की संज्ञा दी गयी है - सामान्य पीपल का वृक्ष नहीं कि पूजा करने लगे। इसी पर कहते हैं कि - वह मैं हूँ और देवर्षियों में मैं नारद हूँ। नाद रंध्रः स नारद। दैवी सम्पद् इतनी सूक्ष्म हो गयी कि स्वर में उठनेवाली ध्वनि (नाद) पकड़ में आ जाय, ऐसी जागृति मैं हूँ। गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ अर्थात् गायन (चिन्तन) करनेवाली प्रवृतियों में जब स्वरूप चित्रित होने लगे, वह अवस्था विशेष मैं हूँ। सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। काया ही कपिल है। इसमें जब लव लग जाय, उस ईश्वरीय संचार की अवस्था मैं हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

घोड़ों में मैं अमृत से उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा हूँ। दुनिया में हर वस्तु नाशवान है। आत्मा ही अजर-अमर, अमृत स्वरूप है। इस अमृत स्वरूप से जिसका संचार है, वह घोड़ा मैं हूँ। घोड़ा गति का प्रतीक है। आत्मतत्त्व को ग्रहण करने में मन जब उधर गति पकड़ता है - घोड़ा है। ऐसी गति मैं हूँ। हाथियों में ऐरावत नामक हाथी मैं हूँ। मनुष्यों में राजा मुझको जान। वस्तुतः महापुरुष ही राजा है, जिसके पास अभाव नहीं है।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

शस्त्रों में मैं वज्र हूँ। गायों में कामधेनु हूँ। कामधेनु कोई ऐसी गाय नहीं है, जो दूध के स्थान पर मनचाहा व्यंजन परसती हो। ऋषियों में वशिष्ठ के पास कामधेनु थी। वस्तुतः 'गो' इन्द्रियों को कहते हैं। इन्द्रियों का संयत होना इष्ट को वश में रखनेवाले में पाया जाता है। जिसकी इन्द्रियाँ ईश्वर के अनुरूप स्थिर हो जाती हैं, उसके लिए उसी की इन्द्रियाँ 'कामधेनु' बन जाती हैं। फिर तो **'जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥'** (रामचरित मानस, ७/११३/४)

उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। प्रजनन करनेवालों में नवीन स्थितियों को प्रकट करनेवाला मैं हूँ। 'प्रजनन' एक तो लड़का बाहर पैदा किया जाता है। चराचर में रात-दिन पैदा ही होते हैं, चूहे-चींटी रात-दिन करते हैं, ऐसा नहीं; बल्कि एक स्थिति से दूसरी स्थिति, इस प्रकार वृत्तियों का परिवर्तन होता है, वह परिवर्तित स्वरूप मैं हूँ। सर्पों में मैं वासुकि हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

नागों में मैं अनन्त अर्थात् शेषनाग हूँ। वैसे यह कोई सर्प नहीं है। गीता की समकालीन पुस्तक श्रीमद्भागवत में इसके रूप की चर्चा है कि इस पृथ्वी से

तीस हजार योजन की दूरी पर परमात्मा की वैष्णवी शक्ति है, जिसके सिर पर यह पृथ्वी सरसों के दाने की तरह भाररहित टिकी है? उस युग में योजन का पैमाना चाहे जो रहा हो, फिर भी यह पर्याप्त दूर है। वस्तुतः यह आकर्षण शक्ति का चित्रण है। वैज्ञानिकों ने जिसे ईथर माना है। ग्रह-उपग्रह सभी उसी शक्ति के आधार पर टिके हैं। उस शून्य में ग्रहों का कोई भार भी नहीं है। वह शक्ति सर्प की कुण्डली की तरह सभी ग्रहों को लपेटे है। यही है वह अनन्त, जिससे पृथ्वी धारण की जाती है। श्रीकृष्ण कहते हैं - ऐसी ईश्वरीय शक्ति मैं हूँ। जलचरों में उनका अधिपति `वरुण' हूँ तथा पितरों में `अर्यमा' हूँ। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम हैं। इनके पालन में आनेवाले विकारों को काटना `अरः' है। विकारों के शमन से पितृ अर्थात् भूत-संस्कार तृप्त होते हैं, निवृत्ति प्रदान कर देते हैं। शासन करनेवालों में मैं यमराज हूँ अर्थात् उपर्युक्त यमों का नियामक हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ। (पर आह्लाद - पर के लिए आह्लाद) प्रेम ही प्रह्लाद है। आसुरी सम्पद् में रहते हुए ईश्वर के लिए आकर्षण-विकलता आरम्भ होती है, जिससे परमप्रभु का दिग्दर्शन होता है। ऐसा प्रेमोल्लास मैं हूँ। गिनती करनेवालों में मैं समय हूँ। एक, दो, तीन, चार ऐसी गिनती या क्षण-घड़ी-दिन-पक्ष-मास इत्यादि नहीं, बल्कि ईश्वर के चिन्तन में लगा हुआ समय मैं हूँ। यहाँ तक कि `जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव लाय' अनवरत चिन्तन में समय मैं हूँ। पशुओं में मृगराज (योगी भी मृ+ग अर्थात् योगरूपी जंगल में गमन करनेवाला है) तथा पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ। ज्ञान ही गरुड़ है। जव ईश्वरीय अनुभूति आने लगती है, तव यही मन अपने आराध्य की सवारी वन जाता है और जव यही मन संशय से युक्त है तव सर्प होता है, डसता रहता है, योनियों में फेंकता है। गरुड़ विष्णु की सवारी है। जो सत्ता विश्व में अणु रूप से संचारित है, ज्ञान-संयुक्त मन उसे अपने में धारण करता है, उसका वाहक बनता है। श्रीकृष्ण कहते हैं - इष्ट को धारण करनेवाला मन मैं हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

पवित्र करने वालों में मैं वायु हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ। `रमन्ति योगिनः यस्मिन् स रामः' - योगी किसमें रमण करते हैं? अनुभव में। ईश्वर इष्टरूप में जो निर्देशन देता है, योगी उसमें रमण करते हैं। उस जागृति का नाम राम है और वह जागृति मैं हूँ। मछलियों में मगर तथा नदियों में गंगा मैं हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। विद्याओं में अध्यात्म विद्या मैं हूँ। जो आत्मा का आधिपत्य दिला दे, वह विद्या मैं हूँ। संसार में अधिकांश प्राणी माया के आधिपत्य में हैं; राग-द्वेष, काल, कर्म, स्वभाव और गुणों से प्रेरित हैं। इनके आधिपत्य से निकालकर आत्मा के आधिपत्य में ले जानेवाली विद्या मैं हूँ, जिसे अध्यात्म विद्या कहते हैं। परस्पर होनेवाले विवादों में ब्रह्म-चर्चा में जो निर्णायक है, ऐसी वार्त्ता मैं हूँ। शेष निर्णय तो अनिर्णीत होते हैं।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

मैं अक्षरों में `अ' कार - ओम्कार तथा समासों में द्वन्द्व नामक समास हूँ। अक्षयकाल मैं हूँ। काल सदैव परिवर्तनशील है किन्तु वह समय जो अक्षय, अजर-अमर परमात्मा में प्रवेश दिलाता है, वह अवस्था मैं हूँ। विराट् स्वरूप अर्थात् सर्वत्र व्याप्त, सबको धारण-पोषण करने वाला भी मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

मैं सबका नाश करने वाला मृत्यु और आगे होनेवालों की उत्पत्ति का कारण हूँ। स्त्रियों में मैं यश, शक्ति, वाक्पटुता, स्मृति, मेधा अर्थात् बुद्धि, धैर्य और क्षमा मैं हूँ।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार - "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।" (अध्याय १५ श्लोक १६)। पुरुष दो ही प्रकार के होते हैं, क्षर और अक्षर। सम्पूर्ण भूतादिकों की उत्पत्ति और विनाशवाले ये शरीर क्षर पुरुष हैं। वे नर, मादा; पुरुष अथवा स्त्री कुछ भी कहलाएँ, श्रीकृष्ण के शब्दों में पुरुष ही हैं। दूसरा है - अक्षर पुरुष जो कूटस्थ चित्त के स्थिर काल में देखने में आता है। यही कारण है कि इस योग-पथ में स्त्री-पुरुष सभी समान स्थिति के महापुरुष होते आये हैं। किन्तु यहाँ स्मृति शक्ति, बुद्धि इत्यादि स्त्रियों के ही गुण बताये गये। क्या इन सद्गुणों की आवश्यकता पुरुषों के लिए नहीं है? कौन ऐसा पुरुष है जो श्रीमान, कीर्तिवान, वक्ता, स्मरणशक्ति सम्पन्न, मेधावी, धैर्यवान और क्षमावान नहीं बनना चाहता? बौद्धिक स्तर पर कमजोर लड़कों में इन्हीं गुणों का विकास करने के लिए माता-पिता पढ़ाई की अतिरिक्त व्यवस्था करते हैं। यहाँ कहते हैं कि ये लक्षण केवल स्त्रियों में पाये जाते हैं। अतः आप विचार कर देखें कि स्त्री कौन है? वस्तुतः आपके हृदय की प्रवृत्ति ही 'नारी' है। उसमें इन गुणों का संचार होना चाहिए। इन गुणों को धारण करना स्त्रीलिंग-पुलिंग सबके लिए उपयोगी है। जो मुझसे होते हैं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

गायन करने योग्य श्रुतियों में मैं बृहत्साम अर्थात् वृहत् से संयुक्त, समत्व दिलानेवाला गायन हूँ अर्थात् ऐसी जागृति मैं हूँ। छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ। गायत्री कोई मन्त्र नहीं है, जिसे पढ़ने से मुक्ति मिलती हो वरन् एक समर्पणात्मक छन्द है। तीन बार विचलित होने के पश्चात् ऋषि विश्वामित्र ने अपने को इष्ट के प्रति समर्पित करते हुए कहा-'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।' अर्थात् भूः, भुवः और स्वः तीनों लोकों में तत्त्वरूप से व्याप्त देव! आप ही वरेण्य हैं। हमें ऐसी बुद्धि दें, ऐसी प्रेरणा करें कि हम लक्ष्य को प्राप्त कर लें। यह मात्र एक प्रार्थना है। साधक अपनी बुद्धि से यथार्थ निर्णय नहीं ले पाता कि मैं कब सही हूँ और कब गलत? उसकी यह समर्पित प्रार्थना मैं हूँ, जिसमें निश्चित कल्याण है; क्योंकि वह मेरे आश्रित हुआ

है। मासों में शीर्षस्थ मार्ग मैं हूँ और जिसमें सदैव वहार हो, ऐसा ऋतु, हृदय की ऐसी अवस्था भी मैं ही हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

तेजस्वी पुरुषों का तेज मैं हूँ। जुए में छल करनेवालों का छल मैं हूँ। तव तो अच्छा है, जुआ खेलें, उसमें कल-बल-छल करें, वही भगवान हैं। नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। यह प्रकृति ही एक जुआ है। यही ठगिनी है। इस प्रकृति के द्वन्द्व से निकलने के लिए दिखावा छोड़कर छिपाव के साथ गुप्त रूप से भजन करना ही छल है। छल है तो नहीं; किन्तु बचाव के लिए आवश्यक है। जड़ भरत की तरह उन्मत्त, अन्धे-बहरे और गूँगे की तरह हृदय से जानकार होते हुए भी बाहर से ऐसे रहें कि अनजान हों, सुनते हुए भी न सुनें, देखते हुए भी न देखें। छिपकर ही भजन का विधान है, तभी साधक प्रकृति पुरुष के जुए में पार पाता है। जीतनेवालों की विजय मैं हूँ और व्यवसायियों का निश्चय (जिसे अध्याय दो, श्लोक इकतालीस में कह आये हैं। इस योग में निश्चयात्मक क्रिया एक है, बुद्धि एक ही है, दिशा एक ही है ऐसी) क्रियात्मक बुद्धि मैं हूँ। सात्त्विक पुरुषों का तेज और ओज मैं हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

वृष्णि वंश में मैं वासुदेव अर्थात् सर्वत्र वास करने वाला देव हूँ। पाण्डवों में मैं धनंजय हूँ। पुण्य ही पाण्डु है और आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। पुण्य से प्रेरित होकर आत्मिक सम्पत्ति को अर्जित करनेवाला धनंजय मैं हूँ। मुनियों में मैं व्यास हूँ। परमतत्त्व को व्यक्त करने की जिसमें क्षमता है, वह मुनि मैं हूँ। कवियों में 'उशना' अर्थात् उसमें प्रवेश दिलानेवाला काव्यकार मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

दमन करनेवालों में दमन की शक्ति मैं हूँ। जीतने की इच्छावालों की मैं

नीति हूँ। गुप्त रखने योग्य भावों में मौन हूँ और ज्ञानवानों में साक्षात् के साथ मिलनेवाली जानकारी, पूर्ण ज्ञान मैं हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

अर्जुन! सव भूतों की उत्पत्ति का कारण भी मैं ही हूँ; क्योंकि चर और अचर ऐसा कोई भी भूत नहीं है जो मुझसे रहित हो। मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ। सव मेरे ही सकाश से हैं।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

परंतप अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। अपनी विभूतियों का विस्तार तो मैंने संक्षेप से कहा है, वस्तुतः वे अनन्त हैं।

इस अध्याय में कुछ ही विभूतियों का स्पष्टीकरण किया गया है क्योंकि अगले ही अध्याय में अर्जुन इन सबको देखना चाहता है; क्योंकि प्रत्यक्ष दर्शन से ही विभूतियाँ समझ में आती हैं। विचारधारा समझने के लिए इसी से थोड़ा अर्थ दिया गया।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।४१।।

जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तुएँ हैं, उन-उन को तू मेरे तेज के एक अंश मात्र से उत्पन्न हुई जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अथवा अर्जुन! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूँ।

उपर्युक्त विभूतियों के वर्णन का तात्पर्य यह नहीं है कि आप या अर्जुन इन सभी वस्तुओं को पूजने लगे वल्कि श्रीकृष्ण का आशय केवल इतना ही है कि

इन सब ओर से श्रद्धा समेटकर केवल उन अविनाशी परमात्मा में लगावें। इतने से ही उनका कर्त्तव्य पूर्ण हो जाता है।

निष्कर्ष :

इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा कि, अर्जुन! मैं तुझे पुनः उपदेश करूँगा क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है। पहले कह चुके हैं, फिर भी कहने जा रहे हैं; क्योंकि पूर्तिपर्यन्त सद्गुरु से सुनने की आवश्यकता रहती है। मेरी उत्पत्ति को न देवता और न महर्षिगण ही जानते हैं क्योंकि मैं उनका भी आदि कारण हूँ; क्योंकि अव्यक्त स्थिति के पश्चात् की सार्वभौम अवस्था को वही जानता है, जो हो चुका है। जो मुझ अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकों के महान् ईश्वर को साक्षात्कार सहित जानता है वही ज्ञानी है।

बुद्धि, ज्ञान, असंमूढ़ता, इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, सन्तोष, तप, दान और कीर्ति के भाव अर्थात् दैवी सम्पद् के उक्त लक्षण मेरी देन हैं। सात महर्षिजन अर्थात् योग की सात भूमिकाएं, उससे भी पहले होनेवाले तदनुरूप अंतःकरण चतुष्टय और इनके अनुकूल मन जो स्वयंभू है, स्वयं रचयिता है - ये सब मुझमें भाववाले, लगाव और श्रद्धावाले हैं, जिनकी संसार में सम्पूर्ण प्रजा है; ये सब मुझसे ही उत्पन्न हैं अर्थात् साधनामयी प्रवृत्तियाँ मेरी ही प्रजा हैं। इनकी उत्पत्ति अपने से नहीं, गुरु से होती है। जो उपर्युक्त मेरी विभूतियों को साक्षात् जान लेता है, वह निःसन्देह मुझमें एकीभाव से प्रवेश करने योग्य है।

अर्जुन! मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ - ऐसा जो श्रद्धा से जान लेते हैं वे अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हैं, निरन्तर मुझमें मन, बुद्धि और प्राणों से लगनेवाले होते हैं, आपस में मेरा गुण-चिन्तन और मुझमें रमण करते हैं। उन निरन्तर मुझसे संयुक्त हुए पुरुषों को मैं योग में प्रवेश करनेवाली बुद्धि प्रदान करता हूँ। यह भी मेरी ही देन है। किस प्रकार बुद्धियोग देते हैं? तो अर्जुन! 'आत्मभावस्थ' - उनके आत्मा में जागृत होकर खड़ा हो जाता हूँ और उनके हृदय में अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को ज्ञानरूपी दीपक से नष्ट करता हूँ।

अर्जुन ने प्रश्न किया कि भगवन्! आप परम पवित्र, सनातन, दिव्य, अनादि और सर्वत्र व्याप्त हैं - ऐसा महर्षिगण कहते हैं तथा वर्तमान में देवर्षि नारद,

देवल, व्यास और आप भी वही कहते हैं। यह सत्य भी है कि आपको न देवता जानते हैं और न दानव। स्वयं आप जिसे जना दें, वही जान पाता है। आप ही अपनी विभूतियों को कहने में समर्थ हैं। अतः जनार्दन! आप अपनी विभूतियों को विस्तार से कहिए। पूर्तिपर्यन्त इष्ट से सुनते रहने की उत्कण्ठा बनी रहनी चाहिए। आगे इष्ट के अन्तराल में क्या है? उसे साधक क्या जाने।

इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने एक-एक करके अपनी इक्यासी विभूतियों का लक्षण संक्षेप में बताया - जिनमें से कुछ तो योग-साधन में प्रवेश करने के साथ मिलनेवाली अन्तरंग विभूतियों का चित्रण है और शेष कुछ समाज में ऋद्धियों-सिद्धियों के साथ पायी जानेवाली विभूतियों पर प्रकाश डाला और अन्त में उन्होंने बल देकर कहा - अर्जुन! बहुत कुछ जानने से तेरा क्या प्रयोजन है? इस संसार में जो कुछ भी तेज और ऐश्वर्ययुक्त वस्तुएँ हैं, वह सब मेरे तेज के अंश मात्र में स्थित हैं। वस्तुतः मेरी विभूतियाँ अपार हैं। ऐसा कहते हुए योगेश्वर ने इस अध्याय का पटाक्षेप किया।

इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों की मात्र बौद्धिक जानकारी दी, जिससे अर्जुन की श्रद्धा सब ओर से सिमटकर एक इष्ट में लग जाए; किन्तु बन्धुओ! सब कुछ सुन लेने और बाल की खाल निकालकर समझ लेने के बाद भी चलकर उसे जानना शेष ही रहता है। यह क्रियात्मक पथ है।

सम्पूर्ण अध्याय में योगेश्वर की विभूतियों का ही वर्णन है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे `विभूति वर्णनं' नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में `विभूति वर्णन' नामक दसवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः `यथार्थ गीता' भाष्ये `विभूति वर्णनं' नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथैकादशोऽध्यायः

गत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया; किन्तु अर्जुन को लगा कि उसने विस्तार से सुन लिया है। उसने कहा कि आपकी वाणी सुनने से मेरा सारा मोह नष्ट हो गया; किन्तु आपने जो कहा, उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। सुनने और देखने में पश्चिम और पूर्व का अन्तर है। चलकर देखने पर वस्तु-स्थिति कुछ और ही होती है। अर्जुन ने उस रूप को देखा तो काँपने लगा, क्षमा-याचना करने लगा। क्या ज्ञानी भयभीत होता है? उसे कोई जिज्ञासा रह जाती है? नहीं, बौद्धिक स्तर की जानकारी सदैव धूमिल रहती है। हाँ, वह यथार्थ जानकारी के लिये प्रेरणा अवश्य देती है। इसलिए अर्जुन ने निवेदन किया-

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।।१।।

भगवन्! मुझ पर अनुग्रह करने के लिये, जो आपके द्वारा गोपनीय अध्यात्म में प्रवेश दिलानेवाला उपदेश कहा गया, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया। मैं ज्ञानी हो गया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

क्योंकि हे कमलनेत्र! मैंने भूतों की उत्पत्ति और प्रलय आपसे विस्तारपूर्वक सुना है तथा आपका अविनाशी प्रभाव भी सुना है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

हे परमेश्वर! आप अपने को जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है; किन्तु मैंने उसे केवल सुना है। अतः हे पुरुषोत्तम! उस ऐश्वर्ययुक्त स्वरूप को मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

हे प्रभो! मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना सम्भव है, यदि आप ऐसा मानते हों, तो योगेश्वर! आप अपने अविनाशी स्वरूप का मुझे दर्शन कराइये। इस पर योगेश्वर ने कोई प्रतिवाद नहीं किया; क्योंकि पहले भी वे स्थान-स्थान पर कह आये हैं कि तू मेरा अनन्य भक्त और प्रिय सखा है। अतः बड़ी प्रसन्नता के साथ उन्होंने अपना स्वरूप दरसाया-

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

पार्थ! मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकार के और नाना वर्ण तथा आकृतिवाले दिव्य स्वरूप को देख।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

हे भारत! अदिति के बारह पुत्रों, आठ वसुओं, एकादश रुद्रों, दोनों अश्विनी कुमारों और उनचास मरुद्गणों को देख तथा अन्य बहुत से, पहले तुम्हारे द्वारा कभी न देखे हुए, आश्चर्यमय रूपों को देख।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

अर्जुन! अब मेरे इस शरीर में एक ही स्थान पर स्थित हुए चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह देख।

इस प्रकार तीनों श्लोकों तक भगवान लगातार दिखाते चले गये किन्तु अर्जुन को कुछ दिखायी नहीं पड़ा (वह आँखें मलता रह गया) अतः ऐसा दिखाते हुए भगवान् सहसा रुक जाते हैं और कहते हैं-

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

अर्जुन! तू मुझे अपने नेत्रों द्वारा अर्थात् बौद्धिक दृष्टि द्वारा देखने में समर्थ नहीं है इसलिए मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक दृष्टि देता हूँ, जिससे तू मेरे प्रभाव और योगशक्ति को देख।

इधर योगेश्वर श्रीकृष्ण के कृपा-प्रसाद से अर्जुन को वही दृष्टि प्राप्त हुई, उसने देखा और उधर योगेश्वर व्यास के कृपा-प्रसाद से वही दृष्टि संजय को मिली थी। जो कुछ अर्जुन ने देखा, अक्षरशः वही संजय ने भी देखा और उसके प्रभाव से अपने को कल्याण का भागी बनाया। स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण एक योगी के समकक्ष हैं।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

संजय बोला - हे राजन्! महायोगेश्वर हरि ने इस प्रकार कहकर उसके उपरान्त पार्थ को अपना परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखाया। जो स्वयं योगी है और दूसरों को भी योग प्रदान करने की जिसमें क्षमता हो, जो योग का स्वामी हो, उसे योगेश्वर कहते हैं? इसी प्रकार सर्वस्व का हरण करनेवाला हरि है। यदि केवल दुःखों का हरण किया और सुख छोड़ दिया, तो दुःख आयेगा। अतः सब पापों के नाश के साथ सर्वस्व का हरण करके अपना स्वरूप देने में जो सक्षम है, वह हरि है। उन्होंने पार्थ को अपना दिव्य स्वरूप दिखाया। सामने तो खड़े ही थे।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुत दर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।

अनेक मुख और नेत्रों से युक्त, अनेक अद्भुत् दर्शनोंवाले, अनेक दिव्य भूषणों से युक्त और अनेक दिव्य शस्त्रों को हाथ से उठाये तथा-

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किये हुए, दिव्य गन्ध का अनुलेपन किये हुए, सव प्रकार आश्चर्यों से युक्त सीमारहित विराट् स्वरूप परमदेव को दृष्टि मिलने पर अर्जुन ने देखा।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

(अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र, संयमरूपी संजय - जैसा पीछे आया है) संजय बोला - हे राजन्! आकाश में एक साथ हजार सूर्यों के उदय होने से जितना प्रकाश होता है, वह भी विश्वरूप उन महात्मा के प्रकाश के सदृश कदाचित् ही हो। यहाँ श्रीकृष्ण महात्मा ही हैं, योगेश्वर थे।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

पाण्डुपुत्र अर्जुन ने (पुण्य ही पाण्डु है। पुण्य ही अनुराग को जन्म देता है) उस समय अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत् को उन परमदेव के शरीर में एक जगह स्थित देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

इसके पश्चात् आश्चर्य से युक्त हर्षित रोमोंवाला वह अर्जुन परमात्म देव को शिर से प्रणाम कर (पहले भी प्रणाम करता था; किन्तु प्रभाव देखने पर सादर प्रणाम कर) हाथ जोड़कर बोला। यहाँ अर्जुन ने अन्तःकरण से नमन किया और कहा-

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्
ऋषींश्चसर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

हे देव! आपके शरीर में मैं सम्पूर्ण देवों को तथा अनेक भूतों के समुदायों को, कमल के आसन पर बैठे हुए ब्रह्मा को, महादेव को, सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्य सर्पों को देखता हूँ। यह प्रत्यक्ष दर्शन था, कोरी कल्पना नहीं; किन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब योगेश्वर, पूर्णत्व प्राप्त महापुरुष हृदय से दृष्टि प्रदान करें। यह साधनगम्य है।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

विश्व के स्वामी! मैं आपको अनेक हाथ-पेट-मुख और नेत्रों से संयुक्त तथा सब ओर से अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! न मैं आपके आदि को, न मध्य को और न अन्त को ही देखता हूँ अर्थात् आपके आदि, मध्य और अन्त का निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।१७।।

मैं आपको मुकुटयुक्त, गदायुक्त, चक्रयुक्त, सब ओर से प्रकाशमान तेजपुंज स्वरूप, प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के सदृश देखने में दुष्कर अर्थात् कठिनाई से देखा जानेवाला और सब ओर से बुद्धि आदि से ग्रहण न हो सकनेवाला

अप्रमेय देखता हूँ। इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों से पूर्णतया समर्पित होकर योगेश्वर श्रीकृष्ण को इस रूप में देखकर अर्जुन उनकी स्तुति करने लगा-

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

भगवन्! आप जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् अक्षय परमात्मा हैं। आप इस जगत् के परम आश्रय हैं, आप शाश्वत धर्म के रक्षक हैं तथा आप अविनाशी सनातन पुरुष हैं - ऐसा मेरा मत है। आत्मा का स्वरूप क्या है? शाश्वत है, सनातन है, अव्यक्त रूप है, अविनाशी है। यहाँ श्रीकृष्ण का क्या स्वरूप है? वही शाश्वत, सनातन, अव्यय, अविनाशी! अर्थात् प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष भी उसी आत्म-भाव में स्थित होता है। तभी तो भगवान् और आत्मा एक ही लक्षणवाले हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

हे परमात्मन्! मैं आपको आदि, मध्य और अन्त से रहित, अनन्त सामर्थ्य से युक्त, अनन्त हाथोंवाला (पहले हजारों थे, अब अनन्त हो गये), चन्द्रमा और सूर्यरूपी नेत्रोंवाला (तब तो भगवान काने हो गये! एक आँख चन्द्रमा की तरह क्षीण प्रकाशवाली और दूसरी सूर्य की तरह सतेज, ऐसा कुछ नहीं है। सूर्य के समान प्रकाश प्रदान करने वाला और चन्द्रमा की तरह शीतलता प्रदान करनेवाला गुण भगवान् में है। शशि-सूर्य मात्र प्रतीक हैं। अर्थात् चन्द्रमा और सूर्य की दृष्टि वाले) तथा प्रज्वलित अग्निरूपी मुखवाला तथा अपने तेज से इस जगत् को तपाते हुए देखता हूँ।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।

दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

हे महात्मन्! अन्तरिक्ष और पृथ्वी के बीच का सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एकमात्र आपसे ही परिपूर्ण हैं। आपके इस अलौकिक, भयंकर रूप को देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

वे देवताओं के समूह आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके गुणों का गान कर रहे हैं। मर्हषि और सिद्धों के समुदाय स्वस्तिवाचन अर्थात् 'कल्याण हो', ऐसा कहते हुए सम्पूर्ण स्तोत्रों द्वारा आपकी स्तुति कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुर सिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।२२।।

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वेदेव, अश्विनी कुमार, वायुदेव और पितरों तथा गन्धर्व-यक्ष-राक्षस और सिद्धों के समुदाय सभी आश्चर्य से आपको देख रहे हैं अर्थात् देखते हुए भी समझ नहीं पा रहे हैं क्योंकि उनके पास वह दृष्टि ही नहीं है। श्रीकृष्ण ने पीछे वताया था कि आसुरी स्वभाववाले लोग मुझे तुच्छ कहकर सम्वोधित करते हैं, सामान्य मनुष्य-जैसा मानते हैं जब कि मैं परमभाव में परमेश्वर रूप में स्थित हूँ। यद्यपि हूँ मनुष्य-शरीर के आधारवाला। उसी का विस्तार यहाँ है कि वे आश्चयं से देख रहे हैं, यथार्थतः समझ नहीं पा रहे हैं - नहीं देखते हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।।२३।।

महाबाहो! (श्रीकृष्ण महाबाहु हैं और अर्जुन भी। प्रकृति से परे महान् सत्ता में जिसका कार्यक्षेत्र हो, वह महाबाहु है। श्रीकृष्ण महानता के क्षेत्र में पूर्ण हैं, अधिकतम सीमा में हैं, अर्जुन उसी की प्रवेशिका में है, मार्ग में है। मंजिल मार्ग का दूसरा छोर ही तो है।) महाबाहु योगेश्वर! आपके बहुत मुख और नेत्रों वाले, बहुत हाथ-जंघा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले, अनेक विकराल दाढ़ोंवाले महान् रूप को देखकर सब लोक व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ। अब अर्जुन को कुछ भय हो रहा है कि श्रीकृष्ण इतने महान् हैं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशाल नेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।।२४।।

विश्व में सर्वत्र अणु रूप से व्याप्त हे विष्णु! आकाश को स्पर्श किये हुए प्रकाशमान, अनेक रूपों से युक्त, फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त आपको देखकर विशेष रूप से भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धैर्य और मन के समाधानरूपी शान्ति को नहीं पा रहा हूँ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

आपके विकराल दाढ़ोंवाले और कालाग्नि (काल के लिये भी अग्नि है परमात्मा) के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मैं दिशाओं को नहीं जान पा

रहा हूँ। चारों ओर प्रकाश देखकर दिशा-भ्रम हो रहा है। आपका यह रूप देखते हुए मुझे सुख भी नहीं मिल रहा है। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।

वे सब ही धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदाय सहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं और भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण (जिससे अर्जुन बहुत भयभीत था, वह कर्ण) एवं हमारी ओर के भी प्रधान योद्धाओं सहित सब के सब-

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।।२७।।

बड़े वेग से आपके विकराल दाढ़ोंवाले भयानक मुखों में प्रवेश कर रहे हैं तथा उनमें से कितने ही चूर्ण हुए सिरों सहित आपके दाँतों के बीच में लगे हुए दिखाई पड़ रहे हैं। वे किस वेग से प्रवेश कर रहे हैं? अब उनका वेग देखें-

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।।२८।।

जैसे नदियों के बहुत से जल-प्रवाह (अपने में विकराल होते हुए भी) समुद्र की ओर दौड़ते हैं, समुद्र में प्रवेश करते हैं, ठीक उसी प्रकार वे शूरवीर मनुष्यों के समुदाय आपके प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। अर्थात् वे अपने में शूरवीर तो हैं किन्तु आप समुद्रवत् हैं। आपके समक्ष उनका बल अत्यल्प है। वे किसलिए और किस प्रकार प्रवेश कर रहे हैं? इसके लिए उदाहरण प्रस्तुत है।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

जैसे पतंगा नष्ट होने के लिए ही प्रज्वलित अग्नि में अति वेग से प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब प्राणी भी अपने नाश के लिए आपके मुखों में अत्यन्त बढ़े हुए वेग से प्रवेश कर रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

आप उन समस्त लोकों को प्रज्वलित मुखों द्वारा सब ओर से निगलते हुए चाट रहे हैं, उनका आस्वादन कर रहे हैं। हे व्यापनशील परमात्मन्! आपकी उग्र प्रभा सम्पूर्ण जगत् को अपने तेज से व्याप्त करके तपा रही है। तात्पर्य यह है कि पहले आसुरी सम्पद् परमतत्त्व में विलीन हो जाती है, उसके पश्चात् दैवी सम्पद् का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। इसलिए वह भी उसी स्वरूप में विलीन हो जाती है। अर्जुन ने देखा कि कौरव पक्ष, तदनन्तर उसके अपने पक्ष के योद्धा श्रीकृष्ण के मुख में विलीन होते जा रहे हैं। उसने पूछा-

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

मुझे बताइये कि भयंकर आकारवाले आप कौन हैं? हे देवों में श्रेष्ठ! आपको नमस्कार है, आप प्रसन्न हों। आदि स्वरूप! मैं आपको भली प्रकार जानना चाहता हूँ (जैसे, आप कौन हैं? क्या करना चाहते हैं); क्योंकि आपकी

प्रवृत्ति अर्थात् चेष्टाओं को नहीं समझ पा रहा हूँ। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण बोले-

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

अर्जुन! मैं लोकों का नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ और इस समय इन लोकों को नष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रतिपक्षियों की सेना में स्थित जितने योद्धा हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे, वे जीवित नहीं बचेंगे इसीलिए प्रवृत्त हुआ हूँ।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

इसलिए अर्जुन! तू युद्ध के लिए खड़ा हो, यश प्राप्त कर। शत्रुओं को जीत, समृद्धि-सम्पन्न राज्य को भोग। यह सब शूरवीर मेरे द्वारा पहले से ही मारे हुए हैं। सव्यसाचिन्! तू केवल निमित्त मात्र बन।

प्रायः सर्वत्र श्रीकृष्ण ने कहा है कि वह परमात्मा न कुछ स्वयं करता है, न कराता है, न संयोग ही जोड़ता है। मोहावृत्त बुद्धि के कारण ही लोग कहते हैं कि परमात्मा कराता है; किन्तु यहाँ वे स्वयं ताल ठोंककर खड़े हो जाते हैं कि, अर्जुन! कर्त्ता-धर्त्ता तो मैं हूँ। मेरे द्वारा ये पहले से ही मारे हुए हैं। तू खड़ा भर हो, यश ले ले। ऐसा इसलिये है कि 'सो केवल भगतन्ह हित लागी।' अर्जुन उसी अवस्था को प्राप्त कर चुका था कि भगवान स्वयं ताल ठोंककर खड़े हो गये। अनुराग ही अर्जुन है। अनुरागी के लिये भगवान सदैव खड़े हैं, उन्हीं के कर्त्ता हैं, रथी बन जाते हैं।

यहाँ गीता में तीसरी बार साम्राज्य का प्रकरण आया। पहले अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था। उसने कहा कि पृथ्वी के धन-धान्यसम्पन्न अकण्टक साम्राज्य तथा देवताओं के स्वामीपन अथवा त्रैलोक्य के राज्य में भी मैं उस उपाय को नहीं देखता, जो इन्द्रियों को सुखानेवाले मेरे इस शोक को दूर कर सकें। जब तड़पन बनी ही रहेगी, तो हमें नहीं चाहिए। योगेश्वरने कहा - इस युद्ध में हारोगे तो देवत्व और जीतने पर महामहिम की स्थिति मिलेगी और यहाँ ग्यारहवें अध्याय में कहते हैं कि ये शत्रु मेरे द्वारा मारे गये हैं, तू निमित्तमात्र भर बन जा, यश को प्राप्त कर और समृद्ध राज्य को भोग। फिर वही बात! जिस बात से अर्जुन चौंकता है, जिसमें वह शोक मिटता हुआ नहीं देखता, क्या श्रीकृष्ण फिर भी वही राज्य देंगे? नहीं, वस्तुतः विकारों के अन्त के साथ परमात्मस्वरूप की स्थिति ही वास्तविक समृद्धि है। जो स्थिर सम्पत्ति है। जिसका कभी विनाश नहीं होता - राजयोग का परिणाम है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

इन द्रोण, भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्यान्य बहुत से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओं को तू मार, भय मत कर। संग्राम में वैरियों को तू निश्चित जीतेगा इसलिए युद्ध कर। यहाँ भी योगेश्वर ने कहा कि मेरे द्वारा मारे हुए हैं। इन मरे हुए को तू मार। स्पष्ट किया कि मैं कर्त्ता हूँ, जबकि पाँचवें अध्याय के १३-१४ एवं १५ श्लोक में उन्होंने कहा था - भगवान् अकर्त्ता हैं। अठारहवें अध्याय में वे कहते हैं - शुभ अथवा अशुभ प्रत्येक कार्य के होने में पाँच माध्यम हैं - अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा और देव। जो कहते हैं कैवल्य स्वरूप परमात्मा करते हैं, वे अविवेकी हैं, यथार्थ नहीं जानते अर्थात् भगवान् नहीं करते। ऐसा विरोधाभास क्यों?

वस्तुतः प्रकृति और उस परमात्म पुरुष के बीच एक सीमा रेखा है। जब तक प्रकृति के परमाणुओं का दबाव अधिक रहता है, तब तक माया प्रेरणा देती

है और जब साधक उससे ऊपर उठ जाता है, ईश्वर, इष्ट अथवा सद्गुरु के कार्यक्षेत्र में प्रवेश प्राप्त कर लेता है, उसके बाद सद्गुरु इष्ट (याद रहे प्रेरक के स्थान पर सद्गुरु, आत्मा, परमात्मा, इष्ट, भगवान पर्यायवाची हैं। कुछ भी कहें कहता भगवान ही है।) हृदय से रथी हो जाता है, आत्मा से जाग्रत होकर उस अनुरागी साधक का स्वयं पथ-संचालन करने लग जाता है।

पूज्य महाराज जी कहते थे - "हो, जिस परमात्मा की हमें चाह है, जिस सतह पर हम खड़े हैं, उस सतह पर स्वयं उतरकर जब तक आत्मा से जागृत नहीं हो जाता, तब तक सही मात्रा में साधन का आरम्भ नहीं होता। उसके बाद जो कुछ साधक से पार लगता है, वह उनकी देन है। साधक तो निमित्त मात्र होकर उनके संकेत और आदेश पर चलता भर रहता है। साधक की विजय उनकी देन है। ऐसे अनुरागी के लिए ईश्वर अपनी दृष्टि से देखता है, दिखाता है और अपने स्वरूप तक पहुँचाता है।" यही श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे द्वारा मारे हुए इन वैरियों को मार। निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी, मैं जो खड़ा हूँ।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

संजय बोला - (जो कुछ अर्जुन ने देखा, ठीक वैसा ही संजय ने देखा है। अज्ञान से आच्छादित मन ही अन्धा धृतराष्ट्र है, लेकिन ऐसा मन भी संयम के माध्यम से भली प्रकार देखता, सुनता और समझता है) केशव के इन उपर्युक्त वचनों को सुनकर किरीटधारी अर्जुन भयभीत होकर काँपता हुआ हाथ जोड़कर, नमस्कार करके फिर श्रीकृष्ण से इस प्रकार गद्गद् वाणी से ही बोला-

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः।।३६।।

हे अन्तर्यामिन् हृषीकेश! यह उचित ही है कि आपकी कीर्ति से संसार हर्षित होता है और अनुराग को प्राप्त होता है। आपकी ही महिमा से भयभीत हुए राक्षस दिशाओं में भागते हैं और सब सिद्धगणों के समुदाय आपकी महिमा को देखकर नमस्कार करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

हे महात्मन्! ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता और सबसे बड़े आपके लिए वे सब कैसे नमस्कार न करें; क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! सत्, असत् और उनसे भी परे अक्षर अर्थात् अक्षय स्वरूप आप ही हैं। अर्जुन ने अक्षय स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन किया था। केवल बौद्धिक स्तर पर कल्पना करने या मान लेने मात्र से कोई ऐसी स्थिति नहीं मिलती, जो अक्षय हो। अर्जुन का प्रत्यक्ष दर्शन उसकी आन्तरिक अनुभूति है। उसने सविनय कहा-

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस जगत् के परम आश्रय और जाननेवाले हैं, जानने योग्य हैं तथा परमधाम हैं। हे अनन्तस्वरूप! आपसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। आप सर्वत्र हैं।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्त्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

आप ही वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजा के स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी पिता हैं। आपको हजारों बार नमस्कार है। फिर भी बार-बार नमस्कार है। अतिशय श्रद्धा और भक्ति के कारण नमन करते हुए अर्जुन को तृप्ति नहीं हो रही है। वह कहता है-

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

हे अत्यन्त सामर्थ्यवाले! आपको आगे से और पीछे से भी नमस्कार हो। हे सर्वात्मन्! आपको सब ओर से ही नमस्कार हो; क्योंकि हे अत्यन्त पराक्रमशाली! आप सब ओर से संसार को व्याप्त किये हुए हैं, इसलिये आप ही सर्वरूप और सर्वत्र हैं। इस प्रकार बारंबार नमस्कार करके भयभीत अर्जुन अपनी भूलों के लिए क्षमायाचना करता है-

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।

आपके इस प्रभाव को न जानते हुए आपको सखा, मित्र मानकर मेरे द्वारा प्रेम अथवा प्रमाद से भी हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे - इस प्रकार जो कुछ भी हठपूर्वक कहा गया है। तथा-

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

हे अच्युत! जो आप हँसी के लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिकों में अकेले अथवा उन लोगों के सामने भी अपमानित किये गये हैं, वह सब अपराध अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा कराता हूँ। किस प्रकार क्षमा करें?

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।

आप इस चराचर जगत् के पिता, गुरु से भी बड़े गुरु और अति पूजनीय हैं। जिसकी कोई प्रतिमा नहीं, ऐसे अप्रतिम प्रभाववाले! आपके समान तीनों लोकों में दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे होगा? आप सखा भी नहीं, सखा तो समकक्ष होता है।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

आप चराचर के पिता हैं, इसलिये मैं अपने शरीर को भली प्रकार आपके चरणों में रखकर, प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वर को प्रसन्न होने के लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्र के, सखा जैसे सखा के और पति जैसे प्रिय स्त्री के अपराधों को क्षमा करता है, वैसे ही आप भी मेरे अपराधों को सहन करने योग्य हैं। अपराध क्या था? हमने कभी हे यादव! हे सखा! हे कृष्ण! कहा था। समाज के बीच अथवा एकान्त में कहा था। भोजन के समय अथवा सोने के समय कहा था। क्या कृष्ण कहना अपराध था? काले थे ही, गोरे कैसे कहे जाते? यादव कहना भी अपराध नहीं था क्योंकि यदुकुल में तो जन्म ही हुआ था। सखा कहना भी अपराध नहीं था; क्योंकि स्वयं श्रीकृष्ण भी अपने को अर्जुन का सखा मानते थे। जब कृष्ण कहना अपराध ही है, एक बार कृष्ण कहने के लिये अर्जुन अनन्त बार गिड़गिड़ाकर क्षमायाचना कर रहा है, तो जप किसका करें? नाम कौन-सा लें?

वस्तुतः चिन्तन का जैसा विधान स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया है, वैसा ही आप करें। उन्होंने पीछे वताया `ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्' - अर्जुन! `ॐ' वस इतना ही अक्षय ब्रह्म का परिचायक है। इसका तू जप कर और ध्यान मेरा धर; क्योंकि उस परम भाव में प्रवेश मिल जाने के पश्चात् उन महापुरुष का भी यही नाम है, जो उस अव्यक्त का परिचायक है। प्रभाव देखने पर अर्जुन ने पाया कि ये न तो काले हैं न गोरे, न सखा हैं न यादव! यह तो अक्षय ब्रह्म की स्थितिवाले महात्मा हैं।

सम्पूर्ण गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पाँच वार ओम् के उच्चारण पर वल दिया। अब यदि आपको जप करना है, तो कृष्ण-कृष्ण न कहकर ओम् का ही जप करें। प्रायः भाविक लोग कोई-न-कोई रास्ता निकाल लेते हैं। कोई `ओम्' जपने के अधिकार और अनाधिकार की चर्चा से भयभीत है, तो कोई महात्माओं की दुहाई देता है अथवा कोई श्रीकृष्ण ही नहीं, उनसे पहले राधा और गोपियों का नाम भी उनकी शीघ्र प्रसन्नता के लोभ में जपता है; पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये उनका ऐसा जपना मात्र भावुकता है। यदि आप सचमुच भाविक हैं, तो उनके आदेश का पालन करें। वे अव्यक्त में स्थित होते हुए भी आज आपके सामने नहीं हैं लेकिन उनकी वाणी आपके समक्ष है। उनकी आज्ञा का पालन करें अन्यथा आप ही वताइये कि गीता में आपका क्या स्थान है? हाँ, इतना अवश्य है कि `अध्येष्यते च य इमं श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः' जो अध्ययन करता है, सुनता है, वह ज्ञान तथा यज्ञ को जान लेता है, शुभ लोकों को पा जाता है। अतः अध्ययन अवश्य करें।

प्राण-अपान के चिन्तन में `कृष्ण' नाम का क्रम पकड़ में नहीं आता। वहुत से लोग कोरी भावुकतावश केवल `राधे-राधे' कहने लगे हैं। आजकल अधिकारियों से काम न होने पर उनके सगे-सम्बन्धियों से, प्रेमी या पत्नी से `सोर्स' लगाकर काम चला लेने की परम्परा है। लोग सोचते हैं कि कदाचित् भगवान के घर में भी ऐसा चलता होगा; अतः उन्होंने `कृष्ण' कहना बन्द करके `राधे-राधे' कहना आरम्भ कर दिया। वे कहते हैं, `राधे-राधे! श्याम मिला दे।' राधा एक बार बिछुड़ी तो स्वयं श्याम से नहीं मिल पायी, वह आपको कैसे मिला दे? अतः अन्य किसी का कहना न मानकर श्रीकृष्ण के आदेश को आप

अक्षरशः मानें, ओम् का जप करें। हाँ, यहाँ तक उचित है कि राधा हमारा आदर्श है, उतनी ही लगन से हमें भी लगना चाहिये। यदि पाना है, तो राधा की तरह विरही बनना है।

आगे भी अर्जुन ने `कृष्ण' कहा। `कृष्ण' उनका प्रचलित नाम था। ऐसे कई नाम थे, जैसे `गोपाल'। बहुत से साधक गुरु-गुरु या गुरु का प्रचलित नाम भावुकतावश जपना चाहते हैं, किन्तु प्राप्ति के पश्चात् प्रत्येक महापुरुष का वही नाम है, जिस अव्यक्त में वह स्थित हैं। बहुत से शिष्य प्रश्न करते हैं - "गुरुदेव! जब ध्यान आपका करते हैं तो पुराना नाम `ओम्' इत्यादि क्यों जपें, `गुरु-गुरु' अथवा `कृष्ण-कृष्ण' क्यों न कहें।" किन्तु यहाँ योगेश्वर ने स्पष्ट किया कि अव्यक्त स्वरूप में विलय के साथ महापुरुष का भी वही नाम है, जिसमें वह स्थित है। `कृष्ण' सम्बोधन था, जपने का नाम नहीं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण से अर्जुन ने अपने अपराधों के लिये क्षमायाचना की, उन्हें स्वाभाविक रूप में आने की प्रार्थना की। श्रीकृष्ण मान गये, सहज हो गये अर्थात् उसे क्षमा भी कर दिया। उसने निवेदन किया-

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अभी तक अर्जुन के समक्ष योगेश्वर विश्वरूप में हैं। अतः वह कहता है कि मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूप को देखकर हर्षित हो रहा हूँ तथा मेरा मन भय से अति व्याकुल भी हो रहा है। पहले तो सखा समझता था, धनुर्विद्या में कदाचित् अपने को कुछ आगे ही पाता था; किन्तु अब प्रभाव देखकर भयभीत हो रहा है। पिछले अध्याय में प्रभाव सुनकर वह अपने को ज्ञानी मानता था। ज्ञानी को कहीं भय नहीं होता है। वस्तुतः प्रत्यक्ष दर्शन का प्रभाव ही विलक्षण होता है। सब कुछ सुन और मान लेने के बाद भी सब कुछ चलकर जानना शेष ही रहता है। वह कहता है - पहले न देखे हुए आपके इस रूप को

देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ। मेरा मन भय से व्याकुल भी हो रहा है। अतः हे देव! आप प्रसन्न हों। हे देवेश! हे जगन्निवास! आप अपने उस रूप को ही मुझे दिखाइये। कौन-सा रूप?

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्
इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।।४६।।

मैं आपको वैसे ही अर्थात् पहले की ही तरह शिर पर मुकुट धारण किये हुए, हाथ में गदा और चक्र लिये हुए देखना चाहता हूँ। इसलिये हे विश्वरूपे! हे सहस्रवाहुं! आप अपने उसी चतुर्भुज स्वरूप में होइये। कौन-सा रूप देखना चाहा? चतुर्भुज रूप! अब देखना है कि चतुर्भुज रूप है क्या?

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

इस प्रकार अर्जुन की प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्ण बोले - अर्जुन! मैंने अनुग्रहपूर्वक अपनी योगशक्ति के प्रभाव से अपना परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विश्वरूप तुझे दिखाया है, जिसे तेरे सिवाय दूसरे किसी ने पहले कभी नहीं देखा।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः
न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

अर्जुन! इस मनुष्य लोक में इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद से, न यज्ञ से, न अध्ययन से, न दान से, न क्रिया से, न उग्र तप से और न तेरे सिवाय

किसी अन्य से देखा जाने को सम्भव हूँ अर्थात् तेरे सिवाय यह रूप अन्य कोई देख नहीं सकता। तब तो गीता आपके लिए बेकार है। भगवद्दर्शन की भी योग्यतायें अर्जुन तक सीमित रह गईं, जबकि पीछे बता आये हैं कि अर्जुन! राग, भय और क्रोध से रहित अनन्य मन से मेरी शरण हुए बहुत से लोग ज्ञानरूपी तप से पवित्र होकर साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं। यहाँ कहते हैं - तेरे सिवाय न कोई देख सका है और न भविष्य में कोई देख सकेगा। अतः अर्जुन कौन है? क्या कोई पिण्डधारी है? क्या कोई शरीरधारी है? नहीं, वस्तुतः अनुराग ही अर्जुन है। अनुरागविहीन पुरुष न कभी देख सका है और न भविष्य में कभी देख सकेगा। सब ओर से चित्त समेटकर एकमात्र इष्ट के अनुरूप राग ही अनुराग है। अनुरागी के लिए ही प्राप्ति का विधान है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

इस प्रकार के मेरे इस विकराल रूप को देखकर तुझे व्याकुलता न हो और मूढ़ भाव भी न हो कि घबड़ाकर अलग हो जाओ। अब तू भयरहित और प्रीतियुक्त मन से उसी मेरे इस रूप को अर्थात् चतुर्भुज रूप को फिर देख।

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

संजय बोला - सर्वत्र वास करनेवाले देव उन वासुदेव ने अर्जुन से इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने रूप को दिखाया। फिर महात्मा श्रीकृष्ण ने "सौम्यवपुः" अर्थात् प्रसन्न होकर भयभीत अर्जुन को धैर्य दिया। अर्जुन बोला-

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

जनार्दन! आपके इस अत्यन्त शान्त मनुष्य रूप को देखकर अब मैं प्रसन्नचित्त हुआ अपने स्वभाव को प्राप्त हो गया हूँ। अर्जुन ने कहा था, भगवन्! अब आप मुझे उसी चतुर्भुज स्वरूप का दर्शन कराइये। योगेश्वर ने कराया भी; किन्तु अर्जुन ने जब देखा, तो क्या पाया? `मानुषंरूपं' - मनुष्य के रूप को देखा। वस्तुतः प्राप्ति के पश्चात् महापुरुष ही चतुर्भुज और अनन्तभुज कहलाते हैं। दो भुजावाला महापुरुष तो अनुरागी के समक्ष बैठा ही है; किन्तु अन्यत्र कहीं से कोई स्मरण करता है तो वही महापुरुष उस स्मरणकर्त्ता से जागृत (रथी) होकर उसका भी मार्ग-दर्शन करता है। `भुजा' कार्य का प्रतीक है। वे भीतर भी कार्य करते हैं बाहर भी, यही चतुर्भुज स्वरूप है। उनके हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म क्रमशः वास्तविक लक्ष्यघोष, साधनचक्र का प्रवर्तन, इन्द्रियों का दमन और निर्मल-निर्लेप कार्य-क्षमता का प्रतीक मात्र है। यही कारण है कि चतुर्भुज रूप में उन्हें देखने पर भी अर्जुन ने उन्हें मनुष्य रूप में ही पाया। चतुर्भुज महापुरुषों के शरीर और स्वरूप से कार्य करने की विधि-विशेष का नाम है, न कि चार हाथवाले कोई श्रीकृष्ण थे।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः।।५२।।

महात्मा श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! मेरा यह रूप देखने को अति दुर्लभ है, जैसा कि तूने देखा है; क्योंकि देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की इच्छा रखते हैं। वस्तुतः सभी लोग संत को पहचान ही नहीं पाते। `पूज्य सत्संगी महाराज' अन्तःप्रेरणावाले पूर्ण महापुरुष थे, लेकिन लोग उन्हें पागल समझते रहें। किसी-किसी पुण्यात्मा को आकाशवाणी हुई कि ये सद्गुरु हैं। केवल उन्होंने उन्हें हृदय से पकड़ा, उनके स्वरूप को पाया और अपनी गति पा ली। यही श्रीकृष्ण

कहते हैं कि जिनके हृदय में दैवी सम्पद् जागृत है, वे देवता भी सदा इस रूप के दर्शन की आकांक्षा रखते हैं। तो क्या यज्ञ, दान अथवा वेदाध्ययन से आप देखे जा सकते हैं? वह महात्मा कहते हैं-

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।।५३।।

न वेदों से, न तप से, न दान से और न यज्ञ से मैं इस प्रकार देखा जाने को सुलभ हूँ, जिस प्रकार तूने देखा है। तब क्या आपको देख पाने का कोई उपाय नहीं है? वे महात्मा कहते हैं, एक उपाय है-

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।५४।।

हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य भक्ति द्वारा अर्थात् सिवाय मेरे अन्य किसी देवता का स्मरण न करते हुए, अनन्य श्रद्धा से तो मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने के लिए, तत्त्व से साक्षात् जानने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ अर्थात् उसकी प्राप्ति का एकमात्र सुगम माध्यम अनन्य भक्ति है। अन्त में ज्ञान भी अनन्य भक्ति में परिणत हो जाता है, जैसा कि पीछे अध्याय सात में द्रष्टव्य है। पीछे उन्होंने कहा कि तेरे सिवाय न कोई देख सका है और न कोई देख सकेगा, जबकि यहाँ कहते हैं कि अनन्य भक्ति से न केवल मुझे देखा जा सकता है अपितु साक्षात् जाना और मुझमें प्रवेश भी पाया जा सकता है, अर्थात् अर्जुन अनन्य भक्त का नाम है, एक अवस्था का नाम है। अनुराग ही अर्जुन है। अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

हे अर्जुन! जो पुरुष मेरे द्वारा निर्दिष्ट कर्म अर्थात् नियत कर्म यज्ञार्थ कर्म करता है, `मत्परमः' मेरे परायण होकर करता है, जो मेरा अनन्य भक्त है, `संगवर्जितः' - किन्तु संग-दोष में रहते हुए वह कर्म नहीं हो सकता। अतः

संग-दोष से रहित होकर `निर्वैरः सर्वभूतेषु' - सम्पूर्ण भूत-प्राणियों में बैर-भाव से रहित है, वह मुझे प्राप्त होता है। तो क्या अर्जुन ने युद्ध किया? प्रण करके क्या उसने जयद्रथादि को मारा? यदि उन्हें मारता है, तो भगवान को न देख पाता, जबकि अर्जुन ने देखा है। इससे सिद्ध है कि गीता में एक भी श्लोक ऐसा नहीं है, जो बाह्य मार-काट का समर्थन करता हो। जो निर्दिष्ट कर्म यज्ञ की प्रक्रिया का आचरण करेगा, जो अनन्य भाव से उनके सिवाय किसी का स्मरण तक नहीं करेगा, जो संग-दोष से अलग रहेगा तो युद्ध कैसा? जब आपके साथ कोई है ही नहीं, तो आप युद्ध किससे करेंगे? सम्पूर्ण भूत प्राणियों में जो बैर-भाव से रहित है, मन से भी क़िसी को सताने की कल्पना न करे, वही मुझे प्राप्त होता है, तो क्या अर्जुन ने लड़ाई ली? कभी नहीं।

वस्तुतः संग-दोष से अलग रहकर जब आप अनन्य चिन्तन में लगते हैं, निर्धारित यज्ञ की क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, उस समय परिपंथी राग-द्वेष, काम-क्रोध इत्यादि दुर्जय शत्रु बाधा के रूप में प्रत्यक्ष ही हैं। उनका पार पाना ही युद्ध है।

निष्कर्ष :

इस अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने कहा - भगवन्! आपकी विभूतियों को मैंने विस्तार से सुना, जिससे मेरा मोह नष्ट हो गया, अज्ञान का शमन हो गया; किन्तु जैसा आपने बताया कि मैं सर्वत्र हूँ, इसे मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। यदि मेरे द्वारा देखना सम्भव हो, तो कृपया उसी स्वरूप को दिखाइए। अर्जुन प्रिय सखा था, अनन्य सेवी था अतएव योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कोई प्रतिवाद न कर तुरन्त दिखाना प्रारम्भ किया कि अब मेरे ही अन्दर खड़े सप्तर्षि और उनसे भी पूर्व होनेवाले ऋषियों को देख, ब्रह्मा और विष्णु को देख। सर्वत्र फैले मेरे तेज को देख। मेरे ही शरीर में एक स्थान पर खड़े तू चराचर जगत् को देख; किन्तु अर्जुन आँखें मलता ही रह गया। इसी प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण दो-तीन श्लोक तक अनवरत दिखाते गये किन्तु अर्जुन को कुछ भी दिखायी नहीं पड़ा। सभी विभूतियाँ योगेश्वर में उस समय भी थीं, किन्तु अर्जुन को वे सामान्य मनुष्य जैसे ही दिखायी पड़ रहे थे। तब इस प्रकार दिखाते-दिखाते योगेश्वर श्रीकृष्ण सहसा रुक जाते हैं और कहते हैं - अर्जुन! इन आँखों से तू मुझे नहीं देख सकता।

अपनी बुद्धि से तू मुझे परंख नहीं सकता। लो, अब मैं तुझे वह दृष्टि देता हूँ, जिससे तू मुझे देख सकेगा। भगवान तो सामने खड़े ही थे। अर्जुन ने देखा, वास्तव में देखा। देखने के पश्चात् क्षुद्र त्रुटियों के लिए क्षमायाचना करने लगा, जो वास्तव में त्रुटियाँ नहीं थीं। उदाहरण के लिए - भगवन्! कभी मैंने आपको कृष्ण, यादव और कभी सखा कह दिया था। इनके लिए आप मुझे क्षमा करें। श्रीकृष्ण ने क्षमा भी किया; क्योंकि अर्जुन की प्रार्थना स्वीकार कर वे सौम्य स्वरूप में आ गये, धीरज बँधाया।

वस्तुतः कृष्ण कहना अपराध नहीं था। वे सांवले थे ही, गोरे कैसे कहलाते। यदुवंश में जन्म हुआ ही था। श्रीकृष्ण स्वयं भी अपने को सखा मानते ही थे। वास्तव में प्रत्येक साधक महापुरुष को पहले ऐसा ही समझते हैं। कुछ उन्हें रूप और आकार से सम्बोधित करते हैं, कुछ उनकी वृत्ति से उन्हें पुकारते हैं और कुछ उन्हें अपने ही समकक्ष मानते हैं, उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं समझते। उनके अचिन्त्य स्वरूप को अर्जुन ने समझा तो पाया कि ये न तो काले हैं और न गोरे, न किसी कुल के हैं और न किसी के साथी ही हैं। इनके समान कोई है ही नहीं, तो सखा कैसा? बरावर कैसा? यह तो अचिन्त्य स्वरूप हैं। जिसे यह स्वयं दिखा दें, वही इन्हें देख पाता है। अतः अर्जुन ने अपनी प्रारम्भिक भूलों के लिए क्षमायाचना की।

प्रश्न उठता है कि जव कृष्ण कहना अपराध है, तो उनका नाम जपा कैसे जाय? तो जिसे योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जपने के लिये स्वयं बल दिया, जपने की जो विधि बतायी, उसी विधि से आप चिन्तन-स्मरण करें। वह है - **`ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्'** - **`ओम्'** अक्षय ब्रह्म का पर्याय है। **`ओ अहम् स ओम्'** - जो व्याप्त है, वह सत्ता मुझमें छिपी है यही है ओम् का आशय। आप इसका जप करें और ध्यान मेरा करें। रूप अपना, नाम ओम् का बताया।

अर्जुन ने प्रार्थना की कि चतुर्भुज रूप में दर्शन दीजिये। श्रीकृष्ण ने उसी सौम्य स्वरूप को धारण किया। अर्जुन ने कहा - भगवन्! आपके इस सौम्य मानव स्वरूप को देखकर अव मैं प्रकृतिस्थ हुआ। माँगा था चतुर्भुज रूप,

दिखाया `मानुषं रूपं'। वास्तव में शाश्वत में प्रवेशवाला योगी शरीर से यहाँ बैठा है, बाहर दो हाथों से कार्य करता है और साथ ही अन्तरात्मा से जागृत होकर जहाँ से भी जो भाविक स्मरण करते हैं, एक साथ सर्वत्र उनके हृदय से जागृत होकर प्रेरक के रूप में कार्य करते हैं। हाथ उनके कार्य का प्रतीक है यही चतुर्भुज है।

श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! तेरे सिवाय मेरे इस रूप को न कोई देख सका है और भविष्य में न कोई देख सकेगा। तब गीता हमारे लिये व्यर्थ है। किन्तु नहीं, योगेश्वर कहते हैं - एक उपाय है। जो मेरा अनन्य भक्त है, मेरे सिवाय जो दूसरे किसी का स्मरण न करके निरन्तर मेरा ही चिन्तन करनेवाला है, उसकी अनन्य भक्ति के द्वारा मैं प्रत्यक्ष देखने को (जैसा तूने देखा है), तत्त्व से जानने को और प्रवेश करने को भी सुलभ हूँ। अर्थात् अर्जुन अनन्य भक्त था। भक्ति का परिमार्जित रूप है अनुराग, इष्ट के अनुरूप लगाव। `मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।' - अनुरागविहीन पुरुष न कभी पाया है और न पा सकेगा। अनुराग नहीं है तो कोई लाख योग करे, जप करे, तप करे या दान करे `वह' नहीं मिलता। अतः इष्ट के अनुरूप राग अथवा अनन्य भक्ति नितान्त आवश्यक है।

अन्त में श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! मेरे द्वारा निर्दिष्ट कर्म को कर, मेरा अनन्य भक्त होकर कर, मेरी शरण होकर कर किन्तु संग-दोष से अलग रहकर। संग-दोष में यह कर्म हो ही नहीं सकता। अतः संग-दोष इस कर्म के सम्पादित होने में बाधक हैं। जो वैर-भाव से रहित है, वही मुझे प्राप्त करता है। जब संग-दोष नहीं है, जहाँ हमें छोड़कर दूसरा कोई है ही नहीं, वैर का मानसिक संकल्प भी नहीं है, तो युद्ध कैसा? बाहर दुनिया में लड़ाई-झगड़े होते रहते हैं; किन्तु विजय जीतनेवालों को भी नहीं मिलती। दुर्जय संसाररूपी शत्रु को असंगतारूपी शस्त्र से काटकर परम में प्रवेश पा जाना ही वास्तविक विजय है, जिसके पीछे हार नहीं है।

इस अध्याय में पहले तो योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दृष्टि प्रदान की, फिर अपने विश्वरूप का दर्शन कराया। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण-अर्जुन के सम्वाद में 'विश्वरूप दर्शनयोग' नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नामैकादशोऽध्यायः।।११।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ द्वादशोऽध्यायः

एकादश अध्याय के अन्त में श्रीकृष्ण ने बार-बार बल दिया था कि, अर्जुन! मेरा यह स्वरूप जिसे तूने देखा, तेरे सिवाय न पहले कभी देखा गया है और न भविष्य में कोई देख सकेगा। मैं न तप से, न यज्ञ से और न दान से ही देखे जाने को सुलभ हूँ; किन्तु अनन्य भक्ति के द्वारा अर्थात् मेरे अतिरिक्त अन्यत्र कहीं श्रद्धा बिखरने न पाये, निरन्तर तैलधारावत् मेरे चिन्तन के द्वारा ठीक इसी प्रकार जैसा तूने देखा, मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए, तत्त्व से साक्षात् जानने के लिये और प्रवेश करने के लिए भी सुलभ हूँ। अतः अर्जुन! निरन्तर मेरा ही चिन्तन कर, भक्त वन! अध्याय के अन्त में उन्होंने कहा था, अर्जुन! तू मेरे ही द्वारा निर्धारित किये गये कर्म को कर। `मत्परमः' अपितु मेरे परायण होकर कर। अनन्य भक्ति ही उसकी प्राप्ति का माध्यम है। इस पर अर्जुन का प्रश्न स्वाभाविक था कि जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं और जो सगुण आपकी उपासना करते हैं इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

यहाँ इस प्रश्न को अर्जुन ने तीसरी बार उठाया है। अध्याय तीन में उसने कहा था कि, भगवन्! यदि निष्काम कर्मयोग की अपेक्षा सांख्ययोग आपको श्रेष्ठ मान्य है, तो आप मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? इस पर श्रीकृष्ण ने कहा था - अर्जुन! निष्काम कर्म मार्ग अच्छा लगे चाहे ज्ञान-मार्ग, दोनों ही दृष्टियों से कर्म तो करना ही पड़ेगा। इतने पर भी जो इन्द्रियों को हठ से रोककर मन से विषयों का स्मरण करता है वह दम्भाचारी है, ज्ञानी नहीं; अतः अर्जुन! तू कर्म कर। कौन-सा कर्म करें? तो `नियतं कुरु कर्म त्वं' - निर्धारित किये हुए कर्म को कर! निर्धारित कर्म क्या है? तो बताया - यज्ञ की प्रक्रिया ही एकमात्र कर्म है। यज्ञ की विधि वताया, जो आराधना-चिन्तन की विधि-विशेष है, परम में प्रवेश दिलानेवाली प्रक्रिया है। जव निष्काम कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों में ही

कर्म करना है, यज्ञार्थ कर्म करना है, क्रिया एक ही है तो अन्तर कैसा? भक्त कर्मों का समर्पण करके इष्ट के आश्रित होकर यज्ञार्थ कर्म में प्रवृत्त होता है, तो दूसरा सांख्य योगी अपनी शक्ति को समझकर (अपने भरोसे) उसी कर्म में प्रवृत्त होता है। पूरा श्रम करता है।

अध्याय पाँच में अर्जुन ने पुनः प्रश्न किया - भगवन्! आप कभी सांख्य-माध्यम से कर्म करने की प्रशंसा करते हैं, तो कभी समर्पण-माध्यम से निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं - इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? यहाँ तक अर्जुन समझ चुका था कि कर्म दोनों दृष्टियों से करना होगा फिर भी दोनों में श्रेष्ठ मार्ग वह चुनना चाहता है। श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! दोनों ही दृष्टियों से कर्म में प्रवृत्त होनेवाले मुझको ही प्राप्त होते हैं, किन्तु सांख्य-मार्ग की अपेक्षा निष्काम कर्म-मार्ग श्रेष्ठ है। निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान किये बिना न कोई योगी होता है और न ज्ञानी। सांख्ययोग दुष्कर है, उसमें कठिनाइयाँ अधिक हैं।

यहाँ तीसरी बार अर्जुन ने यही प्रश्न रखा कि, भगवन्! आपमें अनन्य भक्ति से लगनेवाले और अव्यक्त अक्षर की उपासना में (सांख्यमार्ग से) लगनेवाले इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है?

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

'एवं' अर्थात् इस प्रकार जो अभी-अभी आपने विधि बतायी है, ठीक इसी विधि के अनुसार अनन्य भक्ति से आपकी शरण लेकर आपसे निरन्तर संयुक्त होकर आपको भली प्रकार उपासते हैं और दूसरे जो आपकी शरण न लेकर स्वतन्त्र रूप से अपने भरोसे उसी अक्षय और अव्यक्त स्वरूप की उपासना करते हैं जिसमें आप भी स्थित हैं, इन दोनों प्रकार के भक्तों में अधिक उत्तम योगवेत्ता कौन है? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा -

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

अर्जुन! मुझमें मन को एकाग्र करके निरन्तर मुझसे संयुक्त हुए जो भक्तजन परम से सम्बन्ध रखनेवाली श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझे भजते हैं, वे मुझे योगियों में भी अति उत्तम योगी मान्य हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को भली प्रकार संयत करके मनबुद्धि के चिन्तन से अत्यन्त परे, सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप, सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, अव्यक्त, आकाररहित और अविनाशी ब्रह्म की उपासना करते हैं, सम्पूर्ण भूतों के हित में लगे हुए और सब में समान भाववाले वे योगी भी मुझे ही प्राप्त होते हैं। ब्रह्म के उपर्युक्त विशेषण मुझसे भिन्न नहीं हैं; किन्तु-

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

उन अव्यक्त परमात्मा में आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषों के साधन में क्लेश विशेष है; क्योंकि देहाभिमानियों से अव्यक्त विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है। जब तक देह का भान है, तब तक अव्यक्त की प्राप्ति दुष्कर है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण सद्गुरु थे। अव्यक्त परमात्मा उनमें व्यक्त था। वे कहते हैं कि महापुरुष की शरण न लेकर जो साधक अपनी शक्ति समझते हुए आगे बढ़ता है कि मैं इस अवस्था में हूँ, आगे इस अवस्था में जाऊँगा, मैं अपने ही अव्यक्त शरीर को प्राप्त होऊँगा, वह मेरा ही रूप होगा, मैं वही हूँ। इस प्रकार सोचते प्राप्ति की प्रतीक्षा न करके अपने शरीर को ही `सोऽहं' कहने लगता है। यही इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। वह `दुःखालयम् अशाश्वतम्' में ही घूम-फिरकर खड़ा हो जाता है। किन्तु जो मेरी शरण लेकर चलता है, वह-

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।

जो मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मों अर्थात् आराधना को मुझमें अर्पण करके अनन्य भाव से योग अर्थात् आराधना प्रक्रिया के द्वारा निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं-

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

केवल मुझमें चित्त लगानेवाले उन भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार से उद्धार करनेवाला होता हूँ। इस प्रकार चित्त लगाने की प्रेरणा और विधि पर योगेश्वर प्रकाश डालते हैं-

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

इसलिये अर्जुन! तू मुझमें मन लगा, मुझमें ही बुद्धि लगा। इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। मन और बुद्धि भी न लगा सके, तब (अर्जुन ने पीछे कहा भी था कि मन को रोकना तो मैं वायु की तरह दुष्कर समझता हूँ) इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय।।९।।

यदि तू मन को मुझमें अचल स्थापित करने में समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन! योग के अभ्यास द्वारा मुझे प्राप्त होने की इच्छा कर। (जहाँ भी चित्त जाय वहाँ से घसीटकर उसे आराधना, चिन्तन-क्रिया में लगाने का नाम अभ्यास है) यदि यह भी न कर पावे तो-

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

यदि तू अभ्यास में भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म कर अर्थात् आराधना करने में तत्पर हो जा। इस प्रकार मेरी प्राप्ति के लिये कर्मों को करता हुआ तू मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धि को ही प्राप्त होगा अर्थात् अभ्यास भी पार न लगे, तो साधना-पथ में लगे भर रहो।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

यदि इसे भी करने में असमर्थ हो, तो सम्पूर्ण कर्म के फल का त्याग कर अर्थात् लाभ-हानि की चिन्ता छोड़कर 'मद्योग' के आश्रित होकर अर्थात् समर्पण के साथ आत्मवान् महापुरुष की शरण में जाओ। उनसे प्रेरित होकर कर्म स्वतः होने लगेगा। समर्पण के साथ कर्मफल के त्याग का महत्त्व बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

केवल चित्त को रोकने के अभ्यास से ज्ञान-मार्ग से कर्म में प्रवृत्त होना श्रेष्ठ है। ज्ञान माध्यम से कर्म को कार्य रूप देने की अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है; क्योंकि ध्यान में इष्ट रहता ही है। ध्यान से भी सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि इष्ट के प्रति समपर्ण के साथ ही योग पर दृष्टि रखते हुए कर्म-फल का त्याग करने से उनके योगक्षेम की जिम्मेदारी इष्ट की हो जाती है। इसलिए इस त्याग से वह तत्काल ही परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।

अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि अव्यक्त की उपासना करनेवाले ज्ञानमार्गी से समर्पण के साथ कर्म करनेवाला निष्काम कर्मयोगी श्रेष्ठ है। दोनों एक ही कर्म करते हैं, किन्तु ज्ञानमार्गी के पथ में व्यवधान अधिक हैं, उसके लाभ-हानि की जिम्मेदारी स्वयं पर रहती है, जबकि समर्पित भक्त की जिम्मेदारी महापुरुष पर होती है इसलिए वह कर्मफल-त्याग द्वारा शीघ्र ही शान्ति को प्राप्त होता है। अब शान्ति-प्राप्त पुरुष के लक्षण बताते हैं-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।

इस प्रकार शान्ति को प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतों में द्वेषभाव से रहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है और जो ममता से रहित, अहंकार से रहित, सुख-दुःख की प्राप्ति में सम तथा क्षमावान् है;

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

जो निरन्तर योग की पराकाष्ठा से संयुक्त है, लाभ तथा हानि में सन्तुष्ट है, मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए है, दृढ़ निश्चयवाला है, वह मुझमें अर्पित मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्विग्न नहीं होता, हर्ष-सन्ताप-भय और समस्त विक्षोभों से मुक्त है, वह भक्त मुझे प्रिय है।

साधकों के लिए यह श्लोक अत्यन्त उपयोगी है। उन्हें इस ढंग से रहना चाहिए कि उनके द्वारा किसी के मन को ठेस न लगे। इतना तो साधक कर सकता है, किन्तु दूसरे लोग इस आचरण से नहीं चलेंगे। वे तो संसारी हैं ही, वे तो आग उगलेंगे, कुछ भी कहेंगे; किन्तु पथिक को चाहिए कि अपने हृदय में उनके द्वारा (उनके आघातों से) भी उथल-पुथल न हो, चिन्तन में सुरत लगी रहे, क्रम न टूटे। उदाहरण के लिए आप स्वयं सड़क पर नियमानुकूल बाएँ से चल रहे हैं, कोई मदिरा पीकर चला आ रहा है, उससे बचना भी आपकी जिम्मेदारी है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

जो पुरुष आकांक्षाओं से रहित, सर्वथा पवित्र है, `दक्षः' अर्थात् आराधना का विशेषज्ञ है (ऐसा नहीं कि चोरी करता हो तो दक्ष है। श्रीकृष्ण के अनुसार कर्म एक ही है, नियत कर्म - आराधना-चिन्तन, उसमें जो दक्ष है),जो पक्ष-विपक्ष से परे है, दुखों से मुक्त है, सभी आरम्भों का त्यागी वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है। करने योग्य कोई क्रिया उसके द्वारा आरम्भ होने के लिए शेष नहीं रहती।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।१७।।

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना ही करता है, जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, जहाँ कोई शुभ विलग नहीं है, अशुभ शेष नहीं है, भक्ति की इस पराकाष्ठा से युक्त वह पुरुष मुझे प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।१८।।

जो पुरुष शत्रु और मित्र में, मान तथा अपमान में सम है, जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ सर्वथा शान्त हैं, जो सर्दी-गर्मी-सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम है और आसक्तिरहित है तथा-

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।१९।।

जो निन्दा तथा स्तुति को समान समझनेवाला है, मननशीलता की चरम सीमा पर पहुँचकर जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ शान्त हो चुकी हैं, जिस किसी प्रकार शरीर-निर्वाह होने में जो सदैव सन्तुष्ट है, जो अपने निवास-स्थान में ममता से रहित है, भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ वह स्थिरबुद्धिवाला पुरुष मुझे प्रिय है।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

जो मेरे परायण हुए हार्दिक श्रद्धायुक्त पुरुष इस उपर्युक्त धर्ममय अमृत को भली प्रकार सेवन करते हैं, वे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं।

निष्कर्ष :

गत अध्याय के अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था कि, अर्जुन! तेरे सिवाय न कोई पाया है, न पा सकेगा - जैसा तूने देखा। किन्तु अनन्य भक्ति अथवा अनुराग से जो भजता है, वह इसी प्रकार मुझे देख सकता है, तत्त्व के साथ मुझे जान सकता है और मुझमें प्रवेश भी पा सकता है। अर्थात् परमात्मा ऐसी सत्ता है, जिसको पाया जाता है। अतः अर्जुन! भक्त बन।

अर्जुन ने इस अध्याय में प्रश्न किया कि, भगवन्! अनन्य भाव से जो आपका चिन्तन करते हैं और दूसरे वे जो अक्षर अव्यक्त की उपासना करते हैं, इन दोनों में उत्तम योगवेत्ता कौन है? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि दोनों मुझे ही प्राप्त होते हैं क्योंकि मैं अव्यक्त स्वरूप हूँ। किन्तु जो इन्द्रियों को वश में रखते हुए मन को सब ओर से समेटकर अव्यक्त परमात्मा में आसक्त हैं, उनके पथ में क्लेश विशेष हैं। जब तक देह का अध्यास है, तब तक अव्यक्त स्वरूप की प्राप्ति दुःखपूर्ण है; क्योंकि अव्यक्त स्वरूप तो चित्त के निरोध और विलयकाल में मिलेगा। उसके पूर्व उसका शरीर ही बीच में बाधक बन जाता है। 'मैं हूँ', 'मैं हूँ', 'मुझे पाना है' - कहते-कहते अपने शरीर की ही ओर घूम जाता है। उसके लड़खड़ाने की अधिक सम्भावना है। अतः अर्जुन! तू सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें समर्पण कर अनन्य भक्ति से मेरा चिन्तन कर। जो मेरे परायण भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें अर्पण करके मानव शरीरधारी मुझ सगुण योगी के रूप का ध्यान द्वारा तैलधारावत् निरन्तर चिन्तन करते हैं, उनका मैं शीघ्र ही संसार-सागर से उद्धार करनेवाला हो जाता हूँ। अतः भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है।

अर्जुन! मुझमें मन को लगा। मन न लगे तो भी लगाने का अभ्यास कर। जहाँ भी चित्त जाय पुनः घसीटकर उसका निरोध कर। यह भी करने में असमर्थ है तो तू कर्म कर। कर्म एक ही है, यज्ञार्थ कर्म। तू 'कार्यम् कर्म' करता भर जा, दूसरा न कर। उतना ही कर, पार लगे चाहे न लगे। यदि यह भी करने में असमर्थ है तो स्थितप्रज्ञ, आत्मवान्, तत्त्वज्ञ महापुरुष की शरण होकर सम्पूर्ण कर्मफलों का त्याग कर। ऐसा त्याग करने से तू परमशान्ति को प्राप्त हो जायेगा।

तत्पश्चात् परमशान्ति को प्राप्त हुए भक्त के लक्षण बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - जो सम्पूर्ण भूतों में द्वेषभाव से रहित है, जो करुणा से युक्त और दयालु है, ममता और अहंकार से रहित है, वह भक्त मुझे प्रिय है। जो ध्यान-योग में निरन्तर तत्पर और आत्मवान्, आत्मस्थित है, वह भक्त मुझे प्रिय है। जिससे न किसी को उद्वेग प्राप्त होता है और स्वयं भी जो किसी से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। जो शुद्ध है, दक्ष है, व्यथाओं से उपराम है, सर्वारम्भों को त्यागकर जिसने पार पा लिया है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। सम्पूर्ण कामनाओं का त्यागी और शुभाशुभों का पार पानेवाला भक्त मुझे प्रिय है।

जो निन्दा और स्तुति में समान और मौन है, मनसहित जिसकी इन्द्रियाँ शान्त और मौन हैं, जो किसी भी प्रकार शरीर-निर्वाह में सन्तुष्ट और रहने के स्थान में ममता से रहित है, शरीर-रक्षा में भी जिसकी आसक्ति नहीं है, ऐसा स्थितप्रज्ञ भक्तिवान् पुरुष मुझे प्रिय है।

इस प्रकार श्लोक ग्यारह से उन्नीस तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने शान्तिप्राप्त योगयुक्त भक्त की रहनी पर प्रकाश डाला, जो साधकों के लिए उपादेय है। अन्त में निर्णय देते हुए उन्होंने कहा - अर्जुन! जो मेरे परायण हुआ अनन्य श्रद्धा से युक्त पुरुष इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्काम भाव से भली प्रकार आचरण में ढालते हैं, वे भक्त मुझे अतिशय प्रिय हैं। अतः समर्पण के साथ इस कर्म में प्रवृत्त होना श्रेयतर है क्योंकि उसके हानि-लाभ की जिम्मेदारी वह इष्ट सद्गुरु अपने ऊपर ले लेते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण ने स्वरूपस्थ महापुरुष के लक्षण बताये और उनकी शरण में जाने को कहा और अन्त में अपनी शरण में आने की प्रेरणा देकर उन महापुरुषों के समकक्ष अपने को घोषित किया। श्रीकृष्ण एक योगी, महात्मा थे।

इस अध्याय में भक्ति को श्रेष्ठ बताया गया, अतः इस अध्याय का नामकरण `भक्तियोग' युक्तिसंगत है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे `भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में `भक्तियोग' नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः `यथार्थ गीता' भाष्ये `भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।।१२।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

गीता के आरम्भ में ही धृतराष्ट्र का प्रश्न था कि, संजय! धर्मक्षेत्र में तथा कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पाण्डु-पुत्रों ने क्या किया? अभी तक यह नहीं बताया गया कि वह क्षेत्र है कहाँ? किन्तु जिन महापुरुष ने जिस क्षेत्र में युद्ध बताया, स्वयं ही उस क्षेत्र का प्रस्तुत अध्याय में निर्णय देते हैं कि वह क्षेत्र वस्तुतः है कहाँ?

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।१।।

कौन्तेय! यह शरीर ही एक क्षेत्र है और इसको जो भली प्रकार जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। वह उसमें फँसा नहीं है बल्कि उसका संचालक है। ऐसा उस तत्त्व को विदित करनेवाले महापुरुषों ने कहा है।

शरीर तो एक ही है, उसमें धर्मक्षेत्र और कुरुक्षेत्र - ये दो क्षेत्र कैसे? वस्तुतः इस एक ही शरीर के अन्तराल में अन्तःकरण की दो प्रवृत्तियाँ पुरातन हैं, एक तो परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाली पुण्यमयी प्रवृत्ति दैवी सम्पद् है और दूसरी है - आसुरी सम्पद्, दूषित दृष्टिकोण से जिसका गठन है, जो नश्वर संसार में विश्वास दिलाती है। जब आसुरी सम्पद् का बाहुल्य होता है, तो यही शरीर 'कुरुक्षेत्र' बन जाता है और इसी शरीर के अन्तराल में जब दैवी सम्पद् का बाहुल्य होता है, तो यही शरीर 'धर्मक्षेत्र' कहलाता है। यह चढ़ाव-उतार बराबर लगा रहता है; किन्तु तत्त्वदर्शी महापुरुष के सान्निध्य से जब कोई अनन्य भक्ति द्वारा आराधना में प्रवृत्त होता है, तो दोनों प्रवृत्तियों में निर्णायक युद्ध का सूत्रपात हो जाता है। क्रमशः दैवी सम्पद् का उत्थान और आसुरी सम्पद् का शमन हो जाता है। आसुरी सम्पद् के सर्वथा शमन के उपरान्त परम के दिग्दर्शन को

अवस्था आती है। दर्शन के साथ ही दैवी सम्पद् की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। अतः वह भी परमात्मा में स्वतः विलय हो जाती है। भजनेवाला पुरुष परमात्मा में प्रवेश पा जाता है। ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन ने देखा कि कौरव-पक्ष के अनन्तर पाण्डव-पक्ष के योद्धा भी योगेश्वर में विलीन होते जा रहे हैं। इस विलय के पश्चात् पुरुष का जो स्वरूप है, वही क्षेत्रज्ञ है। आगे देखें-

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।२।।

हे अर्जुन! तू सव क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान अर्थात् मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ। 'जो इस क्षेत्र को जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है' - ऐसा उसे साक्षात् जाननेवाले महापुरुष कहते हैं और श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ अर्थात् श्रीकृष्ण भी एक योगेश्वर ही थे। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् विकारसहित प्रकृति और पुरुष को तत्त्व से जानना ही ज्ञान है। ऐसा मेरा मत है अर्थात् साक्षात्कारसहित इनकी जानकारी का नाम ज्ञान है। कोरी बहस का नाम ज्ञान नहीं है-

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे श्रृणु।।३।।

वह क्षेत्र जैसा है और जिन विकारोंवाला है तथा जिस कारण से हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सव मुझसे संक्षेप में सुन। अर्थात् क्षेत्र विकारवाला है, किसी कारण से हुआ है, जबकि क्षेत्रज्ञ केवल प्रभाववाला है। मैं ही कहता हूँ - ऐसी वात नहीं है। ऋषि भी कहते हैं-

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमद्‌भिर्विनिश्चितैः।।४।।

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा वहुत प्रकार से गायन किया गया है तथा नाना प्रकार से वेदों की मन्त्रणा द्वारा विभाजित करके भी कहा गया है तथा विशेष रूप से निश्चित किये हुए युक्ति-युक्त ब्रह्मसूत्र के वाक्यों द्वारा भी वही कहा गया है। अर्थात् वेदान्त, महर्षि, ब्रह्मसूत्र और हम एक ही वात कहने जा रहे हैं। श्रीकृष्ण वही कहते हैं, जो इन सवने कहा है। क्या शरीर (क्षेत्र) इतना ही है, जितना दिखाई देता है? इस पर कहते हैं-

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।

अर्जुन! पंच महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर), अहंकार, बुद्धि और चित्त (चित्त का नाम न लेकर उसे अव्यक्त परा प्रकृति कहा गया। अर्थात् मूल प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है, जिसमें परा प्रकृति भी सम्मिलित है, उपर्युक्त आठों अष्टधा मूल प्रकृति है) तथा दस इन्द्रियाँ (आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा, रसना, हाथ, पैर, उपस्थ तथा गुदा), एक मन और पाँच इन्द्रियों के विषय (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श) तथा-

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख और सबका समूह स्थूल देह का यह पिण्ड, चेतना और धैर्य, इस प्रकार यह क्षेत्र विकारोंसहित संक्षेप से कहा गया। संक्षेप में यही क्षेत्र का स्वरूप है, जिसमें बोया हुआ भला और बुरा बीज संस्कारों के रूप में उगता है। शरीर ही क्षेत्र है। शरीर में गारा-मसाला किस वस्तु का है? तो यही पाँच तत्त्व, दस इन्द्रियाँ, एक मन इत्यादि जैसा लक्षण ऊपर गिनाया गया है। इन सबका सामूहिक संघात पिण्ड शरीर है। जब तक ये विकार रहेंगे, तब तक यह पिण्ड भी विद्यमान रहेंगे इसलिए कि यह विकारों से बना है।अब उस क्षेत्रज्ञ का स्वरूप देखें, जो इस क्षेत्र में लिप्त नहीं बल्कि उससे निवृत्त है-

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

हे अर्जुन! मान-अपमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, अहिंसा (अर्थात् अपनी तथा अन्य किसी की आत्मा को कष्ट न देना अहिंसा है। अहिंसा का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि चींटी मत मारो। श्रीकृष्ण ने कहा कि अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचाओ। उसको अधोगति में पहुँचाना हिंसा है और उसका उत्थान ही शुद्ध अहिंसा है। ऐसा पुरुष अन्य आत्माओं के उत्थानहेतु भी उन्मुख रहता है। हाँ, इसका आरम्भ किसी को ठेस न पहुँचाने से होता है। यह इसी का एक अंग-प्रत्यंग है) अतः अहिंसा, क्षमाभाव, मन-वाणी की सरलता,

आचार्योपासना अर्थात् श्रद्धा-भक्तिसहित सद्गुरु की सेवा और उनकी उपासना, पवित्रता, अन्तःकरण की स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीर का निग्रह और-

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

इस लोक और परलोक के देखे-सुने भोगों में आसक्ति का अभाव, अहं का अभाव, जन्म-मृत्यु, वृद्धावस्था, रोग और भोगादि में दुःख दोष का वारम्बार चिन्तन,

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।९।।

पुत्र, स्त्री, धन और गृहादि में आसक्ति का अभाव, प्रिय तथा अप्रिय की प्राप्ति में चित्त का सदैव सम रहना (क्षेत्रज्ञ की साधना स्त्री-पुत्रादि गृहस्थी की परिस्थितियों में ही आरंभ होती है।) जो -

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जन संसदि।।१०।।

मुझमें (श्रीकृष्ण एक योगी थे अर्थात् ऐसे किसी महापुरुष में) अनन्य योग से अर्थात् योग के अतिरिक्त अन्य कुछ भी स्मरण न करते हुए, अव्यभिचारिणी भक्ति (इष्ट के अतिरिक्त किसी चिन्तन का न आना), एकान्त स्थान का सेवन, मनुष्यों के समूह में रहने की आसक्ति का न होना तथा-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।११।।

आत्मा के आधिपत्यवाले ज्ञान में एकरस स्थिति और तत्त्वज्ञान के अर्थस्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार - यह सब तो ज्ञान है और इससे जो विपरीत है, वह सब अज्ञान है - ऐसा कहा गया है। उस परमतत्त्व परमात्मा के साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली जानकारी का नाम ज्ञान है। [अध्याय चार में उन्होंने कहा कि यज्ञ की पूर्ति में यज्ञ जिसे शेष छोड़ता है, उस ज्ञानामृत का पान करनेवाला सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है। अतः ब्रह्म के साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली जानकारी ज्ञान है। यहाँ भी वही कहते हैं कि तत्त्वस्वरूप

परमात्मा के साक्षात्कार का नाम ज्ञान है।] इसके विपरीत सब अज्ञान है। अमानित्व इत्यादि उपर्युक्त लक्षण इस ज्ञान के पूरक हैं। यह प्रश्न पूरा हुआ।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१२।।

अर्जुन! जो जानने योग्य है तथा जिसे जानकर मरणधर्मा मनुष्य अमृततत्त्व को प्राप्त होता है, उसे अच्छी प्रकार कहूँगा। वह आदिरहित परमब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है; क्योंकि जब तक वह अलग है, तब तक वह सत् है और जब मनुष्य उसमें समाहित हो गया तो कौन किससे कहे। एक ही रह जाता है, दूसरे का भान नहीं। ऐसी स्थिति से वह ब्रह्म न सत् है न असत् है; बल्कि जो स्वयं सहज है, वही है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१३।।

वह ब्रह्म सब ओर से हाथ-पैरवाला, सब ओर से नेत्र-सिर और मुखवाला तथा सब ओर से श्रोत्रवाला है, सुननेवाला है; क्योंकि वह संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है-

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।।१४।।

वह सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाला है, फिर भी सब इन्द्रियों से रहित है। वह आसक्तिरहित, गुणों से अतीत होने पर भी सबको धारण और पोषण करनेवाला और सभी गुणों को भोगनेवाला है अर्थात् एक-एक करके सभी गुणों को अपने में लय कर लेता है। जैसा श्रीकृष्ण कह आये हैं कि यज्ञ और तपों को भोगनेवाला मैं हूँ। अन्त में सम्पूर्ण गुण मुझमें विलय हो जाते हैं-

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१५।।

वह ब्रह्म सभी जीवधारियों के बाहर-भीतर परिपूर्ण है। चर और अचर रूप

भी वही है। सूक्ष्म होने से वह दिखाई नहीं पड़ता, अविज्ञेय है, मन-इन्द्रियों से परे है तथा अति समीप और दूर भी वही है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१६।।

अविभाज्य होकर भी वह सम्पूर्ण चराचर भूतों में अलग-अलग के सदृश प्रतीत होता है। वह जानने योग्य परमात्मा समस्त भूतों को उत्पन्न करनेवाला, भरण और पोषण करनेवाला और अन्त में संहार करनेवाला है। यहाँ बाह्य और आन्तरिक दोनों भावों की ओर संकेत किया गया है। जैसे बाहर जन्म और भीतर जागृति, बाहर पालन और भीतर योगक्षेम का निर्वाह, बाहर शरीर का परिवर्तन और भीतर सर्वस्व का विलय अर्थात् भूतों की उत्पत्ति के कारणों का लय और उस लय के साथ ही अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। यह सब उसी ब्रह्म के लक्षण हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।।१७।।

वह ज्ञेय ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति है, तम से अति परे कहा जाता है। वह पूर्ण ज्ञानस्वरूप है, पूर्ण ज्ञाता है, जानने योग्य है और ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होनेवाला है। साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली जानकारी का नाम ज्ञान है। ऐसी जानकारी द्वारा ही उस ब्रह्म का प्राप्त होना सम्भव है। वह सबके हृदय में स्थित है, उसका निवास स्थान हृदय है। अन्यत्र ढूँढ़ने पर वह नहीं मिलेगा। अतः हृदय में ध्यान तथा योगाचरण द्वारा ही उस ब्रह्म की प्राप्ति का विधान है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१८।।

हे अर्जुन! बस इतना ही क्षेत्र, ज्ञान तथा जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में कहा गया है। इसे जानकर मेरा भक्त मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है।

अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जिसे क्षेत्र कहा था, उसी को प्रकृति और जिसे क्षेत्रज्ञ कहा था, उसी को अब पुरुष शब्द से इंगित करते हैं-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति सम्भवान्।।१९।।

यह प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि जान तथा सम्पूर्ण विकार त्रिगुणमयी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए जान।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२०।।

कार्य और करण (जिसके द्वारा कार्य किये जाते हैं विवेक, वैराग्य इत्यादि तथा अशुभ कार्य होने में काम, क्रोध इत्यादि करण हैं) को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और यह पुरुष सुख-दुखों को भोगने में कारण कहा जाता है। प्रश्न उठता है कि क्या वह भोगता ही रहेगा या इससे कभी छुटकारा भी मिलेगा? जब प्रकृति-पुरुष दोनों ही अनादि हैं, तब कोई इनसे छूटेगा कैसे? इस पर कहते हैं-

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२१।।

प्रकृति के बीच में खड़ा होनेवाला पुरुष ही प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के कार्यरूप पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्मा के अच्छी तथा बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। यह कारण अर्थात् प्रकृति के गुणों का संग समाप्त होने पर ही जन्म-मृत्यु से मुक्ति मिलती है। अब उस पुरुष पर प्रकाश डालते हैं कि वह किस प्रकार प्रकृति में खड़ा है?

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२२।।

वह पुरुष उपद्रष्टा, हृदय-देश में बहुत ही समीप, हाथ-पाँव-मन जितना आपके समीप है उससे भी अधिक समीप द्रष्टा के रूप में स्थित है। उसके प्रकाश में आप भला करें, बुरा करें, उसे कोई प्रयोजन नहीं है। वह साक्षी के

रूप में खड़ा है। साधना का सही क्रम पकड़ में आने पर पथिक कुछ ऊपर उठा, उसकी ओर बढ़ा तो द्रष्टा पुरुष का क्रम बदल जाता है, वह `अनुमन्ता' अनुमति प्रदान करने लगता है, अनुभव देने लगता है। साधना द्वारा और समीप पहुँचने पर वही पुरुष `भर्ता' बनकर भरण-पोषण करने लगता है, जिसमें आपके योगक्षेम की भी व्यवस्था कर देता है। साधना और सूक्ष्म होने पर वही `भोक्ता' हो जाता है। `भोक्तारं यज्ञ तपसां' - यज्ञ, तप जो कुछ भी बन पड़ता है, सबको वह पुरुष ग्रहण करता है; और जब ग्रहण कर लेता है, उसके बाद वाली अवस्था में `महेश्वरः' - महान् ईश्वर के रूप में परिणत हो जाता है। वह प्रकृति का स्वामी बन जाता है; किन्तु अभी कहीं प्रकृति जीवित है तभी उसका मालिक है। इससे भी उन्नत अवस्था में वही पुरुष `परमात्मेति चाप्युक्तो' - जब परम से संयुक्त हो जाता है, तब परमात्मा कहलाता है। इस प्रकार शरीर में रहते हुए भी यह पुरुष आत्मा `परः' ही है, सर्वथा इस प्रकृति से परे ही है। अन्तर इतना ही है कि आरम्भ में यह द्रष्टा के रूप में था, क्रमशः उत्थान होते-होते परम का स्पर्श कर परमात्मा के रूप में परिणत हो जाता है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२३।।

इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य साक्षात्कार के साथ विदित कर लेता है, वह सब प्रकार से बरतता हुआ भी फिर नहीं जन्मता अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता। यही मुक्ति है। अभी तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ब्रह्म और प्रकृति की प्रत्यक्ष जानकारी के साथ मिलनेवाली परमगति अर्थात् उसका पुनर्जन्म से निवृत्ति पर प्रकाश डाला और अब वे उस योग पर बल देते हैं जिसकी प्रक्रिया है आराधना। क्योंकि इस कर्म को कार्यरूप दिये बिना कोई पाता नहीं।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२४।।

हे अर्जुन! उस `आत्मानम्' - परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो `आत्मना' - अपने अन्तर्चिन्तन से ध्यान के द्वारा `आत्मनि' - हृदय-देश में देखते हैं।

कितने ही सांख्ययोग के द्वारा [अर्थात् अपनी शक्ति को समझते हुए उसी कर्म में प्रवृत्त होते हैं] और अन्य बहुत से उसे निष्काम कर्मयोग द्वारा देखते हैं। समर्पण के साथ उसी नियत कर्म में प्रवृत्त होते हैं। प्रस्तुत श्लोक में मुख्य साधन है ध्यान। उस ध्यान में प्रवृत्त होने के लिए सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग दो धाराएँ हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२५।।

परन्तु दूसरे, जिनको साधना का ज्ञान नहीं है, वे इस प्रकार न जानते हुए **'अन्येभ्यः'** - दूसरे जो तत्त्व को जाननेवाले महापुरुष हैं, उनके द्वारा सुनकर ही उपासना करते हैं और वे सुनने के परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूपी संसार-सागर से निःसन्देह तर जाते हैं। अतः कुछ भी पार न लगे तो सत्संग करें।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२६।।

हे अर्जुन! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर-जंगम वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उन सम्पूर्ण को तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुई जान। प्राप्ति कब होती है? इस पर कहते हैं-

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२७।।

जो पुरुष विशेष रूप से नष्ट होते हुए चराचर सभी भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है। अर्थात् उस प्रकृति के विशेष रूप से नष्ट होने पर ही वह परमात्मस्वरूप है, इंससे पहले नहीं। इसी पर पीछे अध्याय आठ में भी कहा था, **'भूत भावोद्भवकरो विसर्गः कर्म संज्ञितः'** - भूतों के वे भाव, जो (भले अथवा बुरे) कुछ भी (संस्कार) संरचना करते हैं, उनका मिट जाना ही कर्मों की पराकाष्ठा है। उस समय कर्म पूर्ण है। वही यहाँ भी कहते हैं कि जो चराचर भूतों को नष्ट होते हुए और परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वही सही देखता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२८।।

क्योंकि वह पुरुष सर्वत्र समभाव से स्थित परमेश्वर को समान (जैसा है, वैसा ही समान) देखता हुआ अपने द्वारा स्वयं को नष्ट नहीं करता। क्योंकि जैसा था, वैसा उसने देखा इसलिये वह परमगति को प्राप्त होता है। प्राप्तिवाले पुरुष के लक्षण बताते हैं-

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।।२९।।

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति द्वारा ही किया जाता देखता है अर्थात् जब तक प्रकृति है तभी तक कर्मों का होना देखता है तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।।३०।।

जिस काल में मनुष्य भूतों के न्यारे-न्यारे भावों में एक परमात्मा को प्रवाहित स्थित देखता है तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। जिस क्षण यह अवस्था आ गई, उसी क्षण वह ब्रह्म को प्राप्त होता है। यह लक्षण भी स्थितप्रज्ञ महापुरुष का ही है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३१।।

कौन्तेय! अनादि होने से और गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होते हुए भी वास्तव में न करता है और न लिप्त ही होता है। किस प्रकार?

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३२।।

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं

होता, ठीक वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता। आगे कहते हैं-

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।।३३।।

अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण व्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। अन्त में निर्णय देते हैं-

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३४।।

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा विकार सहित प्रकृति से छूटने के उपाय को जो ज्ञानरूपी नेत्र द्वारा देख लेते हैं, वे महात्माजन परव्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं। अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को देखने की आँख ज्ञान है और ज्ञान साक्षात्कार का ही पर्याय है।

निष्कर्ष :

गीता के आरम्भ में धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र का नाम तो लिया गया, किन्तु वह क्षेत्र वस्तुतः है कहाँ? वह स्थल वताना शेप था, जिसे स्वयं शास्त्रकार ने प्रस्तुत अध्याय में स्पष्ट किया, कौन्तेय! यह शरीर ही एक क्षेत्र है। जो इसको जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। वह इसमें फँसा नहीं, बल्कि निर्लेप है। इसका संचालक है। अर्जुन! `सम्पूर्ण क्षेत्रों में मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ' अन्य महापुरुषों से अपनी तुलना की। उससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण भी एक योगी थे; क्योंकि जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसा महापुरुषों ने कहा है। मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ अर्थात् अन्य महापुरुषों की तरह मैं भी हूँ।

उन्होंने क्षेत्र जैसा है, जिन विकारोंवाला है, क्षेत्रज्ञ जिन प्रभावों वाला है, उस पर प्रकाश डाला। मैं ही कहता हूँ ऐसी वात नहीं है, महर्षियों ने भी यही कहा है। वेद के छन्दों में भी उसी को विभाजित करके दर्शाया गया है। व्रह्मसूत्र में भी वही मिलता है।

शरीर (जो क्षेत्र है) क्या इतना ही है, जितना दिखायी देता है? इसके होने के पीछे जिनका बहुत बड़ा हाथ है, उन्हें गिनाते हुए बताया कि अष्टधामूल प्रकृति, अव्यक्त प्रकृत्ति, दस इन्द्रियाँ और मन, इन्द्रियों के पाँचों विषय, आशा, तृष्णा और वासना, इस प्रकार इन विकारों का सामूहिक मिश्रण यह शरीर है। जब तक ये रहेंगे, तब तक शरीर किसी न किसी रूप में रहेगा ही। यही क्षेत्र है, जिसमें बोया भला-बुरा बीज संस्कार रूप से उगता है। जो इसका पार पा लेता है, वह क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्रज्ञ का स्वरूप बताते हुए उन्होंने ईश्वरीय गुण-धर्मों पर प्रकाश डाला और कहा कि क्षेत्रज्ञ इस क्षेत्र का प्रकाशक है।

उन्होंने बताया कि साधना के पूर्तिकाल में परमतत्त्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन ही ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ है साक्षात्कार। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, अज्ञान है। जानने योग्य वस्तु है परात्पर ब्रह्म। वह न सत् है, न असत्। इन दोनों से परे है। उसे जानने के लिए लोग हृदय में ध्यान करते हैं, बाहर मूर्ति रखकर नहीं। बहुत से लोग सांख्य माध्यम से ध्यान करते हैं तो शेष निष्काम कर्मयोग, समर्पण के साथ उसकी प्राप्ति के लिये उसी निर्धारित कर्म आराधना का आचरण करते हैं। जो उसकी विधि नहीं जानते, वे लोग तत्त्वस्थित महापुरुषों द्वारा सुनकर आचरण करते हैं। वे भी परम कल्याण को प्राप्त हो जाते हैं। अतः कुछ भी समझ में न आवे, तो उसके ज्ञाता महापुरुष का सत्संग आवश्यक है।

स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षण बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि जैसे आकाश सर्वत्र सम रहता हुआ भी निर्लेप है, जैसे सूर्य सर्वत्र प्रकाश करते हुए भी निर्लेप है ठीक इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ पुरुष सर्वत्र सम ईश्वर को जैसा है, वैसा ही देखने की क्षमतावाला पुरुष क्षेत्र से अथवा प्रकृति से सर्वथा निर्लेप है। अन्त में उन्होंने निर्णय दिया कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की जानकरी ज्ञानरूपी नेत्रों द्वारा ही सम्भव है। ज्ञान, जैसा कि पीछे बताया गया, उस परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन के साथ मिलनेवाली जानकारी है। शास्त्रों को बहुत रटकर दुहराना ज्ञान नहीं बल्कि अध्ययन तथा महापुरुषों से उस कर्म को समझकर, उस कर्म पर चलकर मनसहित इन्द्रियों के निरोध और उस निरोध के भी विलयकाल में परमतत्त्व को देखने के साथ जो अनुभूति होती है, उसी अनुभूति का नाम ज्ञान है। क्रिया

आवश्यक है। इस अध्याय में मुख्यतः क्षेत्रज्ञ का विस्तार से वर्णन किया गया। वस्तुतः क्षेत्र का स्वरूप व्यापक है, शरीर कहना तो सरल है किन्तु शरीर का सम्बन्ध कहाँ तक है? तो समग्र ब्रह्माण्ड मूल प्रकृति का विस्तार है। अनन्त अन्तरिक्षों तक आपके शरीर का विस्तार है। उनसे आपका जीवन ऊर्जस्वित है, उनके बिना आप जी नहीं सकते। यह भूमण्डल, विश्व जगत्, देश-प्रदेश और आपका यह दिखायी देनेवाला शरीर उस प्रकृति का एक टुकड़ा भी नहीं है। इस प्रकार क्षेत्र का ही इस अध्याय में विस्तार से वर्णन है, अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे `क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्रविषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में `क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योग' नाम तेरहवाँ अध्याय सम्पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः `यथार्थ गीता' भाष्ये `क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः।।१३।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

पिछले अनेक अध्यायों में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ज्ञान का स्वरूप स्पष्ट किया। अध्याय ४/१९ में उन्होंने वताया कि जिस पुरुष द्वारा सम्पूर्णता से आरम्भ किया हुआ नियत कर्म का आचरण क्रमशः उत्थान होते-होते इतना सूक्ष्म हो गया कि कामना और संकल्प का सर्वथा शमन हो गया, उस समय जिसे वह जानना चाहता है उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है, उसी अनुभूति का नाम ज्ञान है। तेरहवें अध्याय में ज्ञान को परिभाषित किया, अध्यात्मज्ञान नित्यत्वम् तत्त्वज्ञानार्थ दर्शनम् - आत्मज्ञान में एकरस स्थिति और तत्त्व के अर्थस्वरूप परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के भेद को विदित कर लेने के साथ ही ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ शास्त्रार्थ नहीं। शास्त्रों को याद कर लेना ही ज्ञान नहीं है। अभ्यास की वह अवस्था ज्ञान है, जहाँ वह तत्त्व विदित होता है। परमात्मा के साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली अनुभूति का नाम ज्ञान है, इसके विपरीत सव कुछ अज्ञान है।

इस प्रकार सव कुछ वता लेने पर भी प्रस्तुत अध्याय चौदह में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन! उन ज्ञानों में भी परम उत्तम ज्ञान को मैं फिर भी तेरे लिए कहूँगा। योगेश्वर उसी की पुनरावृत्ति करने जा रहे हैं; क्योंकि 'शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय।' भली प्रकार चिन्तन किया हुआ शास्त्र भी वार-वार देखना चाहिए। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों आप साधन-पथ पर अग्रसर होंगे, ज्यों-ज्यों उस इष्ट में प्रवेश पाते जायेंगे, त्यों-त्यों ब्रह्म से नवीन-नवीन अनुभूति मिलेगी। यह जानकारी सद्‌गुरु महापुरुष ही देते हैं इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं फिर भी कहूँगा।

सुरति (स्मृति) ऐसा पटल है, जिस पर संस्कारों का अंकन सदैव होता रहता है। यदि पथिक को इष्ट में प्रवेश दिलानेवाली जानकारी धूमिल पड़ती है,

तो उस स्मृति-पटल पर प्रकृति अंकित होने लगती है, जो विनाश का कारण है। इसलिए पूर्तिपर्यन्त साधक को इष्ट-सम्बन्धी जानकारी दुहराते रहना चाहिए। आज स्मृति जीवन्त है, किन्तु अग्रेतर अवस्थाओं में प्रवेश मिलने के साथ यह अवस्था नहीं रह जायेगी। इसीलिए पूज्य महाराज जी कहा करते थे कि ब्रह्मविद्या का चिन्तन रोज करो, एक माला रोज घुमाओ, जो चिन्तन से घुमाई जाती है, बाहर की माला नहीं।

यह तो साधक के लिए है, किन्तु जो वास्तविक सद्गुरु होते हैं वे सतत् उस पथिक के पीछे लगे रहते हैं, भीतर उसकी आत्मा से जागृत होकर तथा बाहर अपने क्रिया-कलापों से उसे अभिनव परिस्थितियों से अवगत कराते चलते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण भी महापुरुष थे। अर्जुन शिष्य के स्थान पर है, उसने उनसे सँभालने की प्रार्थना की थी। इसलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण का कथन है कि ज्ञानों में भी अति उत्तम ज्ञान को मैं पुनः तेरे लिए कहूँगा।

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

अर्जुन! ज्ञानों में भी अति उत्तम ज्ञान परम ज्ञान को मैं फिर भी तेरे लिए कहूँगा (जिसे पीछे कह चुके हैं), जिसे जानकर सब मुनिजन इस संसार से मुक्त होकर परमसिद्धि को प्राप्त होते हैं (जिसके बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रहता)।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

इस ज्ञान का `उपाश्रित्य' - नजदीक से आश्रय लेकर, क्रिया से चलकर पास पहुँचकर मेरे स्वरूप को प्राप्त हुए लोग सृष्टि के आदि में पुनः जन्म नहीं लेते और प्रलय-काल में अर्थात् शरीरान्त होते समय व्याकुल नहीं होते, क्योंकि महापुरुष के शरीर का अन्त तो उसी दिन हो जाता है, जब वह स्वरूप को प्राप्त होता है। उसके बाद उसका शरीर रहने का एक मकान मात्र रह जाता है। पुनर्जन्म का स्थान कहाँ है, जहाँ लोग जन्म लेते हैं? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

हे अर्जुन! मेरी `महद्ब्रह्म' अर्थात् अष्टधा मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है और उसमें मैं चेतनरूपी बीज को स्थापित करता हूँ, उस जड़-चेतन के संयोग से सभी भूतों की उत्पत्ति होती है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।।४।।

कौन्तेय! सब योनियों में जितने शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी `योनिः' गर्भधारण करनेवाली माता आठ भेदोंवाली मूल प्रकृति है और मैं ही बीज को स्थापन करनेवाला पिता हूँ। अन्य कोई न माता है, न पिता। जब तक जड़-चेतन का संयोग रहेगा, जन्म होते रहेंगे, निमित्त तो कोई-न-कोई बनता ही रहेगा। चेतन आत्मा जड़ प्रकृति में क्यों बँध जाती है? इस पर कहते हैं-

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।५।।

महावाहु अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुण ही इस अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं। किस प्रकार-

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।

निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणों में प्रकाश करनेवाला निर्विकार सत्त्वगुण तो `निर्मलत्वात्' - निर्मल होने के कारण सुख और ज्ञान की आसक्ति से आत्मा को शरीर में बाँधता है। सत्त्वगुण भी बन्धन ही है। अन्तर इतना ही है कि सुख एकमात्र परमात्मा में है और ज्ञान साक्षात्कार का नाम है। सत्त्वगुणी तब तक बँधा है, जब तक परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो जाता।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।

हे अर्जुन! राग का जीता-जागता स्वरूप रजोगुण है। इसे तू `कर्मसंगेन' - कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान। वह जीवात्मा को कर्म और उसके फल की आसक्ति में बाँधता है। वह कर्म में प्रवृत्ति देता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।८।।

अर्जुन! समस्त देहधारियों को मोहनेवाले तमोगुण को तू अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान। वह इस आत्मा को प्रमाद अर्थात् व्यर्थ की चेष्टा, आलस्य (कि कल करेंगे) और निद्रा द्वारा बाँधता है। निद्रा का अर्थ यह नहीं कि तमोगुणी अधिक सोता है। शरीर सोता हो ऐसी बात नहीं। `या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।' जगत् ही रात्रि है। तमोगुणी व्यक्ति इस जगत्रूपी निशा में रात-दिन व्यस्त रहता है, प्रकाश स्वरूप की ओर अचेत रहता है। यही तमोगुणी निद्रा है। जो इसमें फँसा है, सोता है। अब तीनों गुणों के बन्धन का सामूहिक स्वरूप बताते हैं-

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।।९।।

अर्जुन! सत्त्वगुण सुख में लगाता है, शाश्वत परमसुख की धारा में लगाता है, रजोगुण कर्म में प्रवृत्त करता है और तमोगुण ज्ञान को आच्छादित करके प्रमाद में अर्थात् अन्तःकरण की व्यर्थ चेष्टाओं में लगाता है। जब गुण एक ही स्थान पर एक ही हृदय में हैं, तो अलग-अलग कैसे विभक्त हो जाते हैं? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण बताते हैं-

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

हे अर्जुन! रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण बढ़ता है, वैसे ही सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण बढ़ता है तथा इसी प्रकार रजोगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है। यह कैसे पहचाना जाय कि कब और कौन-सा गुण कार्य कर रहा है?

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

जिस काल में इस शरीर तथा अन्तःकरण और सम्पूर्ण इन्द्रियों में ईश्वरीय प्रकाश और बोधशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुण विशेष वृद्धि को प्राप्त हुआ है। तथा-

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

हे अर्जुन! रजोगुण की विशेष वृद्धि होने पर लोभ, कार्य में प्रवृत्त होने की चेष्टा, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति अर्थात् मन की चंचलता, विषय-भोगों की लालसा - यह सब उत्पन्न होते हैं। अब तमोगुण की वृद्धि में क्या होता है?

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अर्जुन! तमोगुण के बढ़ने पर `अप्रकाशः' (प्रकाश परमात्मा का द्योतक है) ईश्वरीय प्रकाश की ओर न बढ़ने का स्वभाव, `कार्यम् कर्म' - जो करने योग्य प्रक्रिया विशेष है उसमें अप्रवृत्ति, अन्तःकरण में व्यर्थ की चेष्टाओं का प्रवाह और संसार में मुग्ध करनेवाली प्रवृत्तियाँ - यह सभी उत्पन्न होते हैं। इन गुणों की जानकारी से लाभ क्या है?

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।१४।।

जब यह जीवात्मा सत्त्वगुण की वृद्धिकाल में मृत्यु को प्राप्त होता है, शरीर-त्याग करता है, तब उत्तम कर्म करनेवालों के मलरहित दिव्य लोकों को प्राप्त होता है तथा-

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

रजोगुण की वृद्धि होने पर मृत्यु को प्राप्त होनेवाला कर्मों की आसक्तिवाले मनुष्यों में जन्म लेता है तथा तमोगुण की वृद्धि में मरा हुआ पुरुष मूढ़ योनियों में जन्म लेता है, जिसमें कीट-पतंगादि पर्यन्त योनियों का विस्तार है। अतः गुणों में भी मनुष्यों को सात्त्विक गुणोंवाला होना चाहिए। प्रकृति का यह बैंक आपके अर्जित गुणों को मृत्यु के उपरान्त भी उन्हें आपको सुरक्षित लौटाता है। अब देखें इसका परिणाम-

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

सात्त्विक कर्म का फल सात्त्विक, निर्मल, सुख, ज्ञान और वैराग्यादि कहा गया है; राजस कर्म का फल दुःख और तामस कर्म का फल अज्ञान है। तथा-

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है (ईश्वरीय अनुभूति का नाम ज्ञान है), ईश्वरीय अनुभूति का प्रवाह होता है। रजोगुण से निःसन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह, आलस्य (अज्ञान) ही उत्पन्न होता है। ये उत्पन्न होकर कौन-सी गति देते हैं?

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

सत्त्वगुण में स्थित हुआ पुरुष `ऊर्ध्वमूलं' - उस मूल परमात्मा की ओर प्रवाहित होता है, निर्मल लोकों में जाता है। रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्यम श्रेणी के मनुष्य होते हैं, जिनके पास न `सात्त्विकं' विवेक-वैराग्य ही होता है और न अधम कीट-पतंग योनियों में जाते हैं बल्कि पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं और निन्दित तमोगुण में प्रवृत्त हुए तामस पुरुष `अधोगतिः' अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि अधम योनियों को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार तीनों गुण किसी-न-किसी रूप में योनि के ही कारण हैं। जो पुरुष गुणों को पार कर लेते हैं, वे जन्मबन्धन से छूट जाते हैं और मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं। इस पर कहते हैं-

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

जिस काल में द्रष्टा आत्मा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्त्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अत्यन्त परे परमतत्त्व को 'वेत्ति'- विदित कर लेता है, उस समय वह पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त होता है। यह बौद्धिक मान्यता नहीं है कि गुण गुणों में बरतते हैं। साधन करते-करते एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ उस परम से अनुभूति होती है कि गुणों के सिवाय कोई कर्त्ता नहीं दिखता, उस समय पुरुष तीनों गुणों से अतीत हो जाता है। यह कल्पित मान्यता नहीं है तथा इसी पर आगे कहते हैं-

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।

पुरुष इन स्थूल शरीरों की उत्पत्ति के कारणरूप तीनो गुणों से अतीत होकर जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से विशेष रूप से मुक्त होकर अमृत तत्त्व का पान करता है। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।।२१।।

प्रभु! इन तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है और किस प्रकार के आचरणों वाला होता है तथा मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है?

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।।२२।।

अर्जुन के उपर्युक्त तीनों प्रश्नों का उत्तर देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुण के कार्यरूप ईश्वरीय प्रकाश, रजोगुण के कार्यरूप

प्रवृत्ति और तमोगुण के कार्यरूप मोह को न तो प्रवृत्त होने पर बुरा समझता है और न निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा ही करता है। तथा-

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।२३।।

जो इस प्रकार उदासीन के सदृश स्थित हुआ गुणों द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता, गुण गुण में ही बरतते हैं, ऐसा यथार्थतः जानकर उस स्थिति से चलायमान नहीं होता, तभी वह गुणों से अतीत होता है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।

जो निरन्तर स्वयं में अर्थात् आत्मभाव में स्थित है, सुख और दुःख में सम है, मिट्टी-पत्थर और स्वर्ण में भी समान भाववाला है, धैर्यवान् है, जो प्रिय और अप्रिय को वरावर समझता है, अपनी निन्दा तथा स्तुति में भी समान भाववाला है और-

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

जो मान और अपमान में सम है, मित्र और शत्रु-पक्ष में भी सम है, वह सम्पूर्ण आरम्भों से रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

श्लोक वाईस से पचीस तक गुणों से अतीत पुरुष के लक्षण और आचरण बताये गये कि वह चलायमान नहीं होता, गुणों के द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता, स्थिर रहता है। अब प्रस्तुत है गुणों से अतीत होने की विधि-.

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

जो पुरुष अव्यभिचारिणी भक्ति द्वारा अर्थात् इष्ट के अतिरिक्त अन्य सांसारिक स्मरणों से सर्वथा रहित होकर योग द्वारा अर्थात् उसी नियत कर्म द्वारा मुझे निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणों का अच्छी प्रकार उल्लंघन करके

परब्रह्म के साथ एक होने के योग्य होता है, जिसका नाम कल्प है। ब्रह्म के साथ एकीभाव हो जाना ही वास्तविक कल्प है। अनन्य भाव से नियत कर्म का आचरण किये बिना कोई भी गुणों से अतीत नहीं होता। अन्त में योगेश्वर निर्णय देते हैं-

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

हे अर्जुन! उस अविनाशी ब्रह्म का (जिसके साथ वह कल्प करता है, जिसमें वह गुणातीत एकीभाव से प्रवेश करता है), अमृत का, शाश्वत धर्म का और उस अखण्ड एकरस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् परमात्मस्थित सद्गुरु ही इन सबका आश्रय है। कृष्ण एक योगेश्वर थे। अब यदि आपको अव्यक्त, अविनाशी, ब्रह्म, शाश्वत धर्म, अखण्ड, एकरस आनन्द की आवश्यकता है तो किसी तत्त्वस्थित, अव्यक्तस्थित महापुरुष की शरण लें। उनके द्वारा ही यह सम्भव है।

निष्कर्ष :

इस अध्याय के आरम्भ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि, अर्जुन! ज्ञानों में भी अति उत्तम परमज्ञान को मैं फिर भी तेरे लिये कहूँगा, जिसे जानकर मुनिजन उपासना के द्वारा मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं फिर सृष्टि के आदि में वे जन्म नहीं लेते; किन्तु शरीर का निधन तो होना ही है। उस समय वे व्यथित नहीं होते। वे वास्तव में शरीर तो उसी दिन त्याग देते हैं, जिस दिन स्वंरूप को प्राप्त होते हैं। प्राप्ति जीते-जी होती है, किन्तु शरीर का अन्त होते समय भी वे व्यथित नहीं होते।

प्रकृति से ही उत्पन्न हुए रज, सत्त्व और तम - तीनों गुण ही इस जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं। दो गुणों को दबाकर तीसरा गुण बढ़ाया जा सकता है। गुण परिवर्तनशील हैं। प्रकृति, जो अनादि है, नष्ट नहीं होती; बल्कि गुणों का प्रभाव टाला जा सकता है। गुण मन पर प्रभाव डालते हैं। जब सत्त्वगुण की वृद्धि रहती है, तो ईश्वरीय प्रकाश और बोधशक्ति रहती है। रजोगुण रागात्मक है। उस समय कर्म का लोभ रहता है, आसक्ति रहती है और अन्तःकरण में

तमोगुण कार्य-रूप लेने पर आलस्य-प्रमाद घेर लेता है। सत्त्व की वृद्धि में मृत्यु को प्राप्त पुरुष ऊपर के निर्मल लोकों में जन्म लेते हैं। रजोगुण की वृद्धि में प्राप्त हुआ मनुष्य मानव-योनि में ही लौटकर आता है और तमोगुण की वृद्धिकाल में मनुष्य शरीर त्यागकर (पशु-कीट-पतंग इत्यादि) अधम योनि को प्राप्त होता है। इसलिए मनुष्यों को क्रमशः उन्नत गुण सात्त्विक की ओर बढ़ना चाहिए। वस्तुतः तीनों गुण किसी न किसी योनि के ही कारण हैं। गुण ही आत्मा को शरीर में बाँधते हैं इसलिए गुणों से अतीत होना चाहिए।

वे जिससे मुक्त होते हैं, उसका स्वरूप बताते हुए योगेश्वर ने कहा कि अष्टधा मूल प्रकृति गर्भ को धारण करनेवाली माता है और मैं ही बीजरूप पिता हूँ, अन्य न कोई माता है न पिता। जब तक यह क्रम रहेगा, तब तक चराचर जगत् में निमित्त रूप से कोई न कोई माता-पिता बनते रहेंगे; किन्तु वस्तुतः प्रकृति ही माता है, मैं ही पिता हूँ।

इस पर अर्जुन ने तीन प्रश्न किया कि गुणातीत पुरुष के क्या लक्षण हैं? क्या आचरण हैं? और किस उपाय से मनुष्य इन तीन गुणों से अतीत होता है? इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गुणातीत पुरुष के लक्षण और आचरण बताये और अन्त में गुणातीत होने का उपाय बताया कि जो पुरुष अव्यभिचारिणी भक्ति और योग के द्वारा निरन्तर मुझे भजता है, वह तीनों गुणों से अतीत हो जाता है। अन्य किसी का चिन्तन न करते हुए निरन्तर इष्ट का चिन्तन करना अव्यभिचारिणी भक्ति है। जो संसार के संयोग-वियोग से सर्वथा रहित है उसी का नाम योग है, उसको कार्य रूप देने की प्रणाली का नाम कर्म है। यज्ञ जिससे सम्पन्न होता है, वह हरकत कर्म है। अव्यभिचारिणी भक्ति द्वारा उस नियत कर्म के आचरण से ही पुरुष तीनों गुणों से अतीत होता है और अतीत होकर ब्रह्म के साथ एकीभाव के लिए, पूर्ण कल्प को प्राप्त होने के लिए योग्य होता है। गुण जिस मन पर प्रभाव डालते हैं, उसके विलय होते ही ब्रह्म के साथ एकीभाव हो जाता है, यही वास्तविक कल्प है। अतः बिना भजन किये कोई गुणों से अतीत नहीं होता।

अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं कि वह गुणातीत पुरुष जिस ब्रह्म के साथ एकीभाव में स्थित होता है उस ब्रह्म का, अमृत तत्त्व का, शाश्वत धर्म

का और अखण्ड एकरस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् प्रधान कर्त्ता हूँ। अब तो श्रीकृष्ण चले गये। अब वह आश्रय तो चला गया। तव तो बड़े संशय की बात है। वह आश्रय अब कहाँ मिलेगा? लेकिन नहीं, श्रीकृष्ण ने अपना परिचय दिया है। वे एक योगी थे, स्वरूपस्थ महापुरुष थे। 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' अर्जुन ने कहा था - मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ, मुझे सँभालिए। स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण ने अपना परिचय दिया। स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षण बताये और उनसे अपनी तुलना की। अतः स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण एक महात्मा योगी थे। अब यदि आपको अखण्ड, एकरस आनन्द, शाश्वत धर्म अथवा अमृततत्त्व की आवश्यकता है, तो इन सबकी प्राप्ति के स्रोत एकमात्र सद्गुरु हैं। सीधे पुस्तक पढ़कर इसे कोई नहीं पा सकता। जब वही महापुरुष आत्मा से अभिन्न होकर रथी हो जाते हैं, तो शनैः-शनैः अनुरागी को संचालित करते हुए उसके स्वरूप तक, जिनमें वे स्वयं प्रतिष्ठित हैं, पहुँचा देते हैं। वही एकमात्र माध्यम हैं। इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपने को सवका आश्रय बताते हुए इस चौदहवें अध्याय का समापन किया, जिसमें गुणों का विस्तार से वर्णन है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे 'गुणत्रयविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'गुणत्रयविभागयोग' नामक चौदहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'गुणत्रयविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्यायः।।१४।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

महापुरुषों ने संसार को विभिन्न दृष्टान्तों से समझाने का प्रयास किया है। किसी ने इसी को भवाटवी कहा, तो किसी ने संसार-सागर कहा। अवस्था-भेद से इसी को भवनदी और भवकूप भी कहा गया और कभी इसकी तुलना गो-पद से की गयी अर्थात् जितना इन्द्रियों का आयतन है, उतना ही संसार है और अन्त में ऐसी भी अवस्था आयी कि (`नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं।') भव-सिन्धु भी सूख गया। क्या संसार में ऐसे समुद्र हैं? योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी संसार को समुद्र और वृक्ष की संज्ञा दी। अध्याय बारह में उन्होंने कहा - जो मेरे अनन्य भक्त हैं, उनका संसार-समुद्र से शीघ्र ही उद्धार करनेवाला होता हूँ। यहाँ प्रस्तुत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि संसार एक वृक्ष है, इसको काटते हुए ही योगीजन उस परमपद को खोजते हैं। देखें-

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

अर्जुन! `ऊर्ध्वमूलं' - ऊपर को परमात्मा ही जिसका मूल है, `अधःशाखम्' - नीचे प्रकृति ही जिसकी शाखायें हैं, ऐसे संसाररूपी पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं। (वृक्ष तो अ-श्वः अर्थात् कल तक भी रहनेवाला नहीं, जब चाहे कट जाय; किन्तु है अविनाशी) श्रीकृष्ण के अनुसार अविनाशी दो हैं - एक संसाररूपी वृक्ष अविनाशी और दूसरा उससे भी परे परम अविनाशी। वेद इस अविनाशी संसार-विटप के पत्ते कहे गये हैं। जो पुरुष इस संसाररूपी वृक्ष को (देखते हुए) विदित कर लेता है, वह वेद का ज्ञाता है।

जिसने उस संसार-वृक्ष को जाना है, उसने वेद को जाना है, न कि ग्रन्थ पढ़नेवाला। पुस्तक पढ़ने से तो उधर बढ़ने की प्रेरणा मात्र मिलती है। पत्तों के

स्थान पर वेद की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः पुरुष भटकते-भटकते जिस अन्तिम कोपल अर्थात् अन्तिम जन्म को लेता है, वहीं से वेद के वे छन्द (जो कल्याण का सृजन करते हैं) वहीं से प्रेरणा देते हैं, वहीं से उनका उपयोग है। वहीं से भटकाव समाप्त हो जाता है। वह स्वरूप की ओर घूम जाता है। तथा-

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

उस संसार-वृक्ष की तीनों गुणों के द्वारा बढ़ी हुई विषय और भोगरूप कोपलोंवाली शाखाएँ नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं। नीचे की ओर कीट-पतंगपर्यन्त और ऊपर देवभाव से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सर्वत्र फैली हुई हैं तथा केवल मनुष्य योनि में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली हैं, अन्य सभी योनियाँ भोग भोगने के लिये हैं। मनुष्य योनि ही कर्मों के अनुसार बन्धन तैयार करती है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।

परन्तु इस संसार-वृक्ष का रूप जैसा कहा गया है, वैसा यहाँ नहीं पाया जाता; क्योंकि न तो इसका आदि है न अन्त है और न अच्छी प्रकार से इसकी स्थिति ही है (क्योंकि यह परिवर्तनशील है), इस सुदृढ़ मूलवाले संसाररूपी वृक्ष को दृढ़ 'असंगशस्त्रेण' - असंग अर्थात् वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा काटकर- (संसाररूपी वृक्ष को काटना है। ऐसा नहीं कि पीपल की जड़ में परमात्मा रहते हैं या पीपल का पत्ता वेद है और आरती करने लगे पेड़ की।)

इस संसार-वृक्ष का मूल तो स्वयं परमात्मा ही बीजरूप से प्रसारित है, तो क्या वह भी कट जायेगा? दृढ़ वैराग्य द्वारा इस प्रकृति का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, यही काटना है। काटकर करें क्या?

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

दृढ़ वैराग्य द्वारा संसार-विटप को काटने के उपरान्त उस परमपद परमेश्वर को अच्छी प्रकार खोजना चाहिए, जिसमें गये हुए पुरुष फिर पीछे संसार में नहीं आते अर्थात् पूर्ण निवृत्ति प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु उसकी खोज किस प्रकार सम्भव है? योगेश्वर कहते हैं इसके लिए समर्पण आवश्यक है? जिस परमेश्वर से पुरातन संसार-वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, उसी आदि पुरुष परमात्मा की मैं शरण हूँ (उनकी शरण गये बिना वृक्ष मिटेगा नहीं)। अब शरण में गया हुआ वैराग्य में स्थित पुरुष कैसे समझे कि वृक्ष कट गया? उसकी पहचान क्या है? इस पर कहते हैं-

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

उपर्युक्त प्रकार के समर्पण से जिसका मोह और मान नष्ट हो गया है, आसक्तिरूपी संगदोष जिन्होंने जीत लिया है, `अध्यात्मनित्या! - परमात्मा के स्वरूप में जिनकी निरन्तर स्थिति है, जिनकी कामनाएँ विशेष रूप से निवृत्त हो गई हैं और सुख-दुःख के द्वन्द्वों से विमुक्त हुए ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं। जब तक यह अवस्था नहीं आती, तब तक संसार-वृक्ष नहीं कटता। यहाँ तक वैराग्य की आवश्यकता रहती है। उस परमपद का क्या स्वरूप है, जिसे पाते हैं?

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

उस परमपद को न सूर्य, न चंद्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर पाते हैं।

जिस परमपद को प्राप्त कर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम है अर्थात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता। इस पद की प्राप्ति में सबका समान अधिकार है। इस पर कहते हैं-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

`जीवलोके' अर्थात् इस देह में (शरीर ही लोक है) यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इन त्रिगुणमयी माया में स्थित हुई मनसहित पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है। भला कैसे?

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

जिस प्रकार वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाता है, ठीक उसी प्रकार देह का स्वामी जीवात्मा जिस पहले शरीर को त्यागता है, उससे मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों के कार्य-कलापों को ग्रहण करके (आकर्षित करके साथ लेकर) फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है, उसमें जाता है। (जव अगला शरीर तत्काल निश्चित है तो आटे का पिण्ड बनाकर किसे पहुँचाते हो? लेता कौन है? इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि यह अज्ञान तुझे कहाँ से उत्पन्न हो गया कि पिण्डोदक क्रिया लुप्त हो जायेगी)। वहाँ जाकर करता क्या है? मनसहित छः इन्द्रियाँ कौन हैं? -

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

उस शरीर में स्थित होकर यह जीवात्मा कान, आँख, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मन का आश्रय लेकर अर्थात् इन सबके सहारे ही विषयों का सेवन करता है। किन्तु ऐसा दिखाई नहीं पड़ता, सब उसे देख नहीं पाते, इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

शरीर छोड़कर जाते हुए, शरीर में स्थित हुए, विषयों को भोगते हुए अथवा तीनों गुणों से युक्त हुए भी जीवात्मा को विशेष मूढ़ अज्ञानी नहीं जानते। केवल ज्ञानरूपी नेत्रवाले ही उसे जानते हैं, देखते हैं, ठीक ऐसा ही है। अब वह दृष्टि कैसे मिले? आगे देखें-

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

योगीजन अपने हृदय में चित्त को सब ओर से समेट इस आत्मा को यत्न करते हुए ही प्रत्यक्ष देखते हैं; किन्तु अकृतार्थ आत्मावाले अर्थात् मलिन अन्तःकरणवाले अज्ञानीजन यत्न करते हुए भी इस आत्मा को नहीं जानते (क्योंकि उनका अन्तःकरण बाह्य प्रवृत्तियों में अभी बिखरा है)। चित्त को सब ओर से समेटकर अन्तरात्मा में यत्न करनेवाले भाविकजन ही उसे पाने के योग्य होते हैं। अतः अन्तःकरण से सतत् सुमिरण आवश्यक है। अब उन महापुरुषों के स्वरूप में जो विभूतियाँ पायी जाती हैं (जो पीछे बता भी आये हैं), उन पर प्रकाश डालते हैं-

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में है, इसे तू मेरा ही जान। अब उस महापुरुष द्वारा कार्य बताते हैं-

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और चन्द्रमा में रसस्वरूप होकर सम्पूर्ण वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

मैं ही प्राणियों के शरीर में अग्निरूप से स्थित होकर प्राण और अपान से युक्त हुआ चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।

अध्याय चार में स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इन्द्रियाग्नि, संयमाग्नि, योगाग्नि, प्राण-अपानाग्नि, ब्रह्माग्नि इत्यादि तेरह-चौदह अग्नियों का उल्लेख किया, जिनमें सबका परिणाम ज्ञान है। ज्ञान ही अग्नि है। श्रीकृष्ण कहते हैं, ऐसा अग्नि स्वरूप होकर प्राण और अपान से युक्त चार विधियों से (जप सदैव श्वास-प्रश्वास से होता है उसकी चार विधियाँ - बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा हैं - इन चार विधियों से) तैयार होनेवाले अन्नों को मैं ही पचाता हूँ।

श्रीकृष्ण के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र अन्न है, जिससे आत्मा पूर्ण तृप्त हो जाता है फिर कभी अतृप्त नहीं होता। शरीर के पोषक प्रचलित अन्नों को योगेश्वर ने आहार की संज्ञा दी है (युक्ताहार...)। वास्तविक अन्न परमात्मा है। बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा की चार विधियों से निकलकर ही वह अन्न परिपक्व होता है। इसी को अनेक महापुरुषों ने नाम, रूप, लीला और धाम कहा है। पहले नाम का जप होता है। क्रमशः हृदय-देश में इष्ट का स्वरूप प्रकट होने लगता है। तत्पश्चात् उसकी लीला का बोध होने लगता है कि वह ईश्वर किस प्रकार कण-कण में व्याप्त है? किस प्रकार वह सर्वत्र कार्य करता है? इस प्रकार हृदय-देश में क्रिया-कलापों का दर्शन ही लीला है (बाहर की रामलीला-रासलीला नहीं) और उस ईश्वरीय लीला की प्रत्यक्ष अनुभूति करते हुए जब मूल लीलाधारी का स्पर्श मिलता है, तब धाम की स्थिति आती है। उसे जानकर साधक उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है। उसमें प्रतिष्ठित होना और परावाणी की परिपक्वावस्था में परब्रह्म का स्पर्श कर उसमें स्थित होना दोनों साथ-साथ होता है।

इस प्रकार प्राण और अपान अर्थात् श्वास और प्रश्वास से युक्त होकर चार विधियों से अर्थात् बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और क्रमशः उत्थान होते-होते परा की पूर्तिकाल में वह `अन्न' ब्रह्म परिपक्व हो जाता है, मिल भी जाता है, पच भी जाता है और पात्र भी परिपक्व ही है।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ। मुझसे ही स्वरूप की स्मृति (सुरति जो तत्त्व परमात्मा विस्मृत है, उसका स्मरण हो आना) होती है, (प्राप्तिकाल का चित्रण है) स्मृति के साथ ही ज्ञान (साक्षात्कार) और `अपोहनं' अर्थात् बाधाओं का शमन मुझ इष्ट से ही होता है। सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदान्त का कर्त्ता अर्थात् `वेदस्य अन्तः सः वेदान्त' (अलग था तभी तो जानकारी हुई, जब जानते ही उसी स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गया तो कौन किसको जाने) वेद की अन्तिम स्थिति का कर्त्ता मैं ही हूँ और `वेदवित्' भी मैं ही हूँ अर्थात् वेद का ज्ञाता। अध्याय के आरम्भ में उन्होंने कहा था कि संसार वृक्ष है। ऊपर परमात्मा मूल और नीचे प्रकृतिपर्यन्त शाखाएँ हैं। जो इस मूल से प्रकृति का विभाजन करके जानता है, मूल से जानता है, वह वेदवित् है। यहाँ कहते हैं कि मैं वेदवित् हूँ।उसे जो जानता है, श्रीकृष्ण ने अपने को उनकी तुलना में खड़ा किया कि वह वेदवित् है, मैं वेदवित् हूँ। श्रीकृष्ण भी एक तत्त्वज्ञ महापुरुष योगियों के भी परमयोगी थे। यहाँ यह प्रश्न पूरा हुआ। अब बताते हैं कि संसार में पुरुष का स्वरूप दो प्रकार का है-

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

अर्जुन! इस संसार में `क्षर' - क्षय होनेवाले, परिवर्तनशील और `अक्षर' - अक्षय, अपरिवर्तनशील ऐसे दो प्रकार के पुरुष हैं। उनमें सम्पूर्ण भूत प्राणियों के शरीर तो नाशवान् हैं, क्षर पुरुष हैं। आज हैं तो कल नहीं रह जायेंगे और यह कूटस्थ पुरुष अविनाशी कहा जाता है। साधन के द्वारा मनसहित इन्द्रियों का निरोध अर्थात् जिसकी इन्द्रिय-समूह कूटस्थ है, वही अक्षर कहलाता है; अब आप स्त्री कहलाते हों अथवा पुरुष, यदि शरीर और शरीर-जन्म के कारण संस्कारों का क्रम लगा है तो आप क्षर पुरुष हैं और जब मनसहित इन्द्रियाँ कूटस्थ हो जाती हैं तब वही अक्षर पुरुष कहलाता है। किन्तु यह भी पुरुष की अवस्था विशेष ही है। इन दोनों से भी परे एक अन्य पुरुष भी है-

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

उन दोनों से अति उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है और अविनाशी, परमात्मा, ईश्वर - ऐसे कहा गया है। परमात्मा, अव्यक्त, अविनाशी, पुरुषोत्तम इत्यादि उसके परिचायक शब्द हैं; वस्तुतः यह अन्य ही है अर्थात् अनिर्वचनीय है। यह क्षर-अक्षर से परे महापुरुष की अन्तिम अवस्था है, जिसको परमात्मा इत्यादि शब्दों से इंगित किया गया है किन्तु वह अन्य है अर्थात् अनिर्वचनीय है। उसी स्थिति में योगेश्वर श्रीकृष्ण अपना भी परिचय देते हैं। यथा-

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

मैं उपर्युक्त नाशवान्, परिवर्तनशील क्षेत्र से सर्वथा अतीत हूँ और अक्षर-अविनाशी कूटस्थ पुरुष से भी उत्तम हूँ। इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

हे भारत! जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इस प्रकार जो ज्ञानी पुरुष मुझ पुरुषोत्तम को साक्षात् जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से मुझ परमात्मा को ही भजता है। वह मुझसे विलग नहीं है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।।२०।।

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य पूर्णज्ञाता और कृतार्थ हो जाता है। अतः योगेश्वर श्रीकृष्ण की यह वाणी स्वयं में पूर्ण शास्त्र है।

श्रीकृष्ण का यह रहस्य अत्यन्त गुप्त था। उन्होंने केवल अनुरागियों से बताया। यह अधिकारी के लिये था, सबके लिये नहीं; किन्तु जब यही रहस्य (शास्त्र) लिखने में आ जाता है, सबके सामने पुस्तक रहती है इसलिये लगता है कि श्रीकृष्ण ने सबको कहा; किन्तु वस्तुतः यह अधिकारी के लिये ही है। श्रीकृष्ण का यह स्वरूप सबके लिए था भी नहीं। कोई उन्हें राजा, कोई दूत तो

कोई यादव ही मानता था; किन्तु अधिकारी अर्जुन से उन्होंने कोई दुराव नहीं रखा। उसने पाया कि वह परमसत्य पुरुषोत्तम हैं। दुराव रखते तो उसका कल्याण ही न होता।

. यही विशेषता प्राप्तिवाले प्रत्येक महापुरुष में पायी गई। राम कृष्ण परमहंसदेव एक बार बहुत प्रसन्न थे। भक्तों ने पूछा - "आज तो आप बहुत प्रसन्न हैं।" बोले-"आज मैं `वह' परमहंस हो गया।" उनके समकालीन कोई अच्छे महापुरुष परमहंस थे, उनकी ओर संकेत किया। कुछ देर बाद वे मन-क्रम-वचन से विरक्ति की आशा से अपने पीछे लगे साधकों से बोले - "देखो, अब तुम लोग सन्देह न करना। मैं वही राम हूँ, जो त्रेता में हुए थे। वही कृष्ण हूँ, जो द्वापर में हुए थे। मैं उन्हीं की पवित्र आत्मा हूँ, वही स्वरूप हूँ। यदि पाना है तो मुझे देखो।"

ठीक इसी प्रकार `पूज्य गुरु महाराज' भी सबके सामने कहा करते थे - "हो, हम भगवान् के दूत हैं। जे सचहूँ का सन्त है, वह भगवान का दूत है, हमारे द्वारा ही उनका सन्देशा मिलता है।" ईसा ने कहा - "मैं भगवान का पुत्र हूँ, मेरे पास आओ - इसलिए कि ईश्वर का पुत्र कहलाओगे" अतः सभी पुत्र हो सकते हैं। हाँ, यह बात अलग है कि पास आने का तात्पर्य उन तक की साधना साधन-क्रम में चलकर पूरी करना है। मुहम्मद साहब ने कहा - "मैं अल्लाह का रसूल हूँ, सन्देशवाहक हूँ।" `पूज्य महाराज जी' सबसे तो इतना ही कहते थे - न किसी विचार का खण्डन, न मण्डन। किन्तु जो विरक्ति में पीछे लगे थे, उनसे कहते थे - "केवल मेरे स्वरूप को देखो। यदि तुम्हें उस परमतत्त्व की चाह है तो मुझे देखो, सन्देह मत करो।" बहुतों ने सन्देह किया तो उनको अनुभव में दिखाकर, डाँट-फटकारकर, उन बाह्य विचारों से हटाकर, जिनमें योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार (अध्याय २/४०-४३) अनन्त पूजा-पद्धतियाँ हैं, अपने स्वरूप में लगाया। वे अद्यावधि महापुरुष के रूप में अवस्थित हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण की अपनी स्थिति गोपनीय तो थी; किन्तु अपने अनन्य भक्त पूर्ण अधिकारी अनुरागी अर्जुन के प्रति उन्होंने उसे प्रकाशित किया। हर भक्त के लिए सम्भव है, महापुरुष लाखों को उस रास्ते पर चला देते हैं।

निष्कर्ष :

इस अध्याय के आरम्भ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि संसार एक वृक्ष है। पीपल-जैसा वृक्ष है। पीपल एक उदाहरण मात्र है। ऊपर इसका मूल परमात्मा और नीचे प्रकृतिपर्यन्त इसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। जो इस वृक्ष को मूलसहित विदित कर लेता है; वह वेदों का ज्ञाता है। इस संसार-वृक्ष की शाखाएँ ऊपर और नीचे सर्वत्र व्याप्त हैं और 'मूलानि' - उसकी जड़ों का जाल भी ऊपर और नीचे सर्वत्र व्याप्त है; क्योंकि वह मूल ईश्वर है और वही बीजरूप से प्रत्येक जीव-हृदय में निवास करता है।

पौराणिक आख्यान है कि एक बार कमल पर बैठे हुए ब्रह्माजी ने विचार किया कि मेरा उद्गम क्या है? जहाँ से वे पैदा हुए थे, उस कमल-नाल में प्रवेश करते चले गये। अनवरत चलते रहे; किन्तु अपना उद्गम न देख सके। तब हताश होकर वे उसी कमल के आसन पर बैठ गये। चित्त का निरोध करने में लग गये और ध्यान के द्वारा उन्होंने अपना मूल उद्गम पा लिया, परमतत्त्व का साक्षात्कार किया, स्तुति की। परमस्वरूप से ही आदेश मिला कि - मैं हूँ तो सर्वत्र किन्तु मेरी प्राप्ति का स्थान मात्र हृदय है। हृदय-देश में जो ध्यान करता है, वह मुझे प्राप्त कर लेता है।

ब्रह्मा एक प्रतीक है। योग-साधना की एक परिपक्व अवस्था में इस स्थिति की जागृति है। ईश्वर की ओर उन्मुख ब्रह्मविद्या से संयुक्त बुद्धि ही ब्रह्मा है। कमल पानी में रहते हुए भी निर्मल और निर्लेप रहता है। बुद्धि जब तक इधर-उधर ढूँढ़ती है, तब तक नहीं पाती और जब वही बुद्धि निर्मलता के आसन पर आसीन होकर मनसहित इन्द्रियों को समेटकर हृदयदेश में निरोध कर लेती है, उस निरोध के भी विलीनीकरण की अवस्था में अपने ही हृदय में परमात्मा को पा लेती है।

यहाँ भी योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार संसार वृक्ष है, जिसका मूल सर्वत्र है और शाखाएँ भी सर्वत्र हैं। 'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'-कर्मों के अनुसार केवल मनुष्य योनि में बन्धन तैयार करता है, बाँधता है। अन्य योनियाँ तो इन्हीं कर्मों के अनुसार भोग भोगती हैं। अतः दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा इस संसाररूपी पीपल के वृक्ष को तू काट और उस परमपद को ढूँढ़, जिसमें गये हुए महर्षि पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते।

कैसे जाना जाय कि संसार वृक्ष कट गया? योगेश्वर कहते हैं कि जो मान और मोह से सर्वथा रहित है, जिसने संगदोष जीत लिया है, जिसकी कामनाएँ निवृत्त हो गई हैं और जो द्वन्द्व से मुक्त है, वह पुरुष उस परमतत्त्व को प्राप्त होता है। उस परमपद को न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर पाती है, वह स्वयं प्रकाशरूप है। जिसमें गये हुए पीछे लौटकर नहीं आते, वह मेरा परमधाम है, जिसे पाने का अधिकार सबको है; क्योंकि वह जीवात्मा मेरा ही शुद्ध अंश है।

शरीर का त्याग करते समय जीवात्मा मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के कार्यकलापों को लेकर नये शरीर को धारण करता है। संस्कार सात्त्विक हैं तो सात्त्विक स्तर पर पहुँच जाता है; राजसी हैं तो मध्यम स्थान पर और तामसी रहने पर जघन्य योनियों तक पहुँच जाता है तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता मन के माध्यम से विषयों को देखता और भोगता है। यह दिखाई नहीं पड़ता, इसके देखने की दृष्टि ज्ञान है। कुछ याद कर लेने का नाम ज्ञान नहीं है। योगीजन हृदय में चित्त को समेटकर प्रयत्न करते हुए ही उसे देख पाते हैं, अतः ज्ञान साधनगम्य है; हाँ अध्ययन से उसके प्रति रूझान उत्पन्न होती है। संशययुक्त, अकृतात्मा लोग प्रयत्न करते हुए भी उसे नहीं पाते।

यहाँ प्राप्तिवाले स्थान का चित्रण है। अतः उस अवस्था की विभूतियों का प्रवाह स्वाभाविक है। उन पर प्रकाश डालते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा में मैं ही प्रकाश हूँ, अग्नि में मैं ही तेज हूँ। मैं ही प्रचण्ड अग्निरूप से चार विधियों से परिपक्व होनेवाले अन्न को पचाता हूँ। श्रीकृष्ण के शब्दों में अन्न एकमात्र ब्रह्म है (`अन्नं ब्रह्म व्यजानात्' जिस उपनिषद् से श्रीकृष्ण ने उठाया है, उसका यही निर्णय है), जिसे प्राप्त कर यह आत्मा तृप्त हो जाती है। वैखरी से परापर्यन्त अन्न पूर्ण परिपक्व होकर पच जाता है, वह पात्र भी खो जाता है। इस अन्न को मैं ही पचाता हूँ अर्थात् सद्गुरु जब तक रथी न हों, तब तक यह उपलब्धि नहीं होती।

इस पर बल देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तर्देश में स्थित होकर मैं ही स्मृति दिलाता हूँ। जो स्वरूप विस्मृत था उसकी स्मृति दिलाता हूँ। स्मृति के साथ मिलनेवाला ज्ञान भी मैं ही हूँ। उसमें आनेवाली

बाधाओं का निदान भी मुझसे होता है। मैं ही जानने योग्य हूँ और विदित हो जाने के बाद जानकारी का अन्तकर्त्ता भी मैं ही हूँ। कौन किसे जाने? मैं वेदवित् हूँ। अध्याय के प्रारम्भ में कहा था, जो संसार-वृक्ष को मूलसहित जानता है वह वेदवित् है; किन्तु उसको काटनेवाला ही जानता है। यहाँ कहते हैं - मैं भी वेदवित् हूँ। उन वेदविदों में अपनी भी गणना करते हैं। अतः श्रीकृष्ण भी यहाँ वेदवित् पुरुषोत्तम हैं, जिसे पाने का अधिकार मानवमात्र को है।

अन्त में उन्होंने बताया कि लोक में तीन प्रकार के पुरुष हैं। भूतादिकों के सम्पूर्ण शरीर क्षर हैं, मन की कूटस्थ अवस्था में यही पुरुष अक्षर है; किन्तु है द्वन्द्वात्मक और इससे भी परे जो परमात्मा परमेश्वर, अव्यक्त और अविनाशी कहा जाता है, वह वस्तुतः अन्य ही है। यह क्षर-अक्षर से परे वाली अवस्था है, यही परमस्थिति है। इससे संगत करते हुए कहते हैं कि मैं भी क्षर-अक्षर से परे वही हूँ. इसलिए लोग मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं। इस प्रकार उत्तम पुरुष को जो जानते हैं वे ज्ञानी भक्तजन सदैव, सब ओर से मुझे ही भजते हैं। उनकी जानकारी में अन्तर नहीं है। अर्जुन! यह अत्यन्त गोपनीय रहस्य मैंने तेरे प्रति कहा। प्राप्तिवाले महापुरुष सबके सामने नहीं कहते किन्तु अधिकारी से दुराव भी नहीं रखते। दुराव करेंगे तो वह पायेगा कैसे?

इस अध्याय में आत्मा की तीन स्थितियों का चित्रण क्षर अक्षर और भी अति उत्तम पुरुष के रूप में स्पष्ट किया गया, जैसा इससे पहले किसी अन्य अध्याय में नहीं है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे `पुरुषोत्तम योगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में `पुरुषोत्तम योग' नामक पन्द्रहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः `यथार्थ गीता' भाष्ये `पुरुषोत्तम योगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।।१५।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ षोडशोऽध्यायः

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण के प्रश्न प्रस्तुत करने की अपनी विशिष्ट शैली है। पहले वे प्रकरण की विशेषताओं का उल्लेख करते हैं, जिससे पुरुष उसकी ओर आकर्षित हो, तत्पश्चात् वे उस प्रकरण को स्पष्ट करते हैं। उदाहरण के लिए कर्म को लें। उन्होंने दूसरे अध्याय में ही प्रेरणा दी कि, अर्जुन! कर्म कर। तीसरे अध्याय में उन्होंने इंगित किया कि निर्धारित कर्म कर। निर्धारित कर्म है क्या? तो बताया यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। फिर उन्होंने यज्ञ का स्वरूप न बताकर पहले बताया कि यज्ञ आया कहाँ से और देता क्या है? चौथे अध्याय में तेरह-चौदह विधियों से यज्ञ का स्वरूप स्पष्ट किया, जिसको करना कर्म है। यहाँ कर्म स्पष्ट होता है, जिसका शुद्ध अर्थ है - योग-चिन्तन, आराधना, जो मन और इन्द्रियों की क्रिया से सम्पन्न होता है।

इसी प्रकार उन्होंने अध्याय नौ में दैवी और आसुरी सम्पद् का नाम लिया। उसकी विशेषताओं पर बल दिया कि, अर्जुन! आसुरी स्वभाववाले मुझे तुच्छ कहकर पुकारते हैं। हूँ तो मैं भी मनुष्य शरीर के आधारवाला क्योंकि मनुष्य शरीर में ही मुझे यह स्थिति मिली है; किन्तु आसुरी स्वभाववाले, मूढ़ स्वभाववाले मुझे नहीं भजते। जबकि दैवी सम्पद् से युक्त भक्तजन अनन्य श्रद्धा से मुझे उपासते हैं। किन्तु इन सम्पत्तियों का स्वरूप, उनका गठन अभी तक नहीं बताया गया। अब अध्याय सोलह में योगेश्वर उनका स्वरूप स्पष्ट करने जा रहे हैं, जिनमें प्रस्तुत है पहले दैवी सम्पद् के लक्षण-

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।

भय का सर्वथा अभावं, अन्तःकरण की शुद्धता, तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान में दृढ़ स्थिति अथवा निरन्तर लगन, सर्वस्व का समर्पण, इन्द्रियों का भली प्रकार दमन, यज्ञ का आचरण (जैसा स्वयं श्रीकृष्ण ने अध्याय चार में बताया है- संयमाग्नि में हवन, इन्द्रियाग्नि में हवन, प्राण-अपान में हवन और अन्त में ज्ञानाग्नि में हवन अर्थात् आराधना की प्रक्रिया, जो केवल मन और इन्द्रियों की अन्तर्क्रिया से सम्पन्न होती है; तिल, जौ, वेदी इत्यादि सामग्रियों से होनेवाले यज्ञ का इस गीतोक्त यज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीकृष्ण ने ऐसे किसी कर्मकाण्ड को यज्ञ नहीं माना।),स्वाध्याय अर्थात् स्व-स्वरूप की ओर अग्रसर करानेवाला अध्ययन, तप अर्थात् मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप ढालना तथा `आर्जवम्'-शरीर और इन्द्रियों सहित अन्तःकरण की सरलता-

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।

अहिंसा अर्थात् आत्मा का उद्धार (आत्मा को अधोगति में पहुँचाना ही हिंसा है। श्रीकृष्ण कहते हैं - यदि मैं सावधान होकर कर्म में न बरतूँ तो इन सम्पूर्ण प्रजा का हनन करनेवाला और वर्णसंकर का कर्त्ता होऊँ। आत्मा का शुद्ध वर्ण है - परमात्मा, उसका प्रकृति में भटकना वर्णसंकर है, आत्मा की हिंसा है और आत्मा का उद्धार ही अहिंसा है।), सत्य (सत्य का अर्थ यथार्थ और प्रिय भाषण नहीं है। आप कहते हैं, यह वस्त्र हमारा है, तो क्या आप सच बोलते हैं? इससे वड़ा झूठ और क्या होगा? जब शरीर आपका नहीं है, नश्वर है तो इसे ढाँकने का वस्त्र कब आपका है? वस्तुतः सत्य का स्वरूप योगेश्वर ने स्वयं बताया है कि, अर्जुन! सत्य वस्तु का तीनों कालों में कभी अभाव नहीं है। यह आत्मा ही सत्य है, यही परम सत्य है - इस सत्य पर दृष्टि रखना।), क्रोध का न होना, सर्वस्व का समर्पण, शुभाशुभ कर्मफलों का त्याग, चित्त की चंचलता का सर्वथा अभाव, लक्ष्य के विपरीत निन्दित कार्यों को न करना, सम्पूर्ण प्राणियों में दया भाव, इन्द्रियों का विषयों से संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का अभाव, कोमलता, अपने लक्ष्य से विमुख होने में लज्जा, व्यर्थ की चेष्टाओं का अभाव तथा-

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

तेज (जो एकमात्र ईश्वर में है, उसके तेज से जो कार्य करता है। महात्मा बुद्ध की दृष्टि पड़ते ही अंगुलीमाल के विचार बदल गये। यह उस तेज का ही परिणाम था, जिससे कल्याण का सृजन होता है, जो बुद्ध में था), क्षमा, धैर्य, शुद्धि, किसी में शत्रु-भाव का न होना, अपने में पूज्यता के भाव का सर्वथा अभाव - यह सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पद् को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं। इस प्रकार कुल छब्बीस लक्षण बताये, जो सब-के-सब तो साधना में परिपक्व अवस्थावाले पुरुष में सम्भव हैं और आंशिक रूप में आप में भी निश्चित हैं तथा आसुरी सम्पद् से आप्लावित मनुष्यों में भी ये गुण हैं किन्तु प्रसुप्त रहते हैं, तभी तो घोर पापी को भी कल्याण का अधिकार है। अब आसुरी सम्पद् के प्रमुख लक्षण बताते हैं-

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।।४।।

हे पार्थ! पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी और अज्ञान - यह सब आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं। दोनों सम्पदाओं का कार्य क्या है?

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

इन दोनों प्रकार की सम्पदाओं में से दैवी सम्पद् तो `विमोक्षाय' - विशेष मोक्ष के लिए है और आसुरी सम्पदा बन्धन के लिये मानी गयी है। हे अर्जुन! तू शोक मत कर; क्योंकि दैवी सम्पदा को प्राप्त हुआ है। विशेष मुक्ति को प्राप्त होगा अर्थात् मुझे प्राप्त होगा। वे सम्पदायें रहती कहाँ हैं?

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे श्रृणु।।६।।

हे अर्जुन! इस लोक में भूतों के स्वभाव दो प्रकार के होते हैं - देवों के

जैसा और असुरों के जैसा। जब हृदय में दैवी सम्पद् कार्यरूप ले लेती है तो मनुष्य ही देवता है और जब आसुरी सम्पद् का बाहुल्य हो तो मनुष्य ही असुर है। सृष्टि में ये दो ही जातियाँ हैं। वह चाहे अरब में पैदा हुआ है, चाहे आस्ट्रेलिया में; कहीं भी पैदा हुआ हो, बशर्ते है इन दो में से ही। अभी तक देवों का स्वभाव ही विस्तार से कहा गया, अब असुरों के स्वभाव को मुझसे विस्तारपूर्वक सुन!

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

हे अर्जुन! असुर लोग 'कार्यम् कर्म' में प्रवृत्त होने और अकर्तव्य कार्य से निवृत्त होना भी नहीं जानते। इसलिये उनमें न शुद्धि रहती है, न आचरण और न सत्य ही रहता है। उन पुरुषों के विचार कैसे होते हैं? -

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।।८।।

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रयरहित है, सर्वथा झूठा है और बिना ईश्वर के, अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है। इसलिये केवल भोगों को भोगने के लिये है, इसके सिवाय और क्या है?

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

इस मिथ्या दृष्टिकोण के अवलम्बन से जिनका स्वभाव नष्ट हो चुका है वे मन्द बुद्धि, अपकारी, क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिये ही उत्पन्न होते हैं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्‌गृहीत्वासद्‌ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

वे मनुष्य दम्भ, मान और मद से युक्त हुए किसी भी प्रकार पूर्ण न होनेवाली कामनाओं का आश्रय लेकर अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके अशुभ

तथा भ्रष्ट व्रतों से युक्त हुए संसार में बरतते हैं। वे व्रत भी करते हैं; किन्तु भ्रष्ट हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।

वे अन्तिम श्वास तक अनन्त चिन्ताओं को लिये रहते हैं और विषयों को भोगने में तत्पर वे 'बस इतना ही आनन्द है' - ऐसा मानते हैं। उनकी मान्यता रहती है कि जितना हो सके भोग संग्रह करो, इसके आगे कुछ नहीं है।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।।१२।।

आशारूपी सैकड़ों फाँसियों से (एक फाँसी से ही लोग मर जाते हैं, यहाँ सैकड़ों फाँसियों से) बँधे हुए काम-क्रोध के परायण विषय-भोगों की पूर्ति के लिए वे अन्यायपूर्वक धनादि बहुत से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। अतः धन के लिए वे रात-दिन असामाजिक कदम उठाया करते हैं। आगे कहते हैं-

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

वे सोचते हैं कि मैंने आज यह पाया है, इस मनोरथ को प्राप्त करूँगा। मेरे पास इतना धन है और फिर कभी इतना हो जायेगा।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।।१४।।

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा। मैं ही ईश्वर और ऐश्वर्य को भोगनेवाला हूँ। मैं ही सिद्धियों से युक्त, बलवान् और सुखी हूँ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

में बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, मैं दान दूँगा, मुझे हर्ष होगा - इस प्रकार के अज्ञान से वे विशेष मोहित रहते हैं। क्या यज्ञ,दान भी अज्ञान है? इस पर श्लोक १७ में स्पष्ट किया है। इतने पर भी वे नहीं रुकते बल्कि अनेक भ्रान्तियों के शिकार रहते हैं। इस पर कहते हैं-

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अनेक प्रकार से भ्रमित हुए चित्तवाले, मोह-जाल में फँसे हुए, विषय-भोगों में अत्यन्त आसक्त वे आसुरी स्वभाववाले मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं। आगे श्रीकृष्ण स्वयं बतायेंगे कि नरक क्या है?

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले, धन और मान के मद से युक्त होकर वे घमण्डी मनुष्य शास्त्रविधि से रहिंत केवल नाममात्र के यज्ञों द्वारा पाखण्ड से यजन करते हैं। क्या वही यज्ञ करते हैं, जैसा श्रीकृष्ण ने बताया है?

नहीं, उस विधि को छोड़कर करते हैं; क्योंकि विधि योगेश्वर ने स्वयं बताया है। (अध्याय ४/२४-३३ तथा अध्याय ६/१०-१७)

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

वे दूसरों की निन्दा करनेवाले, अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोध के परायण हुए पुरुष अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ अन्तर्यामी परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। शास्त्रविधि से परमात्मा का सुमिरन एक यज्ञ है। जो इस विधि को त्यागकर नाममात्र का यज्ञ करते हैं, यज्ञ के नाम पर कुछ न कुछ करते ही रहते हैं, वे अपने और दूसरे के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। लोग द्वेष करते ही रहते हैं और बच भी जाते हैं। क्या ये भी बच जायेंगे? इस पर कहते हैं - नहीं,

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

मुझसे द्वेष करनेवाले उन पापाचारी, क्रूरकर्मी नराधमों को मैं संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही गिराता हूँ। जो शास्त्रविधि को त्याग कर यजन करते हैं वे पापयोनि हैं, वही मनुष्यों में अधम हैं, इन्हीं को क्रूरकर्मी कहा गया। अन्य कोई अधम नहीं है। पीछे कहा था, ऐसे अधमों को मैं नरक में गिराता हूँ। उसी को यहाँ कहते हैं कि उन्हें अजस्र आसुरी योनियों में गिराता हूँ। यही नरक है। साधारण जेल की यातना भयंकर होती है और यहाँ अनवरत आसुरी योनियों में गिरने का क्रम कितना दुःखद है। अतः दैवी सम्पद् के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

कौन्तेय! मूर्ख मनुष्य जन्म-जन्मान्तरों तक आसुरी योनि को प्राप्त हुए मुझे न प्राप्त होकर पहले से भी अति नीच गति को प्राप्त होते हैं, जिसका नाम नरक है। अब देखें, नरक का उद्गम क्या है?

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के मूल द्वार हैं। ये आत्मा का नाश करनेवाले, उसे अधोगति में ले जानेवाले हैं। अतः इन तीनों को त्याग देना चाहिये। इन्हीं तीनों पर आसुरी सम्पद् टिकी हुई है। इन्हें त्यागने से लाभ?

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

कौन्तेय! नरक के इन तीनों द्वारों से मुक्त हुआ पुरुष अपने परमकल्याण के लिये आचरण कर पाता है, जिससे वह परमगति अर्थात् मेरे को प्राप्त होता है। इन तीनों विकारों को त्यागने पर ही मनुष्य नियत कर्म करता है, जिसका परिणाम परमश्रेय है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

जो पुरुष उपर्युक्त शास्त्र-विधि को त्यागकर (वह शास्त्र कोई अन्य नहीं 'इति गुह्यतमं शास्त्रम्' - (१५/२०) गीता स्वयं पूर्ण शास्त्र है, जिसे स्वयं श्रीकृष्ण ने बताया है, उस विधि को त्यागकर) अपनी इच्छा से बरतता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परमगति को और न सुख को ही प्राप्त होता है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

इसलिये अर्जुन! तेरे लिये इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में कि मैं क्या करूँ - क्या न करूँ? इसकी व्यवस्था में शास्त्र ही एक प्रमाण है। ऐसा जानकर शास्त्र-विधि से नियत किये हुए कर्म को ही तुझे करना योग्य है।

अध्याय तीन में भी योगेश्वर श्रीकृष्ण ने 'नियतं कुरु कर्म त्वं' नियत कर्म पर बल दिया और बताया कि यज्ञ की प्रक्रिया ही वह नियत कर्म है और वह यज्ञ आराधना की विधि-विशेष का चित्रण है, जो मन का सर्वथा निरोध करके शाश्वत ब्रह्म में प्रवेश दिलाता है। यहाँ उन्होंने बताया कि काम,क्रोध और लोभ नरक के तीन प्रमुख द्वार हैं। इन तीनों को त्याग देने पर ही उस कर्म का (नियत कर्म का) आरम्भ होता है। जिसे मैंने बार-बार कहा, जो परमश्रेय-परमकल्याण दिलानेवाला आचरण है। बाहर सांसारिक कार्यों में जो जितना व्यस्त है, उतना ही अधिक काम.क्रोध और लोभ उसके पास सजा-सजाया मिलता है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है कि काम, क्रोध और लोभ को त्याग देने पर ही उसमें प्रवेश मिलता है, कर्म आचरण में ढल पाता है। जो उस विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से आचरण करता है, उसके लिए सुखसिद्धि अथवा परमगति कुछ भी नहीं है।अब कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। अतः शास्त्रविधि के ही अनुसार तुझे कर्म करना उचित है और वह शास्त्र है 'गीता'।

निष्कर्ष :

इस अध्याय के आरम्भ में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दैवी सम्पद् का विस्तार से वर्णन किया। जिसमें ध्यान में स्थिति, सर्वस्व का समर्पण, अन्तःकरण की शुद्धि, इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, स्वरूप को स्मरण दिलानेवाला अध्ययन, यज्ञ के लिये प्रयत्न, मनसहित इन्द्रियों को तपाना, अक्रोध, चित्त का शान्त प्रवाहित रहना इत्यादि छब्बीस लक्षण बताये, जो सब-के-सब तो इष्ट के समीप पहुँचे हुए योग-साधना में प्रवृत्त किसी साधक में सम्भव हैं। आंशिक रूप से सब में हैं।

तदनन्तर उन्होंने आसुरी सम्पद् में प्रधान चार-छः विकारों का नाम लिया, जैसे-अभिमान, दम्भ, कठोरता, अज्ञान इत्यादि और अन्त में निर्णय दिया कि अर्जुन! दैवी सम्पद् तो `विमोक्षाय'-पूर्ण निवृत्ति के लिये है, परमपद की प्राप्ति के लिये है और आसुरी सम्पद् बन्धन और अधोगति के लिये है। अर्जुन! तू शोक न कर; क्योंकि तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है।

ये सम्पदाएँ होती कहाँ हैं? उन्होंने बताया कि इस लोक में मनुष्यों के स्वभाव दो प्रकार के होते हैं - देवताओं जैसा और असुरों जैसा। जब दैवी सम्पद् का बाहुल्य होता है, तो मनुष्य देवताओं जैसा होता है और जब आसुरी सम्पद् का बाहुल्य होता है, तो मनुष्य असुरों जैसा है। सृष्टि में बस मनुष्यों की दो ही जाति हैं; चाहे वह कहीं पैदा हुआ हो, कुछ भी कहलाता हो।

तत्पश्चात् उन्होंने आसुरी स्वभाववाले मनुष्यों के लक्षणों का विस्तार से उल्लेख किया। आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष कर्त्तव्य कर्म में प्रवृत्त होना नहीं जानता और अकर्त्तव्य कार्य से निवृत्त होना नहीं जानता। वह कर्म में जब प्रवृत्त ही नहीं हुआ तो न उसमें सत्य होता है, न शुद्धि और न आचरण ही होता है। उसके विचार में जगत् आश्रयरहित, बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है, अतः केवल भोग भोगने के लिए है। इससे आगे क्या है? यह विचार कृष्णकाल में भी था। सदैव रहा है। केवल चार्वाक ने कहा हो, ऐसी बात नहीं है। जब तक जनमानस में दैवी-आसुरी सम्पद् का उतार-चढ़ाव है तब तक रहेगा। श्रीकृष्ण कहते हैं, वे मन्द बुद्धिवाले क्रूरकर्मी पुरुष सबका अहित (कल्याण का नाश) करने के लिये ही जगत् में पैदा होते हैं। वे कहते हैं - मेरे द्वारा यह शत्रु मारा गया, उसे मारूँगा। इस प्रकार अर्जुन! काम-क्रोध के

आश्रित वे पुरुष शत्रुओं को नहीं मारते बल्कि अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ परमात्मा से द्वेष करनेवाले हैं। तो क्या अर्जुन ने प्रण करके जयद्रथादि को मारा? यदि मारता है तो आसुरी सम्पद्वाला है, उन परमात्मा से द्वेष करनेवाला है; जबकि अर्जुन को श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा कि तू दैवी सम्पद् को प्राप्त हुआ है, शोक मत कर। यहाँ भी स्पष्ट हुआ कि ईश्वर का निवास सबके हृदय-देश में है। स्मरण रखना चाहिए कि कोई तुम्हें सतत् देख रहा है। अतः सदैव शास्त्र-निर्दिष्ट क्रिया का ही आचरण करना चाहिए अन्यथा दण्ड प्रस्तुत है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पुनः कहा कि आसुरी स्वभाववाले क्रूर मनुष्यों को मैं वारम्बार नरक में गिराता हूँ। नरक का स्वरूप क्या है? तो बताया, वारम्बार नीच-अधम योनियों में गिरना एक दूसरे का पर्याय है। यही नरक का स्वरूप है। काम-क्रोध और लोभ नरक के तीन मूल द्वार हैं। इन तीनों पर ही आसुरी सम्पद् टिकी हुई है। इन तीनों को त्याग देने पर ही उस कर्म का आरंभ होता है, जिसे मैंने वार-बार बताया है। सिद्ध है कि कर्म कोई ऐसी वस्तु है जिसका आरम्भ काम, क्रोध, लोभ को त्याग देने पर ही होता है।

सांसारिक कार्यों में, मर्यादित ढंग से सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्वाह करने में भी जो जितने व्यस्त हैं काम-क्रोध-लोभ उनके पास उतने अधिक सजे-सजाये मिलते हैं। वस्तुतः इन तीनों के त्याग देने पर ही परम में प्रवेश दिलानेवाले निर्धारित कर्मों में प्रवेश मिलता है। इसलिये मैं क्या करूँ, क्या न करूँ? - इस कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। कौन-सा शास्त्र? यही गीता शास्त्र, 'किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।' इसलिये इस शास्त्र द्वारा निर्धारित किये हुए कर्म-विशेष (यथार्थ कर्म) को ही तू कर।

इस अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दैवी और आसुरी दोनों सम्पदाओं का विस्तार से वर्णन किया। उनका स्थान मानव-हृदय बताया। उनका फल बताया। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे 'दैवासुर सम्पद्विभाग योगो' नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण-अर्जुन के सम्वाद में 'दैवासुर सम्पद्-विभाग योग' नामक सोलहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्यशिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'दैवासुर सम्पद्विभाग योगो' नाम षोडशोऽध्यायः।।१६।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अध्याय सोलह के अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा कि काम,क्रोध और लोभ के त्यागने पर ही कर्म आरम्भ होता है, जिसे मैंने वार-वार कहा है। नियतकर्म को बिना किये न सुख, न सिद्धि और न परमगति ही मिलती है। इसलिये अव तुम्हारे लिए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में कि क्या करूँ, क्या न करूँ? - इस सम्बन्ध में शास्त्र ही प्रमाण है। कोई अन्य शास्त्र नहीं वल्कि "इति गुह्यतमं शास्त्रमिदम्" गीता स्वयं शास्त्र है। अन्य शास्त्र भी हैं; किन्तु यहाँ इसी गीता शास्त्र पर दृष्टि रखें, दूसरा न ढूँढ़ने लगें। दूसरी जगह ढूँढ़ेंगे तो यह क्रमवद्धता नहीं मिलेगी, अतः भटक जायेंगे।

इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि, भगवन्! जो लोग शास्त्र-विधि को त्यागकर पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर `यजन्ते' - यजन करते हैं, उनकी गति कैसी है? सात्त्विकी है, राजसी अथवा तामसी है? क्योंकि पीछे अर्जुन ने सुना था कि सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी हों, जव तक गुण विद्यमान हैं, किसी-न-किसी योनि के ही कारण होते हैं। इसलिये प्रस्तुत अध्याय के आरम्भ में ही उसने प्रश्न रखा-

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्र-विधि को छोड़कर श्रद्धासहित यजन करते हैं, उनकी गति कोन-सी है? सात्त्विकी है, राजसी है अथवा तामसी है? यजन में देवता-यक्ष-भूत इत्यादि सभी आ जाते हैं।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु।।२।।

अध्याय दो में योगेश्वर ने बताया था कि अर्जुन! इस योग में निर्धारित क्रिया एक ही है। अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओं वाली होती है इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं, दिखावटी शोभायुक्त वाणी में उसे व्यक्त भी करते हैं। उनकी वाणी की छाप जिनके चित्त पर पड़ती है, अर्जुन! उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है न कि कुछ पाते हैं। ठीक इसी की पुनरावृत्ति यहाँ पर भी है कि जो `शास्त्रविधिमुत्सृज्य' - शास्त्रविधि को त्यागकर भजते हैं, उनकी श्रद्धा भी तीन प्रकार की होती है।

इस पर श्रीकृष्ण ने कहा, मनुष्य की आदत से उत्पन्न हुई वह श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी - ऐसे तीन प्रकार की होती है, उसे तू मुझसे सुन। मनुष्य के हृदय में यह श्रद्धा अविरल है-

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

हे भारत! सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके चित्त की वृत्तियों के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धा वाला है, वह स्वयं भी वही है। प्रायः लोग पूछते हैं - मैं कौन हूँ? कोई कहता है, मैं तो आत्मा हूँ। किन्तु नहीं, यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि जैसी श्रद्धा, जैसी वृत्ति वैसा पुरुष।

गीता योग-दर्शन है। महर्षि पतंजलि भी योगी थे। उनका योग-दर्शन है। योग है क्या? उन्होंने बताया, "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" - चित्त की वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना योग है। किसी ने परिश्रम करके रोक ही लिया तो लाभ क्या है? "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" - उस समय यह द्रष्टा जीवात्मा अपने ही शाश्वत स्वरूप में स्थित हो जाता है। क्या स्थित होने से पूर्व यह मलिन था? पतंजलि कहते हैं - `वृत्तिसारूप्यमितरत्र।' दूसरे समय में जैसा वृत्ति का रूप है, वैसा ही वह द्रष्टा है। यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं - यह पुरुष श्रद्धामय है,

श्रद्धा से ओत-प्रोत। कहीं-न-कहीं श्रद्धा अवश्य होगी और जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है। जैसी वृत्ति, वैसा पुरुष! अब तीनों श्रद्धाओं का विभाजन करते हैं-

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

उनमें से सात्त्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं तथा अन्य तामस पुरुष प्रेत और भूतों को पूजते हैं। वे पूजन में अथक परिश्रम भी करते हैं-

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

वे मनुष्य शास्त्र-विधि से रहित घोर कल्पित (कल्पित क्रियायें रचकर) तप तपते हैं, दम्भ और अहंकार से युक्त, कामना और आसक्ति के बल से बँधे हुए-

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

वे शरीररूप में स्थित भूत समुदाय को और अन्तःकरण में स्थित मुझ अन्तर्यामी को भी कृश करनेवाले हैं अर्थात् दुर्बल करनेवाले हैं। आत्मा प्रकृति के दरारों में पड़कर विकारों से दुर्बल और यज्ञ-साधनों से सबल होती है। उन अज्ञानियों (अचेतों) को निश्चय ही तू असुर जान अर्थात् वे सब के सब असुर हैं। प्रश्न पूरा हुआ।

शास्त्रविधि को त्यागकर भजनेवाले सात्त्विक पुरुष देवताओं को, राजस पुरुष यक्ष-राक्षसों को और तामस पुरुष भूत-प्रेतों को पूजते हैं। केवल पूजते ही नहीं, घोर तप तपते हैं; किन्तु अर्जुन! शरीररूप से भूतों को और अन्तर्यामी रूप से स्थित मुझ परमात्मा को दुर्बल करनेवाले हैं, मुझसे दूरी पैदा करते हैं न कि भजते हैं। उनको तू असुर जान अर्थात् देवताओं को पूजनेवाले भी असुर ही हैं। इससे अधिक कोई क्या कहेगा? अतः जिसके ये सभी अंशमात्र हैं, उन मूल एक परमात्मा का भजन करें। इसी पर परम योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बारम्बार बल दिया है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु।।७।।

अर्जुन! जैसे श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, वैसे ही सबको अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार भोजन भी तीन प्रकार का प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं। उनके भेद को तू मुझसे सुन! पहले प्रस्तुत है आहार-

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः।।८।।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभाव से ही हृदय को प्रिय लगनेवाले भोज्य पदार्थ सात्त्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार स्वभाव से हृदय को प्रिय लगने वाला, वल-आरोग्य-बुद्धि और आयु बढ़ानेवाला भोज्य पदार्थ ही सात्त्विक है। जो भोज्य पदार्थ सात्त्विक है, वही सात्त्विक मनुष्य को प्रिय होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी खाद्य वस्तु सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी नहीं होती। उसका प्रयोग सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी हुआ करता है। न दूध सात्त्विकी है, न प्याज राजसी और न लहसुन तामसी है।

जहाँ तक बल, बुद्धि, आरोग्य और हृदय को प्रिय लगने का प्रश्न है तो विश्व भर में मनुष्यों को अपनी-अपनी प्रकृति, वातावरण और परिस्थिति के अनुकूल विभिन्न खाद्य सामग्रियाँ प्रिय होती हैं। जैसे - बंगाली तथा मद्रासियों को चावल प्रिय होता है और पंजाबियों को रोटी। एक ओर तो अरबवासियों को दुम्बा, चीनियों को मेढक तो दूसरी ओर ध्रुव-जैसे ठंडे प्रदेशों में मांस बिना गुजारा नहीं है। रूस और मंगोलिया के आदिवासी खाद्य में घोड़े इस्तेमाल करते हैं, यूरोपवासी गाय तथा सुअर दोनों खाते हैं। फिर भी विद्या, बुद्धिविकास तथा उन्नति में अमेरिका और यूरोपवासी प्रथम श्रेणी में गिने जा रहे हैं।

गीता के अनुसार रसयुक्त चिकना और स्थिर रहनेवाला भोज्य पदार्थ सात्त्विक है। लम्बी आयु, अनुकूल, बल-बुद्धि बढ़ानेवाला, आरोग्यवर्द्धक पदार्थ

सात्त्विक है। स्वभाव से हृदय को प्रिय लगने वाला भोज्य पदार्थ सात्त्विक है। अतः कहीं किसी खाद्य-पदार्थ को घटाना-बढ़ाना नहीं है। परिस्थिति, परिवेश तथा देशकाल के अनुसार जो भोज्य वस्तु स्वभाव से प्रिय लगे और जीवनी शक्ति प्रदान करे, वही सात्त्विकी है। वस्तु सात्त्विक, राजसी या तामसी नहीं होती, उसका प्रयोग सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी होता है।

इसी अनुकूलन के लिये जो व्यक्ति घर-परिवार त्यागकर केवल ईश्वर-आराधन में लिप्त हैं, संन्यास आश्रम में हैं, उनके लिये मांस-मदिरा त्याज्य है; क्योंकि अनुभव से देखा गया है कि ये पदार्थ आध्यात्मिक मार्ग के विपरीत मनोभाव उत्पन्न करते हैं। अतः इनसे साधन-पथ से भ्रष्ट होने की अधिक सम्भावना है। जो एकान्त देश का सेवन करनेवाले विरक्त हैं, उनके लिये योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अध्याय छः में आहार के लिये एक नियम दिया कि `युक्ताहार विहारस्य' इसी को ध्यान में रखकर आचरण करना चाहिये। जो भजन में सहायक है उतना (वही) आहार ग्रहण करना चाहिये।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

कड़वे, खट्टे, अधिक नमकीन, अत्यन्त गर्म, तीखे, रूखे दाहकारक और दुःख-चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करनेवाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

जो भोजन एक प्रहर (तीन घण्टे) से अधिक पहले का बना हुआ है, `गतरसं' - रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट (जूठा) और अपवित्र भी है, वह तामस पुरुष को प्रिय होता है। प्रश्न पूरा हुआ। अब प्रस्तुत है `यज्ञ' -

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

जो यज्ञ `विधिदृष्ट' - शास्त्रविधि से निर्धारित किया गया है। (जैसा पीछे अध्याय ३ में यज्ञ का नाम लिया, अध्याय ४ में यज्ञ का स्वरूप बताया कि

बहुत से योगी प्राण को अपान में, अपान को प्राण में हवन करते हैं। प्राण-अपान की गति निरोध कर प्राणों की गति स्थिर कर लेते हैं, संयमाग्नि में हवन करते हैं। इस प्रकार यज्ञ के चौदह सोपान बताये, जो सब-के-सब ब्रह्म तक की दूरी तय करा देनेवाली एक ही क्रिया की ऊँची-नीची अवस्थाएँ हैं। संक्षेप में यज्ञ चिन्तन की प्रक्रिया का चित्रण है, जिसका परिणाम सनातन ब्रह्म में प्रवेश है। जिसका विधान इस शास्त्र में किया गया है।

उसी शास्त्र-विधान पर पुनः बल देते हैं कि, अर्जुन! शास्त्रविधि से नियत किये हुए, जिसे करना ही कर्त्तव्य है तथा जो मन का निरोध करनेवाला है, जो फल को न चाहनेवाले पुरुषों द्वारा किया जाता है, वह यज्ञ सात्त्विक है।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

हे अर्जुन! जो यज्ञ केवल दम्भाचरण के लिए ही हो या फल को उद्देश्य बनाकर किया जाता है, उसे राजस यज्ञ जान। यह कर्त्ता यज्ञ की विधि जानता है; किन्तु दंभाचरण या फल को उद्देश्य बनाकर करता है कि अमुक वस्तु मिलेगी तथा लोग देखें कि यज्ञ करता है, प्रशंसा करेंगे, ऐसा यज्ञकर्त्ता वस्तुतः राजसी है। अब तामस यज्ञ का स्वरूप बताते हैं-

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

जो यज्ञ शास्त्रविधि से रहित है, जो अन्न (परमात्मा) की सृष्टि कर सकने में असमर्थ है, मन के अन्तराल में निरुद्ध करने की क्षमता से रहित है, दक्षिणा अर्थात् सर्वस्व के समर्पण से रहित है तथा जो श्रद्धारहित है, ऐसा यज्ञ तामस यज्ञ कहा जाता है। ऐसा पुरुष वास्तविक यज्ञ को जानता ही नहीं। अब प्रस्तुत है तप-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

परमदेव परमात्मा, द्वैत पर जय प्राप्त करनेवाले द्विज, सद्गुरु और ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है। शरीर सदैव वासनाओं की ओर बहकता है, इसे अन्तःकरण की उपर्युक्त वृत्तियों के अनुरूप तपाना शारीरिक तप है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

उद्वेग न पैदा करनेवाला, प्रिय, हितकारक और सत्य-भाषण तथा परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाले शास्त्रों के चिन्तन का अभ्यास, नामजप यह वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है। वाणी विषयोन्मुख विचारों को भी व्यक्त करती रहती है। इसे उस ओर से समेटकर परम सत्य परमात्मा की दिशा में लगाना वाणी-सम्बन्धी तप है। अब मन-सम्बन्धी तप देखें-

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन अर्थात् इष्ट के अतिरिक्त अन्य विषयों का स्मरण भी न हो, मन का निरोध, अन्तःकरण की सर्वथा पवित्रता - यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है। उपर्युक्त तीनों - शरीर, वाणी और मन का तप मिलाकर एक सात्त्विक तप है।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

फल को न चाहते हुए अर्थात् निष्काम कर्म से युक्त पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उपर्युक्त तीनों तपों को मिलाकर सात्त्विक तप कहते हैं। अब प्रस्तुत है राजस तप-

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये अथवा केवल पाखण्ड से ही किया जाता है, वह अनिश्चित एवं चंचल फलवाला तप राजस कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

जो तप मूर्खतापूर्वक हठ से,मन, वाणी और शरीर के पीड़ासहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिये बदले की भावना से किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

इस प्रकार सात्त्विक तप में शरीर, मन और वाणी को मात्र इष्ट के अनुरूप ढालना है। राजस तप में तप की क्रिया वही है; किन्तु दम्भमान सम्मान की इच्छा से तपते हैं। प्रायः महात्मा लोग घर-बार छोड़ने के बाद भी इस विकार के शिकार हो जाते हैं और तीसरा तामस तप अविधिपूर्वक होता है, दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के दृष्टिकोण से होता है। अब प्रस्तुत है दान-

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

दान देना ही कर्तव्य है - इस भाव से जो दान देश (स्थान), काल (समयानुकूल) और सत्य पात्र के प्राप्त होने पर बदले में उपकार की भावना से रहित होकर दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

जो दान क्लेशपूर्वक (जो देते नहीं बनता लेकिन देना पड़ रहा है) तथा प्रत्युपकार की भावना से 'यह करूँगा तो यह मिलेगा' अथवा फल को उद्देश्य बनाकर फिर दिया जाता है. वह दान राजस कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जो दान बिना सत्कार किये अथवा तिरस्कारपूर्वक झिड़ककर अयोग्य देश-काल में अनाधिकारियों को दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है। 'पूज्य महाराज जी' कहा करते थे - 'हो, कुपात्र को दान देने से दाता नष्ट हो

जाता है।' ठीक इसी प्रकार श्रीकृष्ण का कहना है कि दान देना ही कर्त्तव्य है। देश-काल और पात्र के प्राप्त होने पर बदले में उपकार न चाहने की भावना से उदारता के साथ दिया जानेवाला दान सात्त्विक है। कठिनाई से निकलनेवाला, बदले में फल की भावना से दिया जानेवाला दान राजस है और बिना सत्कार के झिड़कियों के साथ प्रतिकूल देश-काल में कुपात्र को दिया जानेवाला दान तामस है, लेकिन है दान ही; किन्तु जो देह-गेह इत्यादि सबके ममत्व को त्यागकर एकमात्र इष्ट पर ही निर्भर है, उसके लिए दान का विधान इससे और उन्नत है और वह है सर्वस्व का समर्पण, सम्पूर्ण वासनाओं से हटकर मन का समर्पण, जैसा कि श्रीकृष्ण ने कहा है, `मय्येव मन आधत्स्व।' अतः दान नितान्त आवश्यक है। अब प्रस्तुत है ॐ, तत् और सत् का स्वरूप-

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।२३।।

अर्जुन! ॐ, तत् और सत् - ऐसा तीन प्रकार का नाम `ब्रह्मणः निर्देशः स्मृतः'- ब्रह्म का निर्देश करता है, स्मृति दिलाता है, संकेत करता है और ब्रह्म का परिचायक है। उसी से `पुरा' - पूर्व में (आरम्भ में) ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि रचे गये हैं। अर्थात् ब्राह्मण, यज्ञ और वेद ओम् से पैदा होते हैं। ये योगजन्य हैं। ओम् के सतत् चिन्तन से ही इनकी उत्पति है और कोई तरीका नहीं है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।।२४।।

इसलिए ब्रह्म का कथन करनेवाले पुरुषों की शास्त्र-विधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप-क्रियाएँ निरन्तर `ओम्' इस नाम को उच्चारण करके ही की जाती हैं, जिससे उस ब्रह्म का स्मरण हो जाय। अब तत् शब्द का प्रयोग बताते हैं-

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्चविविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।२५।।

`तत्' अर्थात् वह (परमात्मा) ही सर्वत्र है, इस भाव से फल को न चाहकर शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट नाना प्रकार की यज्ञ, तप और दान की क्रियाएँ परम

कल्याण की इच्छा करनेवाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं। तत् शब्द परमात्मा के प्रति समर्पणसूचक है। अर्थात् जप तो ओम् का कीजिये। यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ उस पर निर्भर होकर करें। अब सत् के प्रयोग का स्थल बताते हैं-

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

और सत्; योगेश्वर ने बताया कि सत् है क्या? गीता के आरम्भ में ही अर्जुन ने प्रश्न खड़ा किया था कि कुलधर्म ही शाश्वत है, सत्य है, तो श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ? सत् वस्तु का तीनों काल में कभी अभाव नहीं होता, उसे मिटाया नहीं जा सकता और असत् वस्तु का तीनों कालों में अस्तित्व नहीं है, उसे रोका नहीं जा सकता। वस्तुतः वह कौन-सी वस्तु है, जिसका तीनों कालों में अभाव नहीं है? और वह असत् वस्तु है क्या, जिसका अस्तित्व नहीं? तो बताया - यह आत्मा ही सत्य है और भूतादिकों के समस्त शरीर नाशवान् हैं। आत्मा सनातन है, अव्यक्त है, शाश्वत और अमृतस्वरूप है -यही परम सत्य है।

यहाँ कहते हैं 'सत्' ऐसे परमात्मा का यह नाम 'सद्भावे'- सत्य के प्रति भाव में और साधुभाव में प्रयोग किया जाता है और हे पार्थ! जब नियत कर्म सांगोपांग भली प्रकार होने लगे, तब सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। सत् का अर्थ यह नहीं है कि यह वस्तुएँ हमारी हैं। जब शरीर ही हमारा नहीं है, तो इसके उपभोग में आनेवाली वस्तुएँ हमारी कब हैं। यह सत् नहीं है। सत् का प्रयोग केवल एक दिशा में किया जाता है - सद्भाव में,आत्मा ही परम सत्य है। इस सत्य के प्रति भाव हो, उसे साधने के लिये साधुभाव हो और उसकी प्राप्ति करानेवाला कर्म प्रशस्त ढंग से होने लगे, वहीं सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी पर योगेश्वर अग्रेतर कहते हैं-

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

यज्ञ, तप और दान को करने में जो स्थिति मिलती है, वह भी सत् है - ऐसा कहा जाता है। 'तदर्थीयं'- उस परमात्मा की प्राप्ति के लिए किया हुआ कर्म

ही सत् है, ऐसा कहा जाता है। अर्थात् उस परमात्मा की प्राप्तिवाला कर्म ही सत् है, यज्ञ-दान-तप तो इस कर्म के पूरक हैं। अन्त में निर्णय देते हुए कहते हैं कि इन सबके लिये श्रद्धा आवश्यक है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

हे पार्थ! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह सब असत् है - ऐसा कहा जाता है। वह न तो इस लोक में और न परलोक में ही लाभदायक है। अतः समर्पण के साथ श्रद्धा नितान्त आवश्यक है।

निष्कर्ष :

अध्याय के आरम्भ में ही अर्जुन ने प्रश्न किया कि, भगवन्! जो शास्त्र-विधि को त्यागकर और श्रद्धा से युक्त होकर यजन करते हैं (लोग भूत-भवानी अन्यान्य पूजते ही रहते हैं) तो उनकी श्रद्धा कैसी है? सात्त्विकी है, राजसी है अथवा तामसी? इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! यह पुरुष श्रद्धा का स्वरूप (पुतला) है, कहीं-न-कहीं उसकी श्रद्धा होगी ही। जैसी श्रद्धा वैसा पुरुष। जैसी वृत्तिं वैसा पुरुष। उनकी वह श्रद्धा सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की होती है। सात्त्विकी श्रद्धावाले देवताओं को, राजसी श्रद्धावाले यक्ष (जो यश, शौर्य प्रदान करे), राक्षसों (जो सुरक्षा दे सके) का पीछा करते हैं और तामसी श्रद्धावाले भूत-प्रेतों को पूजते हैं। शास्त्रविधि से रहित इन पूजाओं द्वारा ये तीनों प्रकार के श्रद्धालु शरीर में स्थित भूत समुदाय अर्थात् अपने संकल्पों और हृदय-देश में स्थित मुझ अन्तर्यामी को भी कृश करते हैं, न कि पूजते हैं। उन सबको निश्चय ही तू असुर जान अर्थांत् भूत-प्रेत-यक्ष-राक्षस तथा देवताओं को पूजनेवाला असुर है।

देवता-प्रसंग को श्रीकृष्ण ने यहाँ तीसरी बार उठाया है। पहले अध्याय सात में उन्होंने कहा था कि - अर्जुन! कामनाओं ने जिनका ज्ञान हर लिया है, वही मूढ़बुद्धि अन्य देवताओं की पूजा करते हैं। दूसरी बार अध्याय नौ में उसी प्रश्न को दुहराते हुए कहा, जो अन्यान्य देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी मुझे ही

पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् शास्त्र में निर्धारित विधि से भिन्न है, अतः वह नष्ट हो जाता है। यहाँ अध्याय सत्रह में उन्हें आसुरी स्वभाव वाला कहकर सम्बोधित किया। श्रीकृष्ण के शब्दों में एक परमात्मा की ही पूजा का विधान है।

तदनन्तर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने चार प्रश्न लिये - आहार, यज्ञ, तप और दान। आहार तीन प्रकार के होते हैं। सात्त्विक पुरुष को तो आरोग्य प्रदान करनेवाले, स्वाभाविक प्रिय लगनेवाले, स्निग्ध आहार प्रिय होते हैं। राजस पुरुष को कड़वे, तीक्ष्ण, उष्ण, चटपटे, मसालेदार; रोगवर्द्धक आहार प्रिय होते हैं। तामस पुरुष को जूठा, बासी और अपवित्र आहार प्रिय होते हैं।

शास्त्रविधि से निर्दिष्ट यज्ञ (जो आराधना की अन्तःक्रियाएँ हैं) जो मन का निरोध करता है, फलाकांक्षा से रहित वह यज्ञ सात्त्विक है। दम्भप्रदर्शन तथा फल के लिये किया जानेवाला वही यज्ञ राजस है और शास्त्रविधि से रहित, मन्त्र, दान तथा बगैर श्रद्धा से किया हुआ यज्ञ तामस है।

परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाली सारी योग्यताएँ जिनमें हैं, उन प्राज्ञ सद्गुरु की अर्चना-सेवा और अन्तःकरण से अहिंसा, ब्रह्मचर्य और पवित्रता के अनुरूप शरीर को तपाना शरीर का तप है। सत्य, प्रिय और हितकर बोलना वाणी का तप है और मन को कर्म में प्रवृत्त रखना, इष्ट के अतिरिक्त विषयों के चिन्तन में मन को मौन रखना मन-सम्बन्धी तप है। मन, वाणी और शरीर तीनों मिलाकर इस ओर तपाना सात्त्विक तप है। राजस तप में कामनाओं के साथ उसी को किया जाता है, जब कि तामस तप शास्त्रविधि से रहित स्वेच्छाचार है।

कर्तव्य मानकर देश-काल और पात्र का विचार करके श्रद्धापूर्वक दिया गया दान सात्त्विक है। किसी लाभ के लोभ में कठिनाई से दिया जानेवाला दान राजस है और झिड़ककर कुपात्र को दिया जानेवाला दान तामस है।

ॐ, तत् और सत् का स्वरूप बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा कि ये नाम परमात्मा की स्मृति दिलाते हैं। शास्त्रविधि से निर्धारित तप, दान और यज्ञ आरम्भ करने में ओम् का प्रयोग होता है और पूर्ति में ही ओम् पिण्ड छोड़ता है। तत् का अर्थ है - वह परमात्मा। उसके प्रति समर्पित होकर ही वह कर्म होता है

और जब कर्म धारावाही होने लगे, तब सत् का प्रयोग होता है। भजन ही सत् है। सत् के प्रति भाव और साधुभाव में ही सत् का प्रयोग किया जाता है। परमात्मा की प्राप्ति करा देनेवाले कर्म यज्ञ,दान और तप के परिणाम में भी सत् का प्रयोग है और परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाला कर्म निश्चयपूर्वक सत् है; किन्तु इन सबके साथ श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा से रहित होकर किया हुआ कर्म, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप न इस जन्म में लाभकारी है, न अगले जन्मों में ही। श्रद्धा अपरिहार्य है।

सम्पूर्ण अध्याय में श्रद्धा पर प्रकाश डाला गया और अन्त में ॐ, तत् और सत् की विशद् व्याख्या प्रस्तुत की गयी, जो गीता के श्लोकों में पहली- बार आया है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे `ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभाग योगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में `ॐ तत्सत् श्रद्धात्रय विभाग योग' नामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः `यथार्थ गीता' भाष्ये `ॐ तत्सत् श्रद्धात्रयविभाग योगो' नाम सप्तदशोऽध्यायः।।१७।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

ॐ

श्री परमात्मने नमः

अथ अष्टादशोऽध्यायः

यह गीता का अन्तिम अध्याय है, जिसके पूर्वार्द्ध में योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा प्रस्तुत अनेक प्रश्नों का समाधान है तथा उत्तरार्द्ध गीता का उपसंहार है कि गीता से लाभ क्या है? सत्रहवें अध्याय में आहार, तप, यज्ञ, दान तथा श्रद्धा का विभागसहित स्वरूप बताया गया, उसी सन्दर्भ में त्याग के प्रकार शेष हैं। मनुष्य जो कुछ करता है, उसमें कारण कौन है? कौन कराता है? भगवान कराते हैं या प्रकृति? यह प्रश्न पहले से आरम्भ था, जिस पर इस अध्याय में पुनः प्रकाश डाला गया। इसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था की चर्चा हो चुकी थी। सृष्टि में उसके स्वरूप का विश्लेषण इस अध्याय में प्रस्तुत है। अन्त में गीता से मिलनेवाली विभूतियों पर प्रकाश डाला गया है।

गत अध्याय में अनेक प्रकरणों का विभाजन सुनकर अर्जुन ने स्वयं एक प्रश्न रखा कि त्याग और संन्यास को भी विभागसहित बतायें-

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

अर्जुन बोला - हे महाबाहो! हे हृदय के सर्वस्व! हे केशिनिषूदन! मैं संन्यास और त्याग के यथार्थ स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ। पूर्ण त्याग संन्यास है, जहाँ संकल्प और संस्कारों का भी समापन है और इससे पहले साधना की पूर्ति के लिए उत्तरोत्तर आसक्ति का त्याग ही त्याग है। यहाँ दो प्रश्न हैं कि संन्यास के तत्त्व को जानना चाहता हूँ और दूसरा है कि त्याग के तत्त्व को जानना चाहता हूँ। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा-

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

अर्जुन! कितने ही पण्डितजन काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं और कितने ही विचार-कुशल पुरुष सम्पूर्ण कर्म-फलों के त्याग को त्याग कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

कई एक विद्वान ऐसा कहते हैं कि सभी कर्म दोषयुक्त हैं, अतः त्याग देने योग्य हैं और दूसरे विद्वान ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप त्यागने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार अनेक मत प्रस्तुत करके योगेश्वर अपना भी निश्चित मत देते हैं-

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।।४।।

हे अर्जुन! उस त्याग के विषय में तू मेरे निश्चय को सुन। हे पुरुषश्रेष्ठ! वह त्याग तीन प्रकार का कहा गया है।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञ, दान और तप ये तीन प्रकार के कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं. इन्हें तो करना ही चाहिए; क्योंकि यज्ञ, दान और तप तीनों ही पुरुषों को पवित्र करनेवाले हैं।

श्रीकृष्ण ने चार प्रचलित मतों का उल्लेख किया। पहला - काम्य कर्मों का त्याग, दूसरा - सम्पूर्ण कर्मफलों का त्याग, तीसरा दोषयुक्त होने के कारण सभी कर्मों का त्याग और चौथा मत था - यज्ञ, दान और तप त्यागने योग्य नहीं हैं। उनमें से एक मत में अपनी सहमति प्रकट करते हुए कहा कि अर्जुन! मेरा भी

यह निश्चित किया हुआ मत है कि यज्ञ, दान और तपरूप क्रिया त्यागने योग्य नहीं है। इससे सिद्ध है कि कृष्ण-काल में भी कई मत प्रचलित थे, जिनमें एक यथार्थ था। उस काल में भी कई मत थे, आज भी हैं। महापुरुष जव दुनिया में आता है, तो कई मत-मतान्तरों में से कल्याणकारी मत को निकालकर सामने खड़ा कर देता है। प्रत्येक महापुरुष ने यही किया है, श्रीकृष्ण ने भी यही किया। उन्होंने कोई नया मार्ग नहीं वताया, बल्कि प्रचलित कई मतों के बीच सत्य को समर्थन देकर उसे स्पष्ट कर दिया।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

योगेश्वर श्रीकृष्ण बल देकर कहते हैं - पार्थ! यज्ञ, दान और तपरूप कर्म आसक्ति और फल को त्यागकर अवश्य करना चाहिए। यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। अब अर्जुन के प्रश्न के अनुसार वे त्याग का विश्लेषण करते हैं-

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

हे अर्जुन! नियत कर्म (श्रीकृष्ण के शब्दों में नियत कर्म एक ही है, यज्ञ की प्रक्रिया। इस नियत शब्द को आठ-दस बार योगेश्वर ने कहा। इस पर बार-बार बल दिया कि कहीं साधक भटककर दूसरा न करने लगे), इस शास्त्र-विधि से निर्धारित कर्म का त्याग करना उचित नहीं। मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है। सांसारिक विषय-वस्तुओं की आसक्ति में फँसकर कार्यम् कर्म (कार्यम् कर्म, नियत कर्म एक दूसरे के पूरक हैं) का त्याग तामसी है। ऐसा पुरुष `अधः गच्छति'-कीट-पतंगपर्यन्त अधम योनियों में जाता है; क्योंकि उसने भजन की प्रवृत्तियों का त्याग कर दिया। अब राजस त्याग के विषय में बताते हैं-

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

कर्म को दुःखमय समझकर शारीरिक क्लेश के भय से उसका त्याग

करनेवाला व्यक्ति राजस त्याग को करके भी त्याग के फल को प्राप्त नहीं होता। जिससे भजन पार न लगे और `कायक्लेशभयात्'-इस भय से कर्म को त्याग दे कि शरीर को कष्ट होगा, उस मनुष्य का त्याग राजस है, उसे त्याग का फल परमशान्ति नहीं प्राप्त होती। तथा-

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

हे अर्जुन! करना कर्तव्य है - ऐसा समझकर जो `नियतम्' - शास्त्र-विधि से निर्धारित किया हुआ कर्म संग-दोष और फल को त्यागकर किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग है। अतः नियत कर्म करें और इसके सिवाय जो कुछ है, उसका त्याग कर दें। यह नियत कर्म भी क्या करते ही रहेंगे या कभी इसका भी त्याग होगा? इस पर कहते हैं, (अब अन्तिम त्याग का रूप देखें)-

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

हे अर्जुन! जो पुरुष "अकुशलं कर्म" अर्थात् अकल्याणकारी कर्म से (शास्त्र-नियत कर्म ही कल्याणकारी है। इसके विरोध में जो कुछ है, इसी लोक का बन्धन है इसलिये अकल्याणकारी है, ऐसे कर्मों से) द्वेष नहीं करता और कल्याणकारी कर्म में आसक्त नहीं होता, जो करना था वह भी शेष नहीं है - ऐसा सत्त्व से संयुक्त पुरुष संशयरहित, ज्ञानवान् और त्यागी है।उसने सब कुछ त्यागा है, लेकिन प्राप्ति के साथ वह पूर्ण त्याग ही संन्यास है। हो सकता है और कोई सरल रास्ता हो? इस पर कहते हैं - नहीं! देखें-

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

देहधारी पुरुषों के द्वारा (केवल शरीर ही नहीं, जिसे आप देखते हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व-रज-तम तीनों गुण ही इस जीवात्मा को शरीरों में बाँधते हैं। जब तक गुण जीवित हैं तब तक वह जीवधारी है। किसी न किसी रूप में शरीर परिवर्तित होता रहेगा। देह के कारण जब तक जीवित है)

सम्पूर्णता से सब कर्मों का त्याग संभव नहीं है, इसलिये जो पुरुष कर्म के फल का त्यागी है, वही त्यागी है - ऐसा कहा जाता है। अतः जब तक शरीर के कारण जीवित हैं, तब तक नियत कर्म करें और उनके फल का त्याग करें। बदले में किसी फल की कामना न करें। वैसे सकामी पुरुषों के कर्मों का फल भी होता है-

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१२।।

सकामी पुरुषों के कर्मों का अच्छा, बुरा और मिला हुआ - ऐसा तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् भी होता है, जन्म-जन्मान्तरों तक मिलता है; किन्तु 'संन्यासिनाम्' - सर्वस्व का न्यास (अन्त) करनेवाले पूर्ण त्यागी पुरुषों के कर्मों का फल किसी भी काल में नहीं होता। यही शुद्ध संन्यास है। संन्यास चरमोत्कृष्ट अवस्था है। भले-बुरे कर्मों का फल तथा पूर्ण न्यासकाल में उनके अन्त का प्रश्न पूरा हुआ। अब पुरुष के द्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्म होने में क्या कारण हैं? इस पर देखें-

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए पाँच कारण सांख्य-सिद्धान्त में कहे गये हैं, उन्हें तू मुझसे भली प्रकार जान!

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

इस विषय में कर्त्ता (यह मन), पृथक्-पृथक् करण (जिनके द्वारा किया जाता है, यदि शुभ पार लगता है तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, त्याग, अनवरत चिन्तन की प्रवृत्तियाँ करण होंगी। यदि अशुभ पार लगता है तो काम, क्रोध, राग-द्वेष, लिप्सा इत्यादि करण होंगे। इनके द्वारा प्रेरित होंगे।), नाना प्रकार की न्यारी-न्यारी चेष्टाएँ (अनन्त इच्छाएँ), आधार (अर्थात् साधन, जिस इच्छा के साथ साधन मिला वही इच्छा पूरी होने लगती है) और पाँचवाँ हेतु है - दैव अथवा संस्कार। इसकी पुष्टि करते हैं-

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।।१५।।

मनुष्य मन, वाणी और शरीर से शास्त्र के अनुसार अथवा विपरीत जो कुछ कर्म आरम्भ करता है, उनके ये पाँचों ही कारण हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी-

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।।१६।।

जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि के कारण उस विषय में कैवल्य स्वरूप आत्मा को कर्त्ता देखता है, वह दुर्बुद्धि यथार्थ नहीं देखता अर्थात् भगवान नहीं करते।

इस प्रश्न पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दूसरी बार बल दिया। अध्याय ५ में उन्होंने कहा था कि वह प्रभु न करता है, न कराता है, न क्रिया के संयोग को जोड़ता है। तो लोग कहते क्यों हैं? मोह से लोगों की बुद्धि आवृत है, इसलिये कुछ भी कह सकते हैं। यहाँ भी कहते हैं - कर्म होने में पाँच कारण हैं। उसके बावजूद भी जो कैवल्य स्वरूप परमात्मा को कर्त्ता देखता है, वह मूढ़बुद्धि (दुर्बुद्धि) यथार्थ नहीं देखता अर्थात् भगवान् नहीं करते, जब कि अर्जुन के लिए वे ताल ठोंककर खड़े हो जाते हैं। `निमित्तमात्रं भव' कि कर्त्ता-धर्त्ता तो मैं हूँ, तू निमित्त बनकर खड़ा भर रह! अन्ततः वे महापुरुष कहना क्या चाहते हैं?

वस्तुतः भगवान् और प्रकृति के बीच एक आकर्षण रेखा है। जब तक साधक प्रकृति की सीमा में है, भगवान नहीं करते। बहुत समीप रहकर भी द्रष्टा-रूप में ही रहते हैं। अनन्य भाव से इष्ट को पकड़ने पर वे हृदय-देश में संचालक बन जाते हैं। साधक प्रकृति की आकर्षण सीमा से निकलकर उनके क्षेत्र में आ जाता है। ऐसे अनुरागी के लिए वे ताल ठोंककर सदैव खड़े रहते हैं। केवल उसी के लिये भगवान करते हैं। अतः चिन्तन करें। प्रश्न पूरा हुआ। आगे देखें-

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

जिस पुरुष के अन्तःकरण में `मैं कर्त्ता हूँ' - ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी वुद्धि लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकों को मारकर भी वास्तव में न तो मारता है और न बँधता है। लोकसम्वन्धी संस्कारों का विलय ही लोक-संहार है। अब उस नियत कर्म की प्रेरणा कैसे होती है? इस पर देखें-

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।१८।।

अर्जुन! परिज्ञाता अर्थात् पूर्ण ज्ञाता महापुरुषों से, `ज्ञानं' - उसको जानने की विधि से और 'ज्ञेयं' - जानने योग्य वस्तु (श्रीकृष्ण ने पीछे कहा कि मैं ही ज्ञेय, जानने योग्य पदार्थ हूँ) से कर्म करने की प्रेरणां मिलती है। पहले तो पूर्ण ज्ञाता कोई महापुरुष हों, उनके द्वारा उस ज्ञान को जानने की विधि प्राप्त हो, लक्ष्य - ज्ञेय पर दृष्टि हो तभी कर्म की प्रेरणा मिलती है और कर्त्ता (मन की लगन), करण (विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि) तथा कर्म की जानकारी से कर्म का संग्रह होता है, कर्म इकट्ठा होने लगता है। पीछे कहा गया था कि प्राप्ति के पश्चात् उस पुरुष का कर्म किये जाने से कोई प्रयोजन नहीं होता और न छोड़ने से हानि ही होती है; फिर भी लोक-संग्रह अर्थात् पीछे वालों के हृदय में कल्याणकारी साधनों के संग्रह के लिए वह कर्म में बरतता है। कर्त्ता, करण और कर्म के द्वारा इनका संग्रह होता है। ज्ञान, कर्म और कर्त्ता के भी तीन-तीन भेद हैं-

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता भी गुणों के भेद से सांख्य शास्त्र में तीन-तीन प्रकार के कहे गये हैं, उन्हें भी तू यथावत् सुन। प्रस्तुत है पहले ज्ञान का भेद-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

अर्जुन! जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सव भूतों में एक अविनाशी परमात्म भाव को विभागरहित एकरस देखता है, उस ज्ञान को तू सात्त्विक जान।

ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभूति है, जिसके साथ ही गुणों का अन्त होना है। यह ज्ञान की परिपक्व अवस्था है। अब राजस ज्ञान देखें-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

जो ज्ञान सम्पूर्ण भूतों में भिन्न प्रकार के अनेक भावों को अलग-अलग करके जानता है कि यह अच्छा है, ये बुरे हैं - उस ज्ञान को तू राजस जान। ऐसी स्थिति है, तो राजसी स्तर पर तुम्हारा ज्ञान है। अब देखें तामस ज्ञान-

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

जो ज्ञान एकमात्र शरीर में ही सम्पूर्णता के सदृश आसक्त है, युक्तिरहित अर्थात् जिसके पीछे कोई क्रिया नहीं है, तत्त्व के अर्थस्वरूप परमात्मा की जानकारी से अलग करनेवाला और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा जाता है। अब प्रस्तुत है कर्म के तीन भेद-

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

जो कर्म `नियतम्' - शास्त्र-विधि से निर्धारित है (अन्य नहीं),संगदोष और फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा बिना राग-द्वेष के किया जाता है, वह कर्म सात्त्विक कहा जाता है [नियत कर्म (आराधना) चिन्तन है, जो परम में प्रवेश दिलाता है]।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त है, फल को चाहनेवाले और अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा जाता है। यह पुरुष भी वही नियत कर्म करता है; किन्तु अन्तर मात्र इतना ही है कि फल की इच्छा और अहंकार से युक्त है इसलिये उसके द्वारा होनेवाले कर्म राजस हैं। अब देखें तामस-

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

जो कर्म अन्ततः नष्ट होनेवाला है, हिंसा-सामर्थ्य को न विचार कर केवल मोहवश आरम्भ किया जाता है, वह कर्म तामस कहा है। स्पष्ट है, यह कर्म शास्त्र का नियत कर्म नहीं है। उसके स्थान पर भ्रान्ति है। अब देखें कर्त्ता के लक्षण-

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

जो कर्त्ता संग-दोष से रहित होकर, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त होकर, कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष-शोक इत्यादि विकारों से सर्वथा रहित होकर कर्म में (अहर्निश) प्रवृत्त है, वह कर्त्ता सात्त्विक कहा जाता है। यही उत्तम साधक के लक्षण हैं। कर्म वही है - नियत कर्म।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।२७।।

आसक्तियुक्त, कर्मों के फल को चाहनेवाला, लोलुप, आत्माओं को कष्ट देनेवाला, अपवित्र और हर्ष-शोक से जो लिप्त है, वह कर्त्ता राजस कहा गया है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोऽनैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।२८।।

जो चंचल चित्तवाला, असभ्य, घमण्डी, धूर्त, दूसरे के कार्यों में बाधा पहुँचानेवाला, शोक करने के स्वभाववाला, आलसी और दीर्घसूत्री है कि फिर कर लेंगे, वह कर्त्ता तामस कहा जाता है। दीर्घसूत्री कर्म को कल पर टालनेवाला है, यद्यपि करने की इच्छा उसे भी रहती है। इस प्रकार कर्त्ता के लक्षण पूरे हुए। अब योगेश्वर श्रीकृष्ण ने नवीन प्रश्न उठाया - बुद्धि, धारणा और सुख के लक्षण-

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय।।२९।।

धनंजय! बुद्धि और धारणा शक्ति का भी गुणों के कारण तीन प्रकार का भेद सम्पूर्णता से विभागपूर्वक मुझसे सुन।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

पार्थ! प्रवृत्ति और निवृत्ति को, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि यथार्थ जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है। अर्थात् परमात्म-पथ, आवागमन-पथ दोनों की भली प्रकार जानकारी सात्त्विकी बुद्धि है। यथा-

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

पार्थ! जिस बुद्धि द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को भी यथावत् नहीं जानता, अधूरा जानता है, वह बुद्धि राजसी है। अब तामसी बुद्धि का स्वरूप देखें-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

पार्थ! तमोगुण से ढँकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है तथा सम्पूर्ण हितों को विपरीत ही देखती है, वह बुद्धि तामसी है।

यहाँ श्लोक तीस से बत्तीस तक बुद्धि के तीन भेद बताये गये। पहली बुद्धि को किस कार्य से निवृत्त होना है और किसमें प्रवृत्त होना है, कौन कर्त्तव्य है और कौन अकर्त्तव्य है, इसकी भली प्रकार जानकारी रखती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है। जो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को धूमिल ढंग से जानती है, यथार्थ नहीं जानती, वह राजसी बुद्धि है और अधर्म को धर्म, नश्वर को शाश्वत तथा हित को अहित - इस प्रकार विपरीत जानकारीवाली बुद्धि तामसी है। इस प्रकार बुद्धि के भेद समाप्त हुए। अब प्रस्तुत है दूसरा प्रश्न, `धृति' - धारणा के तीन भेद-

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

`योगेन' - यौगिक प्रक्रिया के द्वारा `अव्यभिचारिणी' - योग-चिन्तन के अलावा दूसरे किसी स्फुरण का आना व्यभिचार है, चित्त का बहक जाना व्यभिचार है; अतः ऐसी अव्यभिचारिणी धारणा से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रिया को जो धारण करता है, वह धारणा सात्त्विकी है। अर्थात् मन, प्राण और इन्द्रियों को इष्ट की दिशा में मोड़ना ही सात्त्विकी धारणा है। तथा-

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

हे पार्थ! फल की इच्छावाला मनुष्य अति आसक्ति से जिस धारणा के द्वारा केवल धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है (मोक्ष को नहीं) वह धारणा राजसी है। इस धारणा में भी लक्ष्य वही है, केवल कामना करता है। जो कुछ करता है, उसके बदले में चाहता है। अब तामसी धारणा के लक्षण देखें-

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।।३५।।

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणा के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और अभिमान को भी [नहीं छोड़ता इन सबको] धारण किये रहता है, वह धारणा तामसी है। यह प्रश्न पूरा हुआ। अगला प्रश्न है, सुख-

सुखं त्विदानीं त्रिविधं श्रृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।।३६।।

अर्जुन! अब सुख भी तीन प्रकार का मुझसे सुन, उनमें से जिस सुख में साधक अभ्यास से रमण करता है अर्थात् चित्त को समेटकर इष्ट में रमण करता है और जो दुःखों का अन्त करनेवाला है। तथा,

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

उपर्युक्त सुख साधन के आरम्भ काल में यद्यपि विष के सदृश लगता है [प्रह्लाद को शूली पर चढ़ाया गया, मीरा को विष मिला। कबीर कहते हैं - `सुखिया सब संसार है, खाये और सोवे। दुखिया दास कबीर है, जागे और

रोवे।।' अतः आरम्भ में विष-जैसा भासता है] परन्तु परिणाम में अमृततुल्य है, अमृत तत्त्व को दिलानेवाला है। अतः आत्म-विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न हुआ सुख सात्त्विक कहा गया है। तथा-

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है, वह यद्यपि भोगकाल में अमृत के सदृश लगता है किन्तु परिणाम में विष के सदृश है, क्योंकि जन्म-मृत्यु का कारण है, वह सुख राजस कहा गया है। तथा-

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

जो सुख भोग काल और परिणाम में भी आत्मा को मोह में डालनेवाला है, निद्रा `या निशा सर्वभूतानां' जगत् की निशा में अचेत रखनेवाला है, आलस्य और व्यर्थ की चेष्टाओं से उत्पन्न वह सुख तामस कहा गया है। अब योगेश्वर श्रीकृष्ण गुणों की पहुँच बताते हैं, जो सबके पीछे लगे हैं-

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

अर्जुन! पृथ्वी में, स्वर्ग में अथवा देवताओं में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं, जो प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से रहित हो। अर्थात् ब्रह्मा से लेकर कीट-पतंग यावन्मात्र जगत् क्षणभंगुर, मरने-जीनेवाला है, तीनों गुणों के अन्तर्गत है अर्थात् देवता भी तीनों गुणों का विकार है, नश्वर है।

यहाँ बाह्य देवताओं को योगेश्वर ने चौथी बार लिया। अध्याय सात, नौ, सत्रह तथा यहाँ अठारहवें अध्याय में। इन सबका एक ही अर्थ है कि देवता तीनों गुणों के अन्तर्गत हैं। जो इन्हें भजता है, नश्वर की पूजा करता है।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध में महर्षि शुक तथा परीक्षित का प्रसिद्ध आख्यान है जिसमें उपदेश देते वे कहते हैं कि स्त्री-पुरुष में प्रेम के लिए शंकर-पार्वती की, आरोग्य के लिए अश्विनी कुमारों की, विजय के लिए इन्द्र की तथा धन के

लिए कुबेर की पूजा करें। इसी तरह विविध कामनाएँ बताकर अन्त में निर्णय देते हैं कि सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति और मोक्ष के लिए तो एकमात्र नारायण की पूजा करनी चाहिए। "तुलसी मूलहिं सींचिए, फूलइ फलई अघाई।" अस्तु सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण करें, जिसकी पूर्ति के लिये सद्गुरु की शरण, निष्कपट भाव से प्रश्न और सेवा एकमात्र उपाय है।

आसुरी और दैवी सम्पद् अन्तःकरण की दो वृत्तियाँ हैं, जिसमें दैवी सम्पद् परमदेव परमात्मा का दिग्दर्शन कराती है, इसलिये दैवी कही जाती है किन्तु यह भी तीनों गुणों के ही अन्तर्गत है। गुण शान्त होने के पश्चात् इनकी भी शान्ति हो जाती है। तत्पश्चात् उस आत्मतृप्त योगी के लिये कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता।

अब प्रस्तुत है पीछे से आरम्भ हुआ प्रश्न वर्ण-व्यवस्था। वर्ण जन्म प्रधान है अथवा कर्मों से पायी जानेवाली अन्तःकरण की योग्यता का नाम है? इस पर देखें-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं। स्वभाव में सात्त्विक गुण होगा तो आप में निर्मलता होगी, ध्यान-समाधि की क्षमता होगी। तामसी गुण होगा तो आलस्य, निद्रा, प्रमाद रहेगा; उसी स्तर से आपसे कर्म भी होगा। जो गुण कार्यरत है, वही आपका वर्ण है, स्वरूप है। इसी प्रकार अर्द्ध सात्त्विक और अर्द्ध राजस से एक वर्ग क्षत्रिय का है और आधा से कम तामस तथा विशेष राजस से द्वितीय वर्ग वैश्य का है।

इस प्रश्न को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यहाँ चौथी बार लिया है। अध्याय दो में इन चार वर्णों में से एक क्षत्रिय का नाम लिया कि क्षत्रिय के लिये युद्ध से श्रेयतर कोई मार्ग नहीं है। तीसरे अध्याय में उन्होंने कहा कि दुर्बल गुणवाले के लिए भी उसके स्वभाव से उत्पन्न योग्यता के अनुसार धर्म में प्रवृत्त होना, उसमें मर जाना भी परम कल्याणकारक है, दूसरों की नकल करना भयावह है। अध्याय चार में बताया कि चार वर्णों की सृष्टि मैंने की। तो क्या मनुष्यों को

चार जातियों में बाँटा? कहते हैं - नहीं, `गुणकर्म विभागशः' - गुणों की योग्यता से कर्म को चार सोपानों में बाँटा। यहाँ गुण एक पैमाना है, उसके द्वारा मापकर कर्म करने की क्षमता को चार भागों में बाँटा। श्रीकृष्ण के शब्दों में कर्म एकमात्र अव्यक्त पुरुष की प्राप्ति की क्रिया है। ईश्वर-प्राप्ति का आचरण आराधना है, जिसकी शुरुआत मात्र एक इष्ट में श्रद्धा से है। चिन्तन की विधि-विशेष है, जिसे पीछे बता आये हैं, इस यज्ञार्थ कर्म को चार भागों में बाँटा। अब कैसे समझें कि हममें कौन से गुण हैं और किस श्रेणी के हैं? इस पर यहाँ कहते हैं -

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, पूर्ण पवित्रता, मन-वाणी और शरीर को इष्ट के अनुरूप तपाना, क्षमाभाव, मन, इन्द्रियों और शरीर की सर्वथा सरलता, आस्तिक बुद्धि अर्थात् एक इष्ट में सच्ची आस्था, ज्ञान अर्थात् परमात्मा की जानकारी का संचार, विज्ञान अर्थात् परमात्मा से मिलनेवाले निर्देशों की जागृति एवं उसके अनुसार चलने की क्षमता, यह सब स्वभाव से उत्पन्न हुए ब्राह्मण के कर्म हैं अर्थात् जब स्वभाव में यह योग्यताएँ पायी जायँ, कर्म धारावाही होकर स्वभाव में ढल जाय, तो वह ब्राह्मण श्रेणी का कर्त्ता है। तथा-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।४३।।

शूरवीरता, ईश्वरीय तेज का मिलना, धैर्य, चिन्तन में दक्षता अर्थात् `कर्मसु कौशलम्' - कर्म करने में दक्षता, प्रकृति के संघर्ष से न भागने का स्वभाव, दान अर्थात् सर्वस्व का समर्पण, सब भावों पर स्वामीभाव अर्थात् ईश्वरभाव - यह सब क्षत्रिय के `स्वभावजम्' - स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म हैं। स्वभाव में ये योग्यताएँ पायी जाती हैं, तो वह कर्त्ता क्षत्रिय है। अब प्रस्तुत है, वैश्य तथा शूद्र का स्वरूप-

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

कृषि, गोरक्षा और व्यवसाय वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं। गोपालन ही क्यों? भैंस को मार डालें? बकरी न रखें? ऐसा कुछ नहीं है। सुदूर वैदिक वाङ्मय में `गो' शब्द अन्तःकरण एवं इन्द्रियों के लिये प्रचलित था। गो-रक्षा का अर्थ है, इन्द्रियों की रक्षा। विवेक, वैराग्य, शम, दम के द्वारा इन्द्रियाँ सुरक्षित होती हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह के द्वारा ये विभक्त हो जाती हैं - क्षीण हो जाती हैं। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। यह अपना निज धन है, जो एक बार साथ हो जाने पर सदैव साथ देती है। प्रकृति के द्वन्द्वों में से उनका शनैः-शनैः संग्रह करना व्यवसाय है (`विद्या धनम् सर्व धन-प्रधानम्' - इसे अर्जित करना वाणिज्य है।) खेती? शरीर ही एक क्षेत्र है। इसके अन्तराल में बोया हुआ बीज संस्कार-रूप में भला-बुरा जमता है। अर्जुन! इस निष्काम कर्म में बीज अर्थात् आरम्भ का नाश नहीं होता। (उनमें से कर्म की इस तीसरी श्रेणी में कर्म अर्थात् इष्ट-चिन्तन नियत कर्म) परमतत्त्व के चिन्तन का जो बीज इस क्षेत्र में पड़ा है, उसे सुरक्षित रखते हुए इसमें आनेवाले विजातीय विकारों का निराकरण करते जाना खेती है।

कृषि निरावहिं चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।। (मानस,४/१४/८)

इस प्रकार इन्द्रियों की सुरक्षा तथा प्रकृति के द्वन्द्वों से आत्मिक सम्पत्ति को संग्रहित करना और इस क्षेत्र में परमतत्त्व के चिन्तन का सम्वर्द्धन - यह वैश्य श्रेणी का कर्म है।

श्रीकृष्ण के अनुसार `यज्ञशिष्टाशिनः' पूर्तिकाल में यज्ञ जिसे देता है, वह है - परात्पर ब्रह्म! उसको पान करनेवाले सन्तजन सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं और उसी का शनैः-शनैः चिन्तन-क्रिया से बीजारोपण होता है। उसकी सुरक्षा खेती है। वैदिक शास्त्रों में अन्न का अर्थ है परमात्मा। वह परमात्मा ही एकमात्र अशन है, अन्न है। चिन्तन की पूर्तिकाल में यह आत्मा पूर्णतः तृप्त हो जाती है, फिर कभी अतृप्त नहीं होती, आवागमन में नहीं आती। इस अन्न के बीज को जमाते हुए आगे बढ़ाना कृषि है।

अपने से उन्नत अवस्थावाले, प्राप्तिवाले गुरुजनों की सेवा करना शूद्र का स्वभावजन्य कर्म है। शूद्र का अर्थ नीच नहीं अपितु अल्पज्ञ है। निम्न श्रेणी का

साधक ही शूद्र है। प्रवेशिका श्रेणी का वह साधक परिचर्या से ही आरम्भ करे। शनैः-शनैः सेवा से उसके हृदय में उन संस्कारों का सृजन होगा और क्रमशः चलकर वह वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणपर्यन्त दूरी तय करके, वर्णों को भी पार करके ब्रह्म में प्रवेश पा जायेगा। स्वभाव परिवर्तनशील है। स्वभाव के परिवर्तन के साथ वर्ण-परिवर्तन हो जाता है। वस्तुतः ये वर्ण अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट चार अवस्थाएँ हैं, कर्मपथ पर चलनेवाले साधकों की ऊँची-नीची चार सीढ़ियाँ हैं; क्योंकि कर्म एक ही है, नियत कर्म। श्रीकृष्ण कहते हैं कि परमसिद्धि की प्राप्ति का यही एक रास्ता है कि स्वभाव में जैसी योग्यता है - वहीं से लगे। इसको देखें-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

अपने-अपने स्वभाव में पायी जानेवाली योग्यता के अनुसार कर्म में लगा हुआ मनुष्य `संसिद्धिम्' - भगवत्प्राप्तिरूपी परमसिद्धि को प्राप्त होता है। पहले भी कह आये हैं - इस कर्म को करके तू परम सिद्धि को प्राप्त होगा। कौन-सा कर्म करके? अर्जुन! तू शास्त्र-विधि से निर्धारित कर्म, यज्ञार्थ कर्म कर। अव स्वकर्म करने की क्षमता के अनुसार कर्म में लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धि को किस प्रकार प्राप्त होता है, वह विधि तू मुझसे सुन। ध्यान दें-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

जिस परमात्मा से सव भूतों की उत्पत्ति हुई, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर को `स्वकर्मणा' - अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म के द्वारा अर्चन कर मानव परमसिद्धि को प्राप्त होता है। अतः परमात्मा की भावना और परमात्मा का ही सर्वांगीण अर्चन और क्रमशः चलना आवश्यक है। जैसे कोई वड़ी कक्षा में वैठ जाय, तो छोटी भी खो देगा और बड़ी तो मिलेगी ही नहीं। अतः इस कर्मपथ पर सोपानशः चलने का विधान है। जैसे १८/६ में। इसी पर पुनः वल देते हुए कहते हैं कि आप अल्पज्ञ ही क्यों न हों, वहीं से आरम्भ करें। वह विधि है - परमात्मा के प्रति समर्पण।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

अच्छी प्रकार अनुष्ठान किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी स्वधर्म परमकल्याणकारक है। **`स्वभाव नियतं'** - स्वभाव से निर्धारित किया हुआ कर्म करता हुआ मनुष्य पाप अर्थात् आवागमन को प्राप्त नहीं होता। प्रायः साधकों को उच्चाटन होने लगता है कि हम सेवा करते ही रहेंगे। वे तो ध्यानस्थ हैं। अच्छे गुणों के कारण उनका सम्मान है। तुरंत वे नकल करने लगते हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार नकल या ईर्ष्या से कुछ मिलेगा नहीं। अपने स्वभाव से कर्म करने की क्षमता के अनुसार कर्म करके ही कोई परमसिद्धि पाता है, छोड़कर नहीं।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

कौन्तेय! दोषयुक्त (अल्पज्ञ अवस्थावाला है तो सिद्ध है कि अभी दोषों का बाहुल्य है, ऐसा दोषयुक्त भी) **`सहजं कर्म'** - स्वभाव से उत्पन्न सहज कर्म को नहीं त्यागना चाहिए; क्योंकि धुएँ से अग्नि के सदृश सभी कर्म किसी-न-किसी दोष से आवृत्त हैं। ब्राह्मण श्रेणी ही सही, कर्म तो करना पड़ रहा है। स्थिति नहीं मिली, तब तक दोष विद्यमान हैं, प्रकृति का आवरण विद्यमान है। दोषों का अन्त वहाँ होगा, जहाँ ब्राह्मण श्रेणी का कर्म भी ब्रह्म में प्रवेश के साथ विलय हो जाता है। उस प्राप्तिवाले का लक्षण क्या है, जहाँ कर्मों से प्रयोजन नहीं रह जाता-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

सर्वत्र आसक्ति से रहित बुद्धिवाला, स्पृहा से सर्वथा रहित, जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष **`संन्यासिनाम्'** - सर्वस्व के न्यास की अवस्था में परम नैष्कर्म्य की सिद्धि को प्राप्त होता है। यहाँ संन्यास और परम नैष्कर्म्य सिद्धि पर्याय हैं। यहाँ सांख्य योगी वहीं पहुँचता है, जहाँ कि निष्काम कर्मयोगी। यह उपलब्धि दोनों मार्गियों के लिए समान है। अब परम नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष जैसे ब्रह्म को प्राप्त होता है, उसका संक्षेप में चित्रण करते हैं-

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

कौन्तेय! जो ज्ञान की परानिष्ठा है, पराकाष्ठा है, उस परमसिद्धि को प्राप्त हुआ पुरुष ब्रह्म को जैसे प्राप्त होता है, उस विधि को तू मुझसे संक्षेप में जान! अगले श्लोक में वही विधि बता रहे हैं, ध्यान दें-

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।

अर्जुन! विशेष रूप से शुद्ध बुद्धि से युक्त एकान्त और शुभदेश का सेवन करनेवाला, साधना में जितना सहायक हो उतना ही आहार करनेवाला, जीते हुए मन-वाणी और शरीरवाला, दृढ़ वैराग्य को भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष निरन्तर ध्यान-योग के परायण और ऐसी धारणा से युक्त अर्थात् इसी सब को धारण करनेवाला तथा अन्तःकरण को वश में करके शब्दादिक विषयों को त्यागकर, राग-द्वेष को नष्ट करके तथा-

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध, बाह्य वस्तुओं और आन्तरिक चिन्तनों का त्यागकर, ममतारहित, शान्त अन्तःकरण हुआ पुरुष परब्रह्म के साथ एकीभाव होने के लिए योग्य होता है। आगे देखें-

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

ब्रह्म के साथ एकीभाव होने की योग्यतावाला वह प्रसन्नचित्त पुरुष न तो किसी वस्तु के लिए शोक करता है और न किसी की आकांक्षा ही करता है। सब भूतों में समभाव हुआ वह भक्ति की पराकाष्ठा पर है। भक्ति अपना परिणाम देने की स्थिति में है, जहाँ ब्रह्म में प्रवेश मिलता है। अब-

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।

उस पराभक्ति के द्वारा वह मुझे तत्त्व से भली प्रकार जानता है। वह तत्त्व है क्या? मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ, अजर-अमर-शाश्वत जिन अलौकिक गुणधर्मों वाला हूँ, उसे जानता है और मुझे तत्त्व से जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश कर जाता है। प्राप्तिकाल में तो भगवान दिखायी पड़ते हैं और प्राप्ति के ठीक बाद तत्क्षण वह अपने ही आत्मस्वरूप को उन ईश्वरीय गुणधर्मों से युक्त पाता है कि आत्मा ही अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और सनातन है।

दूसरे अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था - आत्मा ही सत्य है, सनातन है, अव्यक्त और अमृतस्वरूप है; किन्तु इन विभूतियों से युक्त आत्मा को केवल तत्त्वदर्शियों ने देखा। अब वहाँ प्रश्न स्वभाविक था कि वस्तुतः तत्त्वदर्शिता है क्या? बहुत से लोग पाँच तत्त्व, पचीस तत्त्व की बौद्धिक गणना करने लगते हैं; किन्तु इस पर श्रीकृष्ण ने यहाँ अठारहवें अध्याय में निर्णय दिया कि परमतत्त्व है - परमात्मा। जो उसे जानता है, वही तत्त्वदर्शी है। अब यदि आपको तत्त्व की चाह है, परमात्म तत्त्व की चाह है तो भजन-चिन्तन आवश्यक है।

यहाँ श्लोक उनचास से पचपन तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि संन्यास मार्ग में भी कर्म करना है। उन्होंने कहा, 'संन्यासेन'- संन्यास के द्वारा (अर्थात् ज्ञानयोग के द्वारा) कर्म करते-करते इच्छारहित, आसक्तिरहित तथा जीते हुए शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष जिस प्रकार नैष्कर्म्य की परमसिद्धि को प्राप्त होता है, उसे संक्षेप में कहूँगा। अहंकार, बल, दर्प, काम-क्रोध, मद-मोह इत्यादि प्रकृति में गिरानेवाले विकार जब सर्वथा शान्त हो जाते हैं और विवेक-वैराग्य, शम-दम, एकान्त सेवन, ध्यान इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली योग्यताएँ जब पूर्णतया परिपक्व हो जाती हैं, उस समय वह ब्रह्म को जानने योग्य होता है। उस योग्यता का नाम ही पराभक्ति है, इसी योग्यता द्वारा वह तत्त्व को जानता है। तत्त्व है क्या? मुझे जानता है? भगवान जो है, जिन विभूतियों से युक्त है उसे जानता है और मुझे जानकर तत्क्षण मुझमें ही स्थित हो जाता है। अर्थात् ब्रह्म, तत्त्व, ईश्वर, परमात्मा और आत्मा एक दूसरे के पर्याय हैं। एक की जानकारी

के साथ ही इन सबकी जानकारी हो जाती है। यही परमसिद्धि, परमगतिं, परमधाम भी है।

अतः गीता का दृढ़ निश्चय है कि संन्यास और निष्काम कर्मयोग दोनों ही परिस्थितियों में परम नैष्कर्म्यसिद्धि को पाने के लिए नियत कर्म (चिन्तन) अनिवार्य है।

अब तक तो संन्यासी के लिए भजन-चिन्तन पर वल दिया और अब समर्पण कहकर उसी वार्त्ता को निष्काम कर्मयोगी के लिए भी कहते हैं -

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

मुझ पर विशेष रूप से आश्रित हुआ पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ; लेशमात्र भी त्रुटि न रखकर करता हुआ मेरे कृपा-प्रसाद से शाश्वत, अविनाशी परम पद को प्राप्त होता है। कर्म वही है - नियत कर्म, यज्ञ की प्रक्रिया! पूर्ण योगेश्वर सद्गुरु के आश्रित साधक उनके कृपा-प्रसाद से शीघ्र पा जाता है। अतः उसे पाने के लिये समर्पण आवश्यक है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

अंतः अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों को (जितना कुछ तुझसे बन पड़ता है) मन से मुझे अर्पित करके, अपने भरोसे नहीं बल्कि मुझे समर्पण करके, मेरे परायण हुआ बुद्धियोग अर्थात् योग की वुद्धि का अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्त लगा। योग एक ही है, जो सर्वथा दुःखों का अन्त करनेवाला और परमतत्त्व परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाला है। उसकी क्रिया भी एक ही है - यज्ञ की प्रक्रिया, जो मन तथा इन्द्रियों के संयम, श्वास-प्रश्वास तथा ध्यान इत्यादि पर निर्भर है। जिसका परिणाम भी एक ही है - `यान्ति ब्रह्म सनातनम्'। इसी पर आगे कहते हैं -

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

इस प्रकार मुझमें निरन्तर चित्त को लगानेवाला होकर तू मेरी कृपा से मन और इन्द्रियों के सम्पूर्ण दुर्गों को अनायास ही तर जाएगा। 'इन्द्रिन्ह द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।।आवत देखहि विषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी।। - ये ही दुर्जय दुर्ग हैं। मेरी कृपा से तू इन बाधाओं का अतिक्रमण कर जायेगा किन्तु यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को नहीं सुनेगा, तो विनष्ट हो जायेगा, परमार्थ से च्युत हो जायेगा। पुनः इसी पर बल देते हैं-

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

जो तू अहंकार का आश्रय लेकर ऐसा मानता है कि युद्ध नहीं करूँगा, तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे बलात् युद्ध में लगा देगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

कौन्तेय!- मोहवश तू जिस कर्म को नहीं करना चाहता, उसको भी अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए कर्म से बँधा हुआ परवश होकर करेगा। प्रकृति के संघर्ष से न भागने का तुम्हारा क्षत्रिय श्रेणी का स्वभाव तुम्हें बरबस कर्म में लगायेगा। प्रश्न पूरा हुआ। अब वह ईश्वर रहता कहाँ है? इस पर कहते हैं-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के हृदय-देश में निवास करता है। इतना समीप है तो लोग जानते क्यों नहीं? मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर सब लोग भ्रमवश चक्कर लगाते ही रहते हैं, इसलिए नहीं जानते। यह यन्त्र बड़ा बाधक है, जो बार-बार नश्वर कलेवरों (शरीरों) में घुमाता रहता है। तो शरण किसकी लें?

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

इसलिए हे भारत! सम्पूर्ण भाव से उस ईश्वर की (जो हृदय-देश में स्थित है) अनन्य शरण को प्राप्त हो। उसकी कृपा-प्रसाद से तू परमशान्ति शाश्वत परमधाम को प्राप्त होगा। अतः ध्यान करना है तो हृदय-देश में करें। यह जानते हुए भी मन्दिर, मस्जिद, चर्च या अन्यत्र खोजना समय बरबाद करना है। हाँ, जानकारी नहीं है तब तक स्वाभाविक है। ईश्वर का निवास-स्थान हृदय है। भागवत के चतुःश्लोकी गीता का सारांश भी यही है कि वैसे तो मैं सर्वत्र हूँ, किन्तु प्राप्त होता हूँ तो हृदय-देश में ध्यान करने से ही।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

इस प्रकार बस इतना ही गोपनीय से भी अतिगोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिए कहा है। इस विधि से सम्पूर्ण रूप से विचार कर; फिर तू जैसा चाहता है, वैसा कर। सत्य यही है, शोध की स्थली यही है, प्राप्ति की स्थली भी यही है। किन्तु हृदयस्थित ईश्वर दिखाई नहीं देता, इस पर उपाय बताते हैं -

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अर्जुन! सम्पूर्ण गोपनीय से भी अतिगोपनीय मेरे रहस्ययुक्त वचन को तू फिर भी सुन! (कहा है, किन्तु फिर भी सुन। साधक के लिये इष्ट सदैव खड़े रहते हैं) क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इसलिए यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिए फिर भी कहूँगा। वह है क्या?

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

अर्जुन! तू मेरे में ही अनन्य मनवाला हो, मेरा अनन्य भक्त हो, मेरे प्रति श्रद्धा से पूर्ण हो (मेरे समर्पण में अश्रुपात् होने लगे), मेरे को ही नमन कर। ऐसा करने से तू मेरे को ही प्राप्त होगा। यह मैं तेरे लिए सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। पीछे बताया ईश्वर हृदय-देश में है, उसकी शरण जा। यहाँ कहते हैं - मेरी शरण आ। यह अति गोपनीय रहस्ययुक्त वचन

सुन कि मेरी शरण आओ। वास्तव में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहना क्या चाहते हैं? यही कि साधक के लिए सद्गुरु की शरण नितान्त आवश्यक है। श्रीकृष्ण एक पूर्ण योगेश्वर थे। अव समर्पण की विधि बताते हैं-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

सम्पूर्ण धर्मों को त्यागकर (अर्थात् मैं ब्राह्मण श्रेणी का कर्त्ता हूँ या शूद्र श्रेणी का, क्षत्रिय हूँ अथवा वैश्य - इसके विचार को त्यागकर) केवल एक मेरी अनन्य शरण को प्राप्त हो। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।

इन सव ब्राह्मण-क्षत्रिय इत्यादि वर्णों का विचार न कर (कि इस कर्म-पथ में किस स्तर का हूँ) जो अनन्य भाव से शरण हो जाता है, सिवाय इष्ट के अन्य किसी को नहीं-देखता, उसका क्रमशः वर्ण परिवर्तन, उत्थान तथा पूर्ण पापों से निवृत्ति (मोक्ष) की जिम्मेदारी वह इष्ट सद्गुरु स्वयं अपने हाथों में ले लेते हैं।

प्रत्येक महापुरुष ने यही कहा। शास्त्र जब लिखने में आता है, तो लगता है कि यह सवके लिए है; किन्तु है वस्तुतः श्रद्धावान् के लिए ही। अर्जुन अधिकारी था, अतः उसे वल देकर कहा। अव योगेश्वर स्वयं निर्णय देते हैं कि इसके अधिकारी कौन हैं?

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

अर्जुन! इस प्रकार तेरे हित के लिए कहे इस गीता के उपदेश को किसी काल में भूलकर भी न तो तपरहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिए, न भक्तिरहित के प्रति कहना चाहिए, न विना सुनने की इच्छावाले के प्रति कहना चाहिए और जो मेरी निन्दा करता है - यह दोष है, वह दोष है - इस प्रकार झूठी आलोचना करता है, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिए। महापुरुष ही तो थे, जिनके समक्ष स्तुतिकर्त्ताओं के साथ-साथ कतिपय निन्दक भी रहे होंगे। इनसे तो नहीं कहना चाहिए। किन्तु प्रश्न स्वाभाविक है कि कहा किससे जाय? इस पर देखें-

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

जो मनुष्य मेरी पराभक्ति को प्राप्त कर इस परम रहस्ययुक्त गीता के उपदेश को मेरे भक्तों में कहेगा, वह निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। अर्थात् वह भक्त मुझे ही प्राप्त होगा, जो सुन लेगा; क्योंकि उपदेश को भली प्रकार सुनकर हृदयंगम कर लेगा, तो उस पर चलेगा तथा पार पा जायेगा। अब उस उपदेशकर्त्ता के लिए कहते हैं-

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्यों में कोई है और न उससे बढ़कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथ्वी में दूसरा कोई होगा। किससे? जो मेरे भक्तों में मेरा उपदेश करेगा, उनको उधर उस पथ पर चलायेगा; क्योंकि कल्याण का यही एक स्रोत है, राजमार्ग है। अब देखें अध्ययन-

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनों के सम्वाद को `अध्येष्यते' - भली प्रकार मनन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित होऊँगा अर्थात् ऐसा यज्ञ जिसका परिणाम ज्ञान है, जिसका स्वरूप पीछे बताया गया है, जिसका तात्पर्य है - साक्षात्कार के साथ मिलनेवाली जानकारी, ऐसा मेरा निश्चित मत है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

जो पुरुष श्रद्धा से युक्त और ईर्ष्यारहित होकर केवल सुनेगा, वह भी पापों से मुक्त हुआ उत्तम कर्म करनेवालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा। अर्थात् करते हुए भी पार न लगे तो सुना भर करें, उत्तम लोक तब भी है; क्योंकि वह चित्त में उन उपदेशों को ग्रहण तो करता है। यहाँ सड़सठ से इकहत्तर तक पाँच श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण ने यह बताया कि गीता का उपदेश अनाधिकारियों

को नहीं कहना चाहिये; किन्तु जो श्रद्धावान है उससे अवश्य कहना चाहिये। जो सुनेगा, वह भक्त मुझे प्राप्त होगा; क्योंकि अति गोपनीय कथा को सुनकर पुरुष चलने लगता है। जो भक्तो में कहेगा, उससे अधिक प्रिय कहनेवाला मेरा कोई नहीं है। जो अध्ययन करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित होऊँगा। यज्ञ का परिणाम ही ज्ञान है। जो गीता के अनुसार कर्म करने में असमर्थ है; किन्तु श्रद्धा से मात्र सुनेगा, वह भी पुण्य लोकों को प्राप्त होगा। इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ने इसके कहने-सुनने तथा अध्ययन का फल बताया। प्रश्न पूरा हुआ। अब अन्त में वे अर्जुन से पूछते हैं कि कुछ समझ में आया?

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।।७२।।

हे पार्थ! क्या मेरा यह वचन तूने एकाग्रचित्त होकर सुना? क्या तेरा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हुआ? इस पर अर्जुन बोला-

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है; मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, अब मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा का पालन करूँगा, जबकि सैन्य निरीक्षण के समय दोनों ही सेनाओं में स्वजनों को देख अर्जुन व्याकुल हो गया था। उसने निवेदन किया था कि गोविन्द! स्वजनों को मारकर हम कैसे सुखी होंगे? ऐसे युद्ध से शाश्वत कुलधर्म नष्ट हो जायेगा, पिंडोदक क्रिया लुप्त हो जायेगी, वर्णसंकर उत्पन्न होगा। हम लोग समझदार होकर भी पाप करने को उद्यत हुए हैं। क्यों न इनसे बचने के लिए उपाय करें? शस्त्रधारी ये कौरव मुझ शस्त्ररहित को रण में मार डालें, वह मरना भी श्रेयस्कर है। गोविन्द, मैं युद्ध नहीं करूँगा - कहता हुआ वह रथ के पिछले भाग में वैठ गया।

इस प्रकार गीता में अर्जुन ने योगेश्वर श्रीकृष्ण के समक्ष प्रश्नों-परिप्रश्नों की श्रृंखला खड़ी कर दी। जैसे अध्याय २/७-वह साधन मेरे प्रति कहिए जिससे मैं परमश्रेय को प्राप्त हो जाऊँ? २/५४-स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षण क्या हैं?

३/१-जब आपकी दृष्टि में ज्ञानयोग श्रेष्ठ है तो मुझे भयंकर कर्मों में क्यों लगाते हैं? ३/३६-मनुष्य न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? ४/४-आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्य का जन्म बहुत पुराना है तो मैं यह कैसे मान लूँ कि कल्प के आदि में इस योग को आपने सूर्य के प्रति कहा था? ५/१-कभी आप संन्यास की प्रशंसा करते हैं तो कभी निष्काम कर्म की। इनमें से एक निश्चय करके कहिए जिससे मैं परमश्रेय को प्राप्त कर लूँ? ६/३५-मन चंचल है, फिर शिथिल प्रयत्नवाला श्रद्धावान् पुरुष आपको न प्राप्त होकर किस दुर्गति को प्राप्त होता है? ८/१-२-गोविन्द! जिसका आपने वर्णन किया वह ब्रह्म क्या है? वह अध्यात्म क्या है? अधिदैव, अधिभूत क्या है? इस शरीर में अधियज्ञ कौन है? वह कर्म क्या है? अन्त समय में आप किस प्रकार जानने में आते हैं? सात प्रश्न किये। अध्याय १०/१७ में अर्जुन ने जिज्ञासा की कि निरन्तर चिन्तन करता हुआ मैं किन-किन भावों द्वारा आपका स्मरण करूँ? ११/४ में उसने निवेदन किया कि जिन विभूतियों का आपने वर्णन किया उन्हें मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ। १२/१-जो अनन्य श्रद्धा से लगे हुए भक्तजन भली प्रकार आपकी उपासना करते हैं और दूसरे जो अक्षर अव्यक्त की उपासना करते हैं, इन दोनों में उत्तम योगवेत्ता कौन है? १४/२१-तीनों गुणों से अतीत हुआ पुरुष किन लक्षणों से युक्त होता है तथा मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है? १७/१-जो मनुष्य उपरोक्त शास्त्रविधि को त्यागकर किन्तु श्रद्धा से युक्त होकर यजन करते हैं उनकी गति कौन-सी होती है और १८/१ कि हे महाबाहो! मैं त्याग और संन्यास के यथार्थ स्वरूप को पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।

इस प्रकार अर्जुन प्रश्न करता गया ।जो वह नहीं कर सकता था उन गोपनीय रहस्यों को भगवान ने स्वयं दर्शाया। इनका समाधान होते ही वह प्रश्नों से विरत हो गया और बोला कि गोविन्द! अब मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। वस्तुतः ये प्रश्न मानव मात्र के लिये हैं। इन सभी प्रश्नों के समाधान के बिना कोई भी साधक श्रेय-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः सद्गुरु के आदेश का पालन करने के लिये, श्रेय-पथ में अग्रसर होने के लिए सम्पूर्ण गीता का श्रवण अति आवश्यक है। अर्जुन का समाधान हो गया। साथ

ही योगेश्वर श्रीकृष्ण के श्रीमुख से निःसृत वाणी का उपसंहार हुआ। इस पर संजय बोला-

[ग्यारहवें अध्याय में विराट रूप का दर्शन करा लेने पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा था कि अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा मैं इस प्रकार देखने को (जैसा तूने देखा है), तत्त्व से जानने तथा प्रवेश करने को सुलभ हूँ (११/५४)। इस प्रकार दर्शन करनेवाले साक्षात् मेरे स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं और यहाँ अभी अर्जुन से पूछते हैं - क्या तुम्हारा मोह नष्ट हुआ। अर्जुन ने कहा कि मेरा मोह नष्ट हो गया। मैं अपनी स्मृति को प्राप्त हो गया हूँ। आप जो कहते हैं, वही करूँगा। दर्शन के साथ तो अर्जुन को मुक्त हो जाना चाहिये था। वस्तुतः अर्जुन को तो जो होना था, हो गया; किन्तु शास्त्र भविष्य में आनेवाली पीढ़ी के लिए होता है। उसका उपयोग आप सबके लिये ही है।]

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

इस प्रकार मैंने वासुदेव और महात्मा अर्जुन (अर्जुन एक महात्मा है, योगी है, साधक है; न कि कोई धनुर्धर जो मारने के लिए खड़ा हो। अतः महात्मा अर्जुन) के इस विलक्षण और रोमांचकारी सम्वाद को सुना। आप में सुनने की क्षमता कैसे आयी? आगे कहते हैं-

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

श्री व्यासजी की कृपा से, उनकी दी हुई दृष्टि से मैंने इस परम गोपनीय योग को साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण से सुना है। संजय श्रीकृष्ण को योगेश्वर मानता है। जो स्वयं योगी हो और दूसरों को भी योग प्रदान करने की क्षमता रखता हो, वह योगेश्वर है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

हे राजन्! केशव और अर्जुन के इस परम कल्याणकारक और अद्भुत सम्वाद को पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित हो रहा हूँ। अतः इस सम्वाद को सदैव स्मरण करना चाहिये और इसी स्मृति से प्रसन्न रहना चाहिये। अब उनके स्वरूप का स्मरण कर संजय कहते हैं-

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

हे राजन्! हरि के (जो शुभाशुभ सर्व का हरण कर स्वयं शेष रहते हैं, उन हरि के) अति अद्भुत रूप को पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ। इष्ट का स्वरूप बार-बार स्मरण करने की वस्तु है। अन्त में संजय निर्णय देते हैं-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

राजन्! जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धर अर्जुन (ध्यान ही धनुष है, इन्द्रियों की दृढ़ता ही गाण्डीव है अर्थात् स्थिरता के साथ ध्यान धरनेवाला महात्मा अर्जुन) है, वहीं पर `श्रीः' - ऐश्वर्य, विजय - जिसके पीछे हार नहीं है, ईश्वरीय विभूति और चल संसार में अचल रहनेवाली नीति है, ऐसा मेरा मत है।

आज तो धनुर्धर अर्जुन है नहीं। यह नीति, विजय विभूति तो अर्जुन तक सीमित रह गयी? तत्सामयिक थी यह। यह तो द्वापर में ही समाप्त हो गयी? लेकिन ऐसी बात नहीं है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि मैं सबके हृदय-देश में निवास करता हूँ। आपके हृदय में भी वे हैं। अनुराग ही अर्जुन है। अनुराग आपके अन्तःकरण की इष्टोन्मुख लगन का नाम है। यदि ऐसा अनुराग आप में है, तो सदैव वास्तविक विजय है और अचल स्थिति दिलानेवाली नीति भी सदैव रहेगी, न कि कभी थी। जब तक प्राणी रहेंगे, परमात्मा का निवास उनके हृदय-देश में रहेगा, विकल आत्मा उसे पाने का इच्छुक होगा और उनमें से जिसके भी हृदय में उसे पाने का अनुराग उमड़ेगा, वही अर्जुन की श्रेणी वाला होगा; क्योंकि अनुराग ही अर्जुन है। अतः मानवमात्र इसका प्रत्याशी बन सकता है।

निष्कर्ष :

यह गीता का समापन अध्याय है। आरम्भ में ही अर्जुन का प्रश्न था कि, प्रभु! मैं त्याग और संन्यास के भेद और स्वरूप को जानना चाहता हूँ। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इस पर प्रचलित चार मतों की चर्चा की। इनमें एक सही भी था। इससे मिलता-जुलता ही निर्णय योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दिया कि यज्ञ, दान और तप किसी काल में त्यागने योग्य नहीं हैं। ये मनीषियों को भी पवित्र करनेवाले हैं। इन तीनों को रखते हुए इनके विरोधी विकारों का त्याग करना ही वास्तविक त्याग है। यह सात्त्विक त्याग है। फल की इच्छा के साथ त्याग राजस है और मोहवश नियत कर्म का ही त्याग करना तामस त्याग है और संन्यास त्याग की ही चरमोत्कृष्ट अवस्था है। नियत कर्म और ध्यानजनित सुख सात्त्विक है। इन्द्रियों और विषयों का भोग राजस है और तृप्तिदायक अन्न की उत्पत्ति से रहित दुःखद सुख तामस है।

मनुष्य-मात्र के द्वारा शास्त्र के अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य होने में पाँच कारण हैं - कर्त्ता (मन), पृथक्-पृथक् करण (जिनके द्वारा किया जाता है। शुभ पार लगता है, तो विवेक, वैराग्य, शम, दम, करण हैं। अशुभ पार लगता है, तो काम, क्रोध, राग-द्वेष इत्यादि करण होंगे), नाना प्रकार की इच्छाएँ - इच्छाएँ अनन्त हैं, सब पूर्ण नहीं हो सकतीं। केवल वह इच्छा पूर्ण होती है, जिसके साथ आधार मिल जाता है। चौथा कारण है आधार (साधन) और पाँचवाँ हेतु है - दैव (प्रारब्ध या संस्कार)। प्रत्येक कार्य के होने में यही पाँच कारण हैं, फिर भी जो कैवल्यस्वरूप परमात्मा को कर्त्ता मानता है, वह मूढ़बुद्धि यथार्थ नहीं जानता। अर्थात् भगवान नहीं करते, जब कि पीछे कह आये हैं कि अर्जुन! तू निमित्तमात्र होकर खड़ा भर रह। कर्त्ता-धर्त्ता तो मैं हूँ। अन्ततः उन महापुरुष का आशय क्या है?

वस्तुतः प्रकृति और पुरुष के बीच एक आकर्षण सीमा है। जब तक मनुष्य प्रकृति में बरतता है, तब तक माया प्रेरणा करती है और जब वह इससे ऊपर उठकर इष्ट में समर्पित हो जाता है और वह इष्ट जब हृदय-देश से रथी हो जाता है, फिर भगवान् करते हैं। ऐसे स्तर पर अर्जुन था, संजय भी था और सब के लिए इस (कक्षा) में पहुँचने का विधान है। अतः यहाँ भगवान् प्रेरणा करते हैं।

पूर्ण ज्ञाता महापुरुष, जानने की विधि और ज्ञेय परमात्मा इन तीनों के संयोग से कर्म की प्रेरणा मिलती है। इसलिए किसी अनुभवी महापुरुष (सद्गुरु) के सान्निध्य में समझने का प्रयास करना चाहिए।

वर्ण-व्यवस्था के प्रश्न को चौथी बार लेते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया। इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, एकाग्रता, शरीर-वाणी और मन को इष्ट के अनुरूप तपाना, ईश्वरीय जानकारी का संचार, ईश्वरीय निर्देशन पर चलने की क्षमता इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिलानेवाली योग्यताएँ ब्राह्मण श्रेणी के कर्म हैं। शौर्य, पीछे न हटने का स्वभाव, सब भावों पर स्वामीभाव, कर्म में प्रवृत्त होने की दक्षता क्षत्रिय श्रेणी का कर्म है। इन्द्रियों का संरक्षण, आत्मिक सम्पत्ति का संवर्द्धन इत्यादि वैश्य श्रेणी का कर्म है और परिचर्या शूद्र श्रेणी का कर्म है। शूद्र का अर्थ है - अल्पज्ञ। अल्पज्ञ साधक जो नियत कर्म चिन्तन में दो घण्टे बैठकर दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाता। शरीर अवश्य बैठा है, लेकिन जिस मन को टिकाना चाहिए, वह तो हवा से बातें कर रहा है। ऐसे साधक का कल्याण कैसे हो? उसे अपने से उन्नत अवस्थावालों की सेवा करनी चाहिये अथवा सद्गुरु की। शनैः-शनैः उसमें भी संस्कारों का सृजन होगा, गति पकड़ लेगा। अतः इस अल्पज्ञ का कर्म सेवा से ही प्रारम्भ होगा। कर्म एक ही है - नियत कर्म, चिन्तन। उसके कर्त्ता की चार श्रेणियाँ - अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं। मनुष्य को नहीं बल्कि गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा गया। गीतोक्त वर्ण इतने में ही हैं।

तत्त्व को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि - अर्जुन! उस परम सिद्धि की विधि बताऊँगा, जो ज्ञान की परानिष्ठा है। विवेक, वैराग्य, शम, दम, धारावाही चिन्तन और ध्यान की प्रवृत्ति, ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली सारी योग्यताएँ जब परिपक्व हो जाती हैं; काम, क्रोध, मोह, राग-द्वेषादि प्रकृति में घसीटकर रखनेवाली प्रवृत्तियाँ जब पूर्णतः शान्त हो जाती हैं, उस समय वह व्यक्ति ब्रह्म को जानने योग्य होता है। उसी योग्यता का नाम पराभक्ति है। पराभक्ति के द्वारा ही वह तत्त्व को जानता है। तत्त्व है क्या? बताया - मैं जो हूँ, जिन विभूतियों से युक्त हूँ, उसको जानता है अर्थात् परमात्मा जो है, अव्यक्त, शाश्वत, अपरिवर्तनशील जिन अलौकिक गुण धर्मोंवाला है, उसे जानता है और जानकर

वह तत्क्षण मुझमें स्थित हो जाता है। अतः तत्त्व है - परमतत्त्व, न कि पाँच या पचीस तत्त्व। प्राप्ति के साथ आत्मा उसी स्वरूप में स्थित हो जाता है, उन्हीं गुणधर्मों से युक्त हो जाता है।

ईश्वर का निवास बताते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण भूतों के हृदय-देश में निवास करता है. किन्तु मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर लोग भटक रहे हैं, इसलिए नहीं जानते। अतः अर्जुन! तू हृदय में स्थित उस ईश्वर की शरण जा। इससे भी गोपनीय एक रहस्य और है कि सम्पूर्ण धर्मों की चिंता छोड़कर तू मेरी शरण में आ। तू मुझे प्राप्त होगा। यह रहस्य अनाधिकारी से नहीं कहना चाहिए - जो भक्त नहीं है, उससे नहीं कहना चाहिये। लेकिन जो भक्त है, उससे अवश्य कहना चाहिये। उससे दुराव रखें, तो उसका कल्याण कैसे होगा? अन्त में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने पूछा - अर्जुन! मैंने जो कुछ कहा उसे तूने भली प्रकार सुना-समझा, तुम्हारा मोह नष्ट हुआ कि नहीं? अर्जुन ने कहा - भगवन्! मेरा मोह नष्ट हो गया है। मैं अपनी स्मृति को प्राप्त हो गया हूँ। आप जो कुछ कहते हैं, वही सत्य है और अब मैं वही करूँगा।

संजय, जिसने इन दोनों के सम्वाद को भली प्रकार सुना है, अपना निर्णय देता है कि श्रीकृष्ण महायोगेश्वर और अर्जुन एक महात्मा हैं। उनका सम्वाद बारम्बार स्मरण कर वह हर्षित हो रहा है। अतः इसका स्मरण करते रहना चाहिये। उन हरि के रूप को याद करके भी वह बारम्बार हर्षित होता है। अतः बारम्बार स्वरूप का स्मरण करते रहना चाहिये। ध्यान करते रहना चाहिये। जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ महात्मा अर्जुन हैं, वहीं श्री है, विजय-विभूति और ध्रुवनीति भी वहीं है। सृष्टि की नीतियाँ आज हैं, तो कल बदलेंगी। ध्रुव तो एकमात्र परमात्मा है। उसमें प्रवेश दिलानेवाली नीति, ध्रुवनीति भी वही है। यदि श्रीकृष्ण और अर्जुन को द्वापरकालीन व्यक्ति विशेष मान लिया जाय तब तो आज न अर्जुन है और न श्रीकृष्ण। आपको न विजय मिलनी चाहिए और न विभूति। तब तो गीता आपके लिये व्यर्थ है? लेकिन नहीं। श्रीकृष्ण एक योगी थे, अनुराग से पूरित हृदयवाला महात्मा ही अर्जुन है। ये सदैव रहते हैं और रहेंगे। श्रीकृष्ण ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं हूँ तो अव्यक्त लेकिन जिस भाव को मैं प्राप्त हूँ, वह ईश्वर सबके हृदय-देश में निवास करता है। वह सदैव है

और रहेगा। सबको उसकी शरण जाना है। शरण जानेवाला ही महात्मा है, अनुरागी है और अनुराग ही अर्जुन है। इसके लिए किसी स्थितप्रज्ञ महापुरुष की शरण जाना नितान्त आवश्यक है; क्योंकि वही इसके प्रेरक हैं।

इस अध्याय में संन्यास का स्वरूप स्पष्ट किया गया कि सर्वस्व का न्यास ही संन्यास है। केवल बाना धारण कर लेना संन्यास नहीं है। बल्कि इनके साथ एकान्त का सेवन करते हुए नियत कर्म में अपनी शक्ति समझकर अथवा समर्पण के साथ सतत् प्रयत्न अपरिहार्य है। प्राप्ति के साथ सम्पूर्ण कर्मों का त्याग ही संन्यास है, जो मोक्ष का पर्याय है। यही संन्यास की पराकाष्ठा है। अतः -

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'संन्यास योगो' नाम अष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'संन्यास योग' नामक अठारहवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थ गीता' भाष्ये 'संन्यास योगो' नाम अष्टादशोऽध्यायः।।१८।।

।। हरि ॐ तत्सत् ।।

उपशम

प्रायः टीकाओं में लोग नयी बात खोजते हैं; किन्तु वस्तुतः सत्य तो सत्य है। वह न नया होता है और न पुराना पड़ता है। नयी बातें तो अखबारों में छपती रहती हैं, जो मरती-उभरती घटनाएँ हैं। सत्य अपरिवर्तनशील है, तो कोई दूसरा कहे भी क्या! यदि कहता है, तो उसने पाया नहीं। प्रत्येक महापुरुष यदि चलकर उस लक्ष्य तक पहुँच गया, तो एक ही बात कहेगा। वह समाज के बीच दरार नहीं डाल सकता। यदि डालता है, तो सिद्ध है उसने पाया नहीं। श्रीकृष्ण भी उसी सत्य को कहते हैं, जो पूर्व मनीषियों ने देखा था, पाया था और भविष्य में होनेवाले महापुरुष भी यदि पाते हैं, तो यही कहेंगे।

महापुरुष और उनकी कार्य-प्रणाली - महापुरुष दुनिया में सत्य के नाम पर फैली और सत्य-सी प्रतीत होनेवाली कुरीतियों का शमन करके कल्याण का पथ प्रशस्त कर देते हैं। यह पथ भी दुनिया में पहले से रहता है किन्तु उसी के समानान्तर, उसी की तरह भासनेवाले अनेक पथ प्रचलित हो जाते हैं। उनमें से सत्य को छाँटना कठिन हो जाता है कि वस्तुतः सत्य क्या है! महापुरुष सत्यस्थित होने से उनमें सत्य की पहचान करते हैं, उसे निश्चित करते हैं और उस सत्य की ओर अभिमुख होने के लिए समाज को प्रेरित करते हैं। यही राम ने किया, महावीर ने किया, यही महात्मा बुद्ध ने किया, यही ईसा ने किया और यही प्रयास मुहम्मद ने किया। कबीर, गुरुनानक इत्यादि सबने यही किया। महापुरुष जब दुनिया से उठ जाता है, तो पीछे के लोग उसके बताये मार्ग पर न चलकर उसके जन्मस्थल, मृत्युस्थल और उन स्थलों को पूजने लगते हैं, जहाँ वे गये थे। क्रमशः वे उनकी मूर्ति बनाकर पूजने लगते हैं। यद्यपि आरम्भ में वे उनकी स्मृति ही संजोते हैं; किन्तु कालान्तर में भ्रम में पड़ जाते हैं और वही भ्रम रूढ़ि का रूप ले लेता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी तत्सामयिक समाज में सत्य के नाम पर पनपे हुए रीति-रिवाजों का खण्डन करके समाज को प्रशस्त पथ पर खड़ा कर दिया। अध्याय २/१६ में उन्होंने कहा, अर्जुन! असत् वस्तु का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का तीनों कालों में अभाव नहीं है। भगवान होने के कारण यह मैं अपनी

ओर से नहीं कह रहा हूँ बल्कि इनका अन्तर तत्त्वदर्शियों ने देखा और वही मैं कहने जा रहा हूँ। तेरहवें अध्याय में उन्होंने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का वर्णन उसी प्रकार किया, जो 'ऋषिभिर्बहुधागीतं' ऋषियों द्वारा प्रायः गाया जा चुका था। अठारहवें अध्याय में त्याग और संन्यास का तत्त्व बताते हुए उन्होंने चार मतों में से एक का चयन किया और उसे अपना समर्थन दिया।

संन्यास - कृष्णकाल में अग्नि को न छूनेवाले तथा चिन्तन का भी त्याग करके अपने को योगी, संन्यासी कहनेवालों का सम्प्रदाय भी पनप रहा था। इसका खण्डन करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग, दोनों में से किसी भी मार्ग के अनुसार कर्म को त्यागने का विधान नहीं है। कर्म तो करना ही होगा। कर्म करते-करते साधना इतनी सूक्ष्म हो जाती है कि सर्व-संकल्पों का अभाव हो जाता है, वह पूर्ण संन्यास है। बीच रास्ते में संन्यास नाम की कोई वस्तु नहीं है। केवल क्रियाओं को त्याग देने से तथा अग्नि न छूने से न तो कोई संन्यासी होता है और न योगी - जिसे अध्याय दो, तीन, पाँच, छः और विशेषकर अठारह में देखा जा सकता है।

कर्म - ऐसी ही भ्रान्ति कर्म के सम्बन्ध में भी मिलती है। अध्याय २/३९ में उन्होंने बताया कि अर्जुन! अब तक यह बुद्धि तेरे लिए सांख्य योग के विषय में कही गई और अब इसी को तू निष्काम कर्म के विषय में सुन। इससे युक्त होकर तू कर्मों के बन्धन का अच्छी तरह नाश कर सकेगा। इसका थोड़ा भी आचरण महान् जन्म-मरण के भय से उद्धार करानेवाला होता है। इस निष्काम कर्म में निश्चयात्मक क्रिया एक ही है, बुद्धि एक ही है, दिशा भी एक ही है; लेकिन अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली है, इसलिए वे कर्म के नाम पर अनेक क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। अर्जुन! तू नियत कर्म कर। अर्थात् क्रियाएँ बहुत-सी हैं वे कर्म नहीं हैं, कर्म कोई निर्धारित दिशा है। कर्म कोई ऐसी वस्तु है, जो जन्म-जन्मान्तरों से चले आ रहे शरीरों की यात्रा का अन्त कर देता है। यदि एक भी जन्म लेना पड़ा तो यात्रा पूरी कहाँ हुई?

यज्ञ - वह नियत कर्म है कौन-सा? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' अर्जुन! यज्ञ की प्रक्रिया ही कर्म है। इसके अतिरिक्त दुनिया में जो कुछ किया जाता है, वह इसी लोक का बन्धन

है, न कि कर्म। कर्म तो इस संसार-बन्धन से मोक्ष दिलाता है। अब वह यज्ञ क्या है, जिसे क्रियान्वित करें तो कर्म सम्पादित हो सके? अध्याय चार में श्रीकृष्ण ने तेरह-चौदह तरीके से यज्ञ का वर्णन किया, जो सब मिलाकर परमात्मा में प्रवेश दिला देनेवाली विधि-विशेष का चित्रण है - जो श्वास से, ध्यान से, चिन्तन और इन्द्रिय-संयम इत्यादि से सिद्ध होनेवाला है। श्रीकृष्ण ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भौतिक द्रव्यों से इस यज्ञ का कोई सम्बन्ध नहीं है। भौतिक द्रव्यों से सिद्ध होनेवाले यज्ञ अत्यल्प हैं। आप करोड़ का हवन ही क्यों न करें। सम्पूर्ण यज्ञ मन और इन्द्रियों की अन्तःक्रिया से सिद्ध होनेवाले हैं। पूर्ण होने पर यज्ञ जिसकी सृष्टि करता है, उस अमृत-तत्त्व की जानकारी का नाम ज्ञान है। उस ज्ञानामृत को पान करनेवाले योगी सनातन ब्रह्म में प्रवेश पा जाते हैं। जिसमें प्रवेश पाना था पा ही लिया, तो फिर उस पुरुष का कर्म किये जाने से कोई प्रयोजन नहीं है। इसलिए यावन्मात्र कर्म उस साक्षात्कार सहित ज्ञान में शेष हो जाते हैं। कर्म करने के बन्धन से वह मुक्त हो जाता है। इस प्रकार निर्धारित यज्ञ को कार्यरूप देना कर्म है। कर्म का शुद्ध अर्थ है - आराधना।

इस नियत कर्म, यज्ञार्थ कर्म अथवा तदर्थ कर्म के अतिरिक्त गीता में अन्य कोई कर्म नहीं है। इसी पर श्रीकृष्ण ने स्थान-स्थान पर बल दिया। अध्याय छः में इसी को उन्होंने 'कार्यम् कर्म' कहा। अध्याय सोलह में बताया कि काम, क्रोध और लोभ के त्याग देने पर ही वह कर्म आरम्भ होता है, जो परमश्रेय को दिलानेवाला है। सांसारिक कर्मों में तो जो जितना व्यस्त है, उसके पास काम-क्रोध और लोभ उतने ही अधिक सजे-सजाये दिखते हैं, समृद्ध पाये जाते हैं। इसी नियत कर्म को उन्होंने शास्त्र विधानोक्त कर्म की संज्ञा दी। गीता अपने में पूर्ण शास्त्र है। सर्वोपरि शास्त्र वेद हैं। वेदों के सार उपनिषद् हैं और उन सबका सारांश योगेश्वर श्रीकृष्ण की यही वाणी गीता है। सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में भी शास्त्रविधि से निर्धारित कर्म, नियत कर्म, कर्तव्य-कर्म और पुण्य-कर्म से इंगित करके उन्होंने बारम्बार दृढ़ाया कि नियत कर्म ही परम कल्याणकारक है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के इतना बल देने पर भी आप उस नियत कर्म को न करके, श्रीकृष्ण का कहना न मानकर उल्टी-सीधी कल्पना करते हैं कि जो कुछ

भी संसार में किया जाता है कर्म है। कुछ भी त्यागने की जरूरत नहीं है केवल फल की कामना न करो, हो गया निष्काम कर्मयोग। कर्तव्य भावना से करो - हो गया कर्तव्य योग। कुछ भी करो, नारायण को समर्पण कर दो - हो गया समर्पण योग। इसी प्रकार यज्ञ का नाम आते ही हम भूत-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, पंच-यज्ञ, विष्णु के निमित्त किया जानेवाले यज्ञ गढ़ लेते हैं और उसकी क्रिया में स्वाहा बोलकर खड़े हो जाते हैं। यदि श्रीकृष्ण ने स्पष्ट न कहा हो, तो हम कुछ भी करें। यदि वताया है, तो जितना कहा है उतना ही मान लें। किन्तु हम मान नहीं पाते। विरासत में अनेक रीति-रिवाज, पूजा-पद्धतियाँ हमारे मस्तिष्क को जकड़े हुए हैं। बाह्य वस्तुओं को कदाचित् हम बेंचकर भाग भी सकते हैं; किन्तु ये पूर्वाग्रह मस्तिष्क में बैठकर हमारे साथ चलते हैं। श्रीकृष्ण के शब्दों को भी हम उन्हीं के अनुरूप ढालकर ग्रहण करते हैं। गीता तो अत्यन्त बोधगम्य, सरल संस्कृत में है। आप अन्वयार्थ भी लें तो कभी संदेह नहीं होगा। यही प्रयास प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

युद्ध - यदि यज्ञ और कर्म - दो प्रश्न ही यथार्थ समझ लें तो युद्ध, वर्ण-व्यवस्था, वर्णसंकर, ज्ञानयोग, कर्मयोग अथवा संक्षेप में सम्पूर्ण गीता ही आपकी समझ में आ जाय। अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था। वह धनुष फेंककर रथ के पिछले भाग में बैठ गया; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण ने एकमात्र कर्म की शिक्षा देकर कर्म को केवल दृढ़ाया ही नहीं बल्कि अर्जुन को उस कर्म पर चला भी दिया। युद्ध हुआ - इसमें सन्देह नहीं। गीता के पन्द्रह-बीस श्लोक ऐसे हैं जिनमें बार-बार कहा गया, अर्जुन! तू युद्ध कर। किन्तु एक भी श्लोक ऐसा नहीं है, जो बाहरी मार-काट का समर्थन करता है। (द्रष्टव्य है - अध्याय २, ३, ११, १५ और १८) क्योंकि जिस कर्म पर बल दिया गया - वह था नियत कर्म, जो एकान्त देश के सेवन से, चित्त को सब ओर से समेट कर ध्यान करने से होता है। जब कर्म का यही स्वरूप है, चित्त एकान्त और ध्यान में लगा है तो युद्ध कैसा? यदि गीतोक्त कल्याण युद्ध करनेवाले के लिए ही है, तो आप गीता का पिण्ड छोड़ दें। आपके समक्ष अर्जुन-जैसी युद्ध की कोई परिस्थिति तो है नहीं। वस्तुतः तब भी वह परिस्थिति विद्यमान थी और आज भी ज्यों-की-त्यों है। जब चित्त को सब ओर से समेटकर आप हृदय-देश में ध्यान करने लगेंगे, तो

काम-क्रोध-राग-द्वेषादि विकार आपके चित्त को टिकने नहीं देंगे। उन विकारों से संघर्ष करना, उनका अन्त करना ही युद्ध है। विश्व में युद्ध होते ही रहते हैं; किन्तु उससे कल्याण नहीं अपितु विनाश होता है। उसे शान्ति कह लें अथवा परिस्थिति। अन्य कोई शान्ति इस दुनिया में नहीं मिलती। शान्ति तभी मिलती है, जब यह आत्मा अपने शाश्वत को पा ले। यही एकमात्र शान्ति है, जिसके पीछे अशान्ति नहीं है। किन्तु यह शान्ति साधनगम्य है, उसी के लिये नियत कर्म का विधान है।

वर्ण - उस कर्म को ही चार वर्णों में बाँटा गया। चिन्तन में लगते तो सभी हैं; किन्तु कोई श्वास-प्रश्वास की गति रोकने में सक्षम होगा, तो कोई आरम्भ में दो घण्टे चिन्तन में बैठकर दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाता। ऐसी स्थितिवाला अल्पज्ञ साधक शूद्र श्रेणी का है। वह अपनी स्वाभाविक क्षमता के अनुसार परिचर्या से ही कर्म आरम्भ करे। क्रमशः वैश्य, क्षत्रिय और विप्र श्रेणी की क्षमता उसके स्वभाव में ढलती जायेगी। वह उन्नत होता जायेगा। किन्तु वह ब्राह्मण श्रेणी दोष-युक्त है; क्योंकि अभी वह ब्रह्म अलग है। ब्रह्म में प्रवेश पा जाने पर वह ब्राह्मण भी नहीं रह जाता। वर्ण का अर्थ है आकृति। यह शरीर आपकी आकृति नहीं है। आपकी आकृति वैसी है, जैसी आपकी वृत्ति है? श्रीकृष्ण कहते हैं - अर्जुन! पुरुष श्रद्धामय है; इसलिए कहीं न कहीं उसकी श्रद्धा अवश्य होगी। जैसी श्रद्धावाला वह पुरुष है, स्वयं भी वही है। जैसी वृत्ति, वैसा पुरुष। वर्ण, कर्म की क्षमता का आन्तरिक मापदण्ड है; किन्तु लोगों ने नियत कर्म को छोड़कर बाहर समाज में जन्म के आधार पर जातियों को वर्ण मानकर उनकी जीविका निश्चित कर दी, जो एक सामाजिक व्यवस्था मात्र थी। वे कर्म के यथार्थ रूप को तोड़ते-मरोड़ते हैं, जिससे उनकी खोखली सामाजिक मर्यादा और जीविका को ठेस न लगे। कालान्तर में वर्ण का निर्धारण केवल जन्म से होने लगा। ऐसा कुछ नहीं है। श्रीकृष्ण ने कहा, चार वर्णों की सृष्टि मैंने की। क्या भारत से बाहर सृष्टि नहीं है? अन्यत्र तो इन जातियों का अस्तित्व ही नहीं है। भारत में इनके अन्तर्गत लाखों जातियाँ-उपजातियाँ हैं। श्रीकृष्ण ने क्या मनुष्यों को बाँटा था? नहीं, `गुणकर्म विभागशः' - गुण के आधार पर कर्म बाँटे गये। `कर्माणि प्रविभक्तानि' - कर्म बाँटा गया। कर्म समझ में आ गया, तो वर्ण

समझ में आ जायेगा और वर्ण समझ में आ गया, तो वर्णसंकर का यथार्थ रूप आप समझ लेंगे।

वर्णसंकर - इस कर्म पथ से च्युत होना ही वर्णसंकर है। आत्मा का शुद्ध वर्ण है परमात्मा। उसमें प्रवेश दिलानेवाले कर्म से हटकर प्रकृति में मिश्रित हो जाना ही वर्णसंकर है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि इस कर्म को किये बिना उस स्वरूप को कोई पाता नहीं और प्राप्तिवाले महापुरुष को कर्म करने से न कोई लाभ है और न छोड़ने से कोई हानि। फिर भी लोक-संग्रह के लिए वे कर्म में बरतते हैं। उन महापुरुषों की तरह मुझे भी प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु अप्राप्त नहीं है फिर भी मैं पीछेवालों के हित की इच्छा से कर्म में ही बरतता हूँ। यदि न करूँ तो सभी वर्णसंकर हो जायें। स्त्रियों के दूषित होने से वर्णसंकर होना तो सुना गया; किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि स्वरूपस्थ महापुरुष कर्म न करे तब लोग वर्णसंकर हो जाते हैं। उस महापुरुष की नकल करके आराधना बन्द कर देने से वे प्रकृति में भटकते रहेंगे। वर्णसंकर हो जायेंगे क्योंकि इस कर्म को करके ही उस परम नैष्कर्म्य की स्थिति को, अपने शुद्ध वर्ण परमात्मा को पाया जा सकता है।

ज्ञानयोग तथा कर्मयोग - कर्म एक ही है - नियत कर्म, आराधना किन्तु उसे करने के दृष्टिकोण दो हैं। अपनी शक्ति को समझकर, हानि-लाभ का निर्णय लेकर इस कर्म को करना `ज्ञानयोग' है। इस मार्ग का साधक जानता है कि "आज मेरी यह स्थिति है, आगे इस भूमिका में परिणत हो जाऊँगा। फिर अपने स्वरूप को प्राप्त करूँगा।" इस भावना को लेकर कर्म में प्रवृत्त होता है। अपनी स्थिति का ज्ञान रखकर चलता है, इसलिए ज्ञानमार्गी कहा जाता है। समर्पण के साथ उसी कर्म में प्रवृत्त होना, हानि-लाभ का निर्णय इष्ट पर फेंककर चलना निष्काम कर्मयोग, भक्तिमार्ग है। दोनों के प्रेरक सद्गुरु हैं। एक ही महापुरुष से शिक्षा लेकर एक स्वावलम्बी होकर उस कर्म में प्रवृत्त होता है और दूसरा उनसे शिक्षा लेकर उन्हीं पर निर्भर होकर प्रवृत्त होता है। बस अन्तर इतना ही है। इसीलिये योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! सांख्य द्वारा जो परम सत्य मिलता है, वही परम सत्य निष्काम कर्मयोग द्वारा भी मिलता है; जो दोनों को एक देखता है वही यथार्थ देखता है। दोनों की क्रिया बतानेवाला तत्त्वदर्शी एक है,

क्रिया भी एक ही है आराधना। कामनाओं का त्याग दोनों करते हैं और परिणाम भी एक ही है। केवल कर्म का दृष्टिकोण दो है।

एक परमात्मा - नियत कर्म मन और इन्द्रियों की एक निर्धारित अन्तःक्रिया है। जब कर्म का यही स्वरूप है तो बाहर मन्दिर-मस्जिद-चर्च बनाकर देवी-देवताओं की मूर्ति या प्रतीक पूजना कहाँ तक संगत है? भारत में हिन्दू कहलानेवाला समाज (वस्तुतः वे सनातनधर्मी हैं। उनके पूर्वजों ने परम सत्य की शोध करके देश-विदेश में उसका प्रचार किया। उस पथ पर चलनेवाला विश्व में कहीं भी हो, सनातनधर्मी है। इतना गौरवशाली हिन्दू समाज) कामनाओं से विवश होकर विविध भ्रान्तियों में पड़ गया। श्रीकृष्ण कहते हैं, अर्जुन! देवताओं के स्थान पर देवता नाम की कोई शक्ति नहीं है। जहाँ कहीं भी मनुष्य की श्रद्धा झुकती है, उसकी ओट में खड़ा होकर मैं ही फल देता हूँ। उसकी श्रद्धा को पुष्ट करता हूँ; क्योंकि मैं ही सर्वत्र हूँ। किन्तु उसका वह पूजन अविधिपूर्वक है, उनका फल नाशवान् है। कामनाओं से जिनके ज्ञान का अपहरण हो गया है, वे मूढ़बुद्धि ही अन्य देवताओं को पूजते हैं। सात्त्विक लोग देवताओं को पूजते हैं, राजसी यक्ष-राक्षसों को तथा तामसी भूत-प्रेतों को पूजते हैं। घोर तप करते हैं। किन्तु अर्जुन! वे शरीर में स्थित भूत समुदाय और अन्तःकरण में स्थित मुझ परमात्मा को कृश करते हैं, न कि पूजते हैं। उन्हें निश्चय ही तू आसुरी स्वभाव से संयुक्त जान। इससे अधिक श्रीकृष्ण क्या कहते? उन्होंने स्पष्ट कहा - अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में रहता है, केवल उसी की शरण जाओ। पूजा की स्थली हृदय में है, बाहर नहीं। फिर भी लोग पत्थर-पानी, मन्दिर-मस्जिद, देवी-देवताओं का पीछा करते ही हैं। उन्हीं के साथ श्रीकृष्ण की भी एक प्रतिमा बढ़ा लेते हैं। श्रीकृष्ण की ही साधना पर बल देनेवाले तथा जीवन भर मूर्ति-पूजा का खण्डन करनेवाले बुद्ध की भी मूर्ति उनके अनुयायियों ने बना ली और लगे पूजा करने (दीप दिखाने), जबकि बुद्ध ने कहा था - आनन्द! तथागत की शरीर-पूजा में समय नष्ट न करना।

मन्दिर, मस्जिद, चर्च, तीर्थ, मूर्तियाँ तथा स्मारकों से पूर्ववर्ती महापुरुषों की स्मृतियाँ सँजोयी जाती हैं, जिससे उनकी उपलब्धियों का स्मरण होता रहे। महापुरुषों में स्त्रियाँ-पुरुष सभी होते आये हैं। जनक की कन्या 'सीता' पिछले

जन्म में एक ब्राह्मण-कन्या थी। अपने पिता की प्रेरणा से परम ब्रह्म को पाने के लिए उसने तपस्या की किन्तु सफल न हो सकी। दूसरे जन्म में उसने राम को प्राप्त किया और चिन्मय, अविनाशी, आदिशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई। ठीक इसी प्रकार राजकुल में उत्पन्न मीरा में परमात्मा की भक्ति का प्रस्फुटन हुआ। सबकुछ छोड़कर वह भगवान के चिन्तन में लग गयी। व्यवधानों को झेला और सफल रही। इनकी स्मृति सँजोने के लिए मन्दिर बने, स्मारक बने - ताकि समाज उनके उपदेशों से अनुप्राणित हो सके। मीरा, सीता अथवा इस पक्ष का शोधकर्त्ता प्रत्येक महापुरुष हमारा आदर्श है। हमें उनके पदचिह्नों का अनुसरण करना चाहिये; किन्तु इससे बड़ी भूल क्या होगी - यदि हम केवल उनके चरणों में फूल चढ़ा कर, चन्दन लगाकर अपने कर्तव्यों की इतिश्री मान बैठें।

प्रायः जो जिसका आदर्श होता है, उसकी मूर्ति, चित्र, खड़ाऊँ, उसका स्थान अथवा उससे सन्दर्भित कुछ भी देखने-सुनने पर मन से श्रद्धा उमड़ आती है। यह उचित ही है। हम भी अपने गुरुदेव भगवान के चित्र को कूड़े में नहीं फेंक सकते; क्योंकि वह हमारे आदर्श हैं। उन्हीं की प्रेरणा तथा कथनानुसार हमें चलना है। जो स्वरूप उनका है क्रमशः चलकर उसकी प्राप्ति हमारा भी अभीष्ट है और यही उनकी यथार्थ पूजा है। यहाँ तक तो ठीक है कि जो वस्तुतः आदर्श हैं, उनका निरादर न करें; किन्तु उन पर पत्र-पुष्प चढ़ाने को ही भक्ति मान बैठने से, उतने को ही कल्याण-साधन मान लेने से हम लक्ष्य से बहुत दूर भटक जायेंगे।

अपने आदर्शों के उपदेशों को हृदयंगम करने तथा उस पर चलने की प्रेरणा ग्रहण करने के लिए ही स्मारकों का उपयोग है; चाहे उसे आश्रम, मन्दिर, मस्जिद, चर्च, मठ, विहार, गुरुद्वारा या कुछ भी नाम दे लें। बशर्ते उन केन्द्रों का सम्बन्ध धर्म से है तो! जिसकी प्रतिमा है, उसने क्या किया? और क्या पाया? कैसे तपस्या की? कैसे प्राप्त किया?-केवल इतना ही सीखने के लिए हम वहाँ पहुँचते हैं और पहुँचना भी चाहिये; किन्तु यदि इन स्थानों पर महापुरुषों के पदचिह्न नहीं बताये गये, करके नहीं सिखाये गये, कल्याण की व्यवस्था नहीं मिली तो वह स्थान गलत है। वहाँ आपको केवल रूढ़ि मिलेगी। वहाँ जाने में आपका नुकसान है। व्यक्तिगत रूप से घर-घर, गली-गली जाकर उपदेश पहुँचाने

की अपेक्षा सामूहिक उपदेश केन्द्रों के रूप में इन धार्मिक संस्थानों की स्थापना की गई थी; किन्तु कालान्तर में इन प्रेरणास्थलियों से ही मूर्ति-पूजा तथा रूढ़ियों ने धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया। यही से भ्रम पनप गया।

ग्रन्थ - इसी प्रकार पुस्तकों का अध्ययन आवश्यक है, जिससे आप उस निर्दिष्ट क्रिया को समझ सकें, जिसे योगेश्वर श्रीकृष्ण ने नियत कर्म कहा है और जब समझ में आ जाय तो तुरन्त करने में लग जायँ। विस्मृत होने लगे, तो पुनः अध्ययन कर लें। यह नहीं कि पुस्तक को हाथ जोड़कर अक्षत, चन्दन छिड़ककर रख दें। पुस्तक मार्ग निर्देशक चिह्न है, जो पूर्तिपर्यन्त साथ देती है। देखते हुए आगे बढ़ते चलें - अपने गन्तव्य की ओर। जब इष्ट को हृदय से पकड़ लेंगे, तो वह इष्ट ही पुस्तक बन जायेगा। अतः स्मृति सँजोना हानिकारक नहीं है; किन्तु इन स्मृति-चिह्नों की पूजा से ही सन्तुष्ट हो जाना हानिकारक है।

धर्म - (अध्याय २/१६-२९) योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार - असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का कभी अभाव नहीं है। परमात्मा ही सत्य है, शाश्वत है, अजर-अमर-अपरिवर्तनशील और सनातन है; किन्तु वह परमात्मा अचिन्त्य और अगोचर है, चित्त की तरंगों से परे है। अब चित्त का निरोध कैसे हो? चित्त का निरोध करके उस परमात्मा को पाने की विधि-विशेष का नाम कर्म है। इस कर्म को कार्यरूप देना ही धर्म है, दायित्व है।

गीता (अध्याय २/४०) में है कि अर्जुन! इस कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं है। इस कर्मरूपी धर्म का किंचित्मात्र साधन जन्म-मृत्यु के महान् भय से उद्धार करनेवाला होता है अर्थात् इस कर्म को कार्यरूप देना ही धर्म है।

इस नियत कर्म (साधन-पथ) को साधक के स्वभाव में उपलब्ध क्षमता के अनुसार चार भागों में बाँटा गया है। कर्म को समझकर मनुष्य जबसे आरम्भ करता है, उस आरम्भिक अवस्था में वह शूद्र है। क्रमशः विधि पकड़ में आयी तो वही वैश्य है। प्रकृति के संघर्ष को झेलने की क्षमता और शौर्य आने पर वही व्यक्ति क्षत्रिय और ब्रह्म के तद्रूप होने की क्षमता - ज्ञान (वास्तविक जानकारी), विज्ञान (ईश्वरीय वाणी का मिलना), उस अस्तित्व पर निर्भर रहने की क्षमता ऐसी योग्यताओं के आने पर वही ब्राह्मण है। इसलिये योगेश्वर श्रीकृष्ण (गीता, अध्याय १८/४६-४७ में)कहते हैं कि स्वभाव में पायी जाने वाली क्षमता के

अनुसार कर्म में लगना स्वधर्म है। हल्का होने पर भी स्वभाव से उपलब्ध स्वधर्म श्रेयतर है और क्षमता अर्जित किये विना ही दूसरों के उन्नत कर्म का परिपालन भी हानिकारक है। स्वधर्म में मरना भी श्रेयस्कर है; क्योंकि वस्त्र बदलने से बदलनेवाला तो वदल नहीं जाता। उसके साधन का क्रम वहीं से पुनः आरम्भ हो जायेगा, जहाँ से छूटा था। सोपानशः चलकर वह परमसिद्धि अविनाशी पद को पा लेगा।

इसी पर पुनः बल देते हैं कि जिस परमात्मा से सभी प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, जो सर्वत्र व्याप्त है, स्वभाव से उत्पन्न हुई क्षमता के अनुसार उसे भलीभाँति पूजकर मानव परमसिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् निश्चित विधि से एक परमात्मा का चिन्तन ही धर्म है।

धर्म में प्रवेश किसको है? इसे करने का अधिकार किसे है? इसे स्पष्ट करते हुए योगेश्वर ने बताया कि "अर्जुन! अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्य भाव से मुझे भजता है (अनन्य अर्थात् अन्य न), मुझे छोड़कर अन्य किसी को भी न भजकर केवल मुझे भजता है तो 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' - वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है, उसकी आत्मा धर्म से संयुक्त हो जाती है।" अतः श्रीकृष्ण के अनुसार - धर्मात्मा वह है, जो एक परमात्मा में अनन्य निष्ठा से लग गया है। धर्मात्मा वह है, जो एक परमात्मा की प्राप्ति के लिये नियत कर्म का आचरण करता है। धर्मात्मा वह है, जो स्वभाव से नियत क्षमता के अनुसार परमात्मा की शोध में संलग्न है।

अन्त में कहते हैं कि "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" - अर्जुन! सारे धर्मों की चिन्ता छोड़कर एक मेरी शरण में हो जा। अतः एक परमात्मा के प्रति समर्पित व्यक्ति ही धार्मिक है। एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर करना ही धर्म है। उस एक परमात्मा की प्राप्ति की निश्चित क्रिया को करना धर्म है। इस स्थिति को प्राप्त महापुरुष, आत्मतृप्त महापुरुषों का सिद्धान्त ही सृष्टि में एकमात्र धर्म है। उनकी शरण में जाना चाहिए कि उन महापुरुषों ने कैसे उस परमात्मा को पाया? किस मार्ग से चले? वह मार्ग सदा एक ही है, उस मार्ग से चलना धर्म है।

धर्म मनुष्य के आचरण की वस्तु है। वह आचरण केवल एक है - "व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन" (२/४१) इस कर्मयोग में निश्चयात्मक

क्रिया एक ही है - इन्द्रियों की चेष्टा और मन के व्यापार को संयमित कर आत्मा में (परात्पर ब्रह्म में) प्रवाहित करना (४/२७)।

धर्मान्तरण - सनातनधर्म के आदिदेश भारत में कुरीतियाँ यहाँ तक पनपीं कि मुसलमानों के आक्रमण के समय उनका धर्म आक्रामकों के हाथ का एक ग्रास चावल खाने से, दो घूँट पानी पीने से नष्ट होने लगा। धर्मभ्रष्ट घोषित हजारों हिंदुओं ने आत्महत्या कर ली। धर्म के लिये वे मरना जानते थे लेकिन धर्म समझें तव तो। धर्म तो हो गया छुई-मुई। छुई-मुई का पौधा छूने पर मुरझा जाता है; किन्तु छूटते ही पनप जाता है। उनका सनातन धर्म तो ऐसा मुरझाया कि कभी नहीं पनपा। जिस सनातन आत्मा को भौतिक वस्तुएँ स्पर्श भी नहीं कर पातीं, वह कहीं छूने-खाने से नष्ट होता है? आप तलवार से मरें, धर्म छूने से मर गया? क्या सचमुच धर्म नष्ट हुआ? कदापि नहीं, धर्म के नाम पर कोई कुरीति पल रही थी, वह नष्ट हुई। फिरोज तुगलक के शासनकाल में बयाना के काजी मुगीसुद्दीन ने व्यवस्था दी कि हिन्दुओं को अपना मुँह खोल देना चाहिए। यदि कोई मुसलमान थूकना चाहता है, तो वह हिन्दू दीनदार हो जायेगा; क्योंकि उसके पास कोई धर्म नहीं है। वुरा क्या कहा उसने? मुँह में थूकने से तो एक ही मुसलमान वनता, कुएँ में थूकने से तो हजारों बन जाते थे। वस्तुतः वह आततायी था या उस समय का हिन्दू समाज?

जिन्होंने इस प्रकार धर्म-परिवर्तन कर लिया, क्या कोई धर्म पा गये? हिन्दू से मुसलमान बन जाना या एक प्रकार के रहन-सहन से दूसरे रहन-सहन में चले जाना धर्म तो नहीं है। इस प्रकार योजनाबद्ध षड्यंत्र का शिकंजा बनाकर जिन्होंने उन्हें बदला, क्या वे धर्मात्मा थे? वे तो और भी बड़ी कुरीतियों के शिकार थे। हिन्दू उसी में जाकर फँस गये। अविकसित और गुमराह कबीलों को सभ्य बनाने के लिए मुहम्मद ने विवाह, तलाक, वसीयत, लेन-देन, सूद, गवाही, कसम, प्रायश्चित, रोजी-रोटी, खान-पान, रहन-सहन इत्यादि विषय में एक सामाजिक व्यवस्था दी तथा मूर्ति-पूजा, शिर्क, व्यभिचार, चोरी, शराब, जुआ, माँ-दादी इत्यादि से विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया। समलैंगिक तथा रजस्वला मैथुनों का निषेध करके रोजे के दिनों में भी इसके लिए ढील दी, जन्नत में बहुत-सी समवयस्क, अनछुइं हूरों और किशोर बालकों का प्रलोभन दिया। यह कोई धर्म

नहीं था। एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था थी। ऐसा कुछ कहकर उन्होंने वासना में डूबे हुए समाज को उधर से घुमाकर अपनी ओर उन्मुख किया। स्त्रियों को जन्नत में कितने पुरुष मिलेंगे?-इस पर उन्होंने सोचा ही नहीं। यह उनका दोष नहीं, दोष उस देश-काल और परिस्थिति का था, जिसमें स्त्रियों की आकांक्षाओं पर किसी का ध्यान ही नहीं जाता था।

*मुहम्मद साहब ने जिसे धर्म बताया, उधर किसी का ध्यान ही नहीं है। उन्होंने कहा था कि जिस पुरुष का एक भी श्वास उस खुदा के नाम के बगैर खाली जाता है, उससे खुदा कयामत में वैसे ही पूछता है, जैसे किसी पापी से पाप के बदले में पूछा जाय। जिसकी सजा है - हमेशा-हमेशा के लिए दोज़ख। कितने सच्चे मुसलमान हैं, जिसका एक भी श्वास खाली न जाता हो? करोड़ों में कदाचित् ही कोई हो! शेष तो सभी के श्वास खाली ही जाते हैं, जिसकी सजा वही है जो पापियों के लिए है। बताने की आवश्यकता नहीं 'दोज़ख'। मुहम्मद ने व्यवस्था दी कि जो किसी को नहीं सताता, पशुओं को ठेस नहीं पहुँचाता; वह आकाश से खुदा की आवाज सुनता है। यह सभी स्थानों के लिये था किन्तु पीछेवालों ने एक रास्ता निकाल लिया कि मक्का में एक मस्जिद है, जिसमें हरी घास नहीं तोड़नी चाहिए, उस मस्जिद में किसी पशु को नहीं मारना चाहिये, वहाँ किसी को ठेस नहीं पहुँचानी चाहिये और घूम-फिरकर वे उसी दायरे में खड़े हो गये। क्या खुदा की आवाज सुनने से पहले मुहम्मद ने कोई मस्जिद बनवायी थी? कभी किसी मस्जिद में कोई आयत उतरी? यह मस्जिद तो उनकी स्थली रही है, जिसमें उनकी यादगार सुरक्षित है। मुहम्मद के आशय को तबरेज ने जाना था, मंसूर ने जाना था, इकबाल ने जाना था; किन्तु वे मजहबी लोगों के शिकार बने, उन्हें यातनाएँ दी गईं। सुकरात को जहर पिलाया गया; क्योंकि वह लोगों को नास्तिक बना रहा था। ऐसा ही आरोप ईसा पर भी लगाया गया, उन्हें सूली दी गयी; क्योंकि वे विश्राम सव्वाथ के दिन भी काम करते थे, अन्धों को दृष्टि प्रदान करते थे। ऐसा ही भारत में भी है। जब भी कोई प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष सत्य की ओर इंगित करता है तो इन मन्दिर-मस्जिद, मठ-सम्प्रदाय और तीर्थों से जिनकी जीविका चलती है, हाय-हाय करने लगते हैं, अधर्म-अधर्म चिल्लाने लगते हैं। किसी को इनसे लाखों-करोड़ों की आय है, तो किसी की दाल-रोटी ही

चलती है। वास्तविकता के प्रचार से उनकी जीविका को खतरा दिखाई पड़ता है। वे सत्य को पनपने नहीं देते और न दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके विरोध का कोई कारण नहीं है। सुदूर काल में यह स्मृति क्यों सँजोयी गयी थी,इसका उन्हें भान नहीं है।

गृहस्थों का अधिकार - प्रायः लोग पूछते हैं कि जब कर्म का यही स्वरूप है, जिसमें एकान्त देश का सेवन, इन्द्रिय संयम, निरन्तर चिन्तन और ध्यान करना है, तब तो गीता गृहस्थों के लिए अनुपयोगी है। तब तो गीता केवल साधुओं के लिए है। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं है। गीता मूलतः उसके लिए है, जो इस पथ का पथिक है और अंशतः उसके लिए भी है, जो इस पथ का पथिक बनना चाहता है। गीता मानव मात्र के लिए समान आशय रखती है। सद्गृहस्थों के लिए तो इसका विशेष उपयोग है; क्योंकि वहीं से कर्म आरम्भ होता है।

श्रीकृष्ण ने कहा था, अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का भी नाश नहीं होता। इसका थोड़ा भी साधन जन्म-मरण के महान् भय से उद्धार कराके ही छोड़ता है। आप ही बतायें, थोड़ा साधन कौन करेगा? गृहस्थ अथवा विरक्त? गृहस्थ ही इसके लिए थोड़ा समय देगा, यह उसके लिए ही है। अध्याय ४/३६ में कहा - अर्जुन! यदि तू सम्पूर्ण पापियों से भी अधिक पाप करनेवाला है, तब भी ज्ञानरूपी नौका से निःसन्देह पार हो जायेगा। अधिक पापी कौन है? जो अनवरत लगा है वह अथवा जो अभी लगना चाहता है? अतः सद्गृहस्थ आश्रम से ही कर्म का आरम्भ है। अध्याय ६/३७-४५ में अर्जुन ने पूछा - भगवन्! शिथिल प्रयत्नवाला श्रद्धावान् पुरुष परमगति को न पाकर किस दुर्गति को प्राप्त होता है? श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! योग से चलायमान हुए शिथिल प्रयत्नवाले पुरुष का भी कभी विनाश नहीं होता। वह योगभ्रष्ट श्रीमानों ['शुचीनाम्' शुद्ध (सत्य) आचरणवाले ही श्रीमान हैं।] के यहाँ जन्म लेकर योगी-कुल में प्रवेश पा जाता है, साधन की ओर आकर्षित होता है और अनेक जन्मों में चलकर वहीं पहुँच जाता है, जिसका नाम परमगति अर्थात् परमधाम है। यह शिथिल प्रयत्न कौन करता है? योगभ्रष्ट होकर वह कहाँ जन्म लेता है? गृहस्थ ही तो बना। वहीं से वह साधनोन्मुख होता है। अध्याय ९/३० में उन्होंने कहा कि अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभाव से मुझे भजने लगे, तो वह साधु ही है; क्योंकि वह निश्चय के साथ सही रास्ते पर लग गया है। अत्यन्त दुराचारी कौन होगा? जो भजन में प्रवृत्त हो गया वह अथवा वह, जिसने अभी आरम्भ ही नहीं किया। अध्याय

९/३२ में कहा - स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनिवाले ही क्यों न हों, मेरे आश्रित होकर साधन करने से परमगति पाते हैं। हिन्दू हो, ईसाई हो, मुसलमान हो; श्रीकृष्ण ऐसा कुछ नहीं कहते। अत्यन्त दुराचारी पातकी ही क्यों न हों, मेरी शरण होकर परमगति पाते हैं। अतः गीता मानव मात्र के लिए है। सद्गृहस्थ आश्रम से ही इस कर्म का आरम्भ है। क्रमशः वही सद्गृहस्थ योगी बनता है, पूर्ण त्यागी हो जाता है और तत्त्व का दिग्दर्शन कर परम में प्रवेश पा जाता है, जिसे श्रीकृष्ण ने कहा कि ज्ञानी मेरा स्वरूप है।

स्त्री - गीता के अनुसार शरीर एक वस्त्र है। जैसे पुराने वस्त्र को त्यागकर मनुष्य नया वस्त्र धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार भूतादिकों का स्वामी आत्मा इस शरीररूपी वस्त्र को त्यागकर दूसरा शरीर (वस्त्र) धारण कर लेता है। आप पिण्डरूप में स्त्री हों यां पुरुष - ये वस्त्र के आकार हैं।

संसार में पुरुष दो प्रकार का है - क्षर और अक्षर। समस्त प्राणियों का शरीर क्षर पुरुष अथवा परिवर्तनशील पुरुष है। मनसहित इन्द्रियाँ जब कूटस्थ हो जाती हैं, तव वही अक्षर पुरुष है। उसका कभी विनाश नहीं होता। यह भजन की अवस्था है।

स्त्रियों के प्रति कभी सम्मान, तो कभी अपमान की भावना समाज में बनी ही रहती है; किन्तु गीता की अपौरुषेय वाणी में यह है कि शूद्र (अल्पज्ञ), वैश्य (विधि-प्राप्त), स्त्री-पुरुष कोई क्यों न हो, मेरी शरण आकर परमगति को प्राप्त होता है। अतः इस कल्याण-पथ में स्त्रियों का वही स्थान है, जो एक पुरुष का है।

भौतिक समृद्धि - गीता परम कल्याण तो देती है, साथ ही मनुष्यों के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं का भी विधान करती है। अध्याय ९/२०-२२ में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि वहुत से लोग निर्धारित विधि से मुझे पूजकर वदले में स्वर्ग की कामना करते हैं। उन्हें विशाल स्वर्ग-लोक मिलता है, मैं देता हूँ। जो माँगोगे, वह मुझसे मिलेगा; किन्तु उपभोग के पश्चात् समाप्त हो जायेगा, क्योंकि स्वर्ग के भोग भी नश्वर हैं। उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ेगा। हाँ, मुझसे सम्वन्धित होने के कारण वे नष्ट नहीं होते; क्योंकि मैं कल्याण-स्वरूप हूँ। मैं उन्हें भोग देता हूँ और शनैः-शनैः निवृत्त कराकर पुनः उन्हें कल्याण में लगा देता हूँ।

क्षेत्र - जिन परमात्मा के श्रीमुख की वाणी यह गीता है उन्होंने स्वयं परिचय दिया, "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।" अर्जुन! यह शरीर ही क्षेत्र (खेत) है, जिसमें बोया गया भला और बुरा कर्मबीज संस्काररूप में जामता है और कालान्तर में सुख-दुःख का रूप लेकर भोग के रूप में मिलता है। आसुरी सम्पद् अधम योनियों में ले जाने के लिए है जबकि दैवी सम्पद् परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलाती है। सद्गुरु के सान्निध्य में इनमें निर्णायक युद्ध का आरंभ होता है, यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ की लड़ाई है।

टीकाकार कहते हैं - एक कुरुक्षेत्र बाहर है और दूसरा मन के भीतर है। गीता का एक अर्थ बाहरी है, दूसरा भीतरी। लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। वक्ता एक बात कहता है, किन्तु श्रोता अपनी बुद्धि के अनुरूप ही उसे पकड़ पाते हैं। इसीलिये अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं। साधन-पथ पर क्रमशः चलकर जो भी पुरुष श्रीकृष्ण के स्तर पर खड़ा हो जायेगा, तो जो दृश्य श्रीकृष्ण के सामने था, वही उसके सामने भी होगा। वही महापुरुष उनके मनोगत भावों को, गीता के संकेतों को समझ सकता है, समझा सकता है।

गीता का एक भी श्लोक बाहर का चित्रण नहीं करता। खाना, पहनना, रहना आप जानते ही हैं। रहन-सहन, मान्यता, लोकरीति-नीति में देश-काल और परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन प्रकृति की देन है। इसमें श्रीकृष्ण आपको कौन-सी व्यवस्था दें? कहीं लड़कियों का बाहुल्य है, बहु-विवाह होते हैं, तो कहीं उनकी संख्या कम है। कहीं कई भाइयों के बीच एक पत्नी रह लेती है! इसमें श्रीकृष्ण कौन-सी व्यवस्था दें। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् जापान में जनसंख्या की कमी समस्या बन गयी, तो तीस बच्चों को जन्म देनेवाली एक महिला को `मदरलैंड' (देश की माता) की उपाधि से सम्मानित किया गया। वैदिककालीन भारत में पहले दस सन्तान उत्पन्न करने का विधान था, अब "एक या दो बच्चे, होते हैं घर में अच्छे" का नारा लग रहा है। कदाचित् वे न रहें तो देश के लिए चिन्ता का विषय नहीं, समस्या का हल ही होता है। श्रीकृष्ण इसमें कौन-सी व्यवस्था दें?

श्रेय - काम, क्रोध, लोभ, मोह के कहीं स्कूल नहीं खुले हैं, फिर भी इन विकारों में लड़के बड़े तथा सयानों से कहीं अधिक प्रवीण निकलते हैं। इसमें

श्रीकृष्ण क्या शिक्षा दें? यह सब तो प्रकृति द्वारा स्वचालित हैं। कभी वेद पढ़ाये जाते थे, धनुर्वेद-गदायुद्ध सिखाया जाता था, आज इन्हें कौन सीखता है? आज तो पिस्टल चला रहे हैं। स्वचालित यन्त्रों का युग है। कभी रथ-संचालन सीखना पड़ता था, घोड़ों की लीद फेंकनी पड़ती थी - आज मोटरों का तेल साफ किया जाता है। इसमें श्रीकृष्ण क्या बतायें? कह दें कि घोड़ों को ऐसे मत मलो! बाहर आपको कैसी व्यवस्था दें? पहले स्वाहा बोलने से वर्षा होती थी, आज मनचाही फसल लेने लगे हैं। योगेश्वर कहते हैं कि, प्रकृति से उत्पन्न गुणों द्वारा परवश होकर मनुष्य परिस्थिति के अनुसार ढलता ही रहता है। गुण स्वतः उन्हें ढालने में सक्षम हैं। भौतिकशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र वह गढ़ता ही रहता है। एक ही वस्तु ऐसी है, जो मनुष्य नहीं जानता, नहीं पहचानता। जो है तो उसी के पास किन्तु उसे विस्मृत है। गीता सुनकर अर्जुन की वही स्मृति लौट आयी थी। वह स्मृति है - परमात्मा की, जो हृदय-देश में होकर भी उससे बहुत दूर है। उसी को मनुष्य पाना चाहता है; किन्तु रास्ता नहीं पाता। केवल कल्याण-पथ से ही मनुष्य अनभिज्ञ है। मोह का आवरण इतना घना है कि उधर सोचने का समय ही नहीं मिलता। उन महापुरुष ने आपके लिए समय दिया है, उस कर्म को स्पष्ट किया है, जिसे करने का निर्देश गीता में है। गीता मुख्यतः यही देती है। भौतिक वस्तुएँ भी उससे मिलती हैं, किन्तु श्रेय की तुलना में प्रेय नगण्य हैं।

योग-प्रदाता - योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार कल्याण-पथ की जानकारी, उसका साधन और उसकी प्राप्ति सद्गुरु से होती है। इधर-उधर तीर्थों में बहुत भटकने या बहुत परिश्रम से यह तब तक नहीं मिलता, जब तक किसी सन्त द्वारा न प्राप्त किया जाय। अध्याय ३/३४ में श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन! तू किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के पास जाकर, भली प्रकार दण्ड-प्रणाम कर, निष्कपट भाव से सेवा करके, प्रश्न करके उस ज्ञान को प्राप्त कर। प्राप्ति का एकमात्र उपाय है - किसी महापुरुष का सान्निध्य और उनकी सेवा। उनके अनुसार चलकर योग की संसिद्धि काल में पायेगा। अध्याय १८/१८ में उन्होंने बताया कि, परिज्ञाता अर्थात् तत्त्वदर्शी महापुरुष, ज्ञान अर्थात् जानने की विधि औरं ज्ञेय परमात्मा - तीनों कर्म के प्रेरक हैं। अतः श्रीकृष्ण के अनुसार महापुरुष ही कर्म के माध्यम

हैं, न कि केवल पुस्तक। किताब तो एक नुस्खा है, नुस्खा रटने से कोई नीरोग नहीं होता बल्कि उसे अमल में लाना है।

नरक - अध्याय १६/१६ में आसुरी सम्पद् का वर्णन करते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने बताया कि अनेक प्रकार से भ्रमित चित्तवाले, मोह में फँसे, आसुरी स्वभाववाले मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं। प्रश्न स्वाभाविक है कि नरक है कैसा और किसे कहते हैं? इसी क्रम में स्पष्ट करते हैं कि मुझसे द्वेष रखनेवाले नराधमों को मैं बारम्बार आसुरी योनियों में गिराता हूँ, अजस्र आसुरी योनियों में गिराता हूँ। यही नरक है। इस नरक का द्वार क्या है? उन्होंने बताया कि काम, क्रोध और लोभ नरक के तीन द्वार हैं, जिनमें आसुरी सम्पद् गठित होती है। अतः बारम्बार कीट-पतंग, पशु इत्यादि योनियों में आना ही नरक है।

पिण्डदान - प्रथम अध्याय में विषादग्रस्त अर्जुन को आशंका थी कि युद्धजनित नरसंहार से पितर लोग पिण्डदान और अर्पण से वंचित हो जायेंगे, पितर गिर जायेंगे। इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि अर्जुन! तुझे यह अज्ञान कहाँ से हो गया? पिण्डोदक क्रिया को योगेश्वर ने अज्ञान कहा और बताया कि जिस प्रकार जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को त्यागकर मनुष्य नया वस्त्र धारण कर लेता है, ठीक इसी प्रकार यह आत्मा जीर्ण शरीर को छोड़कर तत्काल शरीररूपी नवीन वस्त्र को ग्रहण कर लेता है। यहाँ शरीर मात्र एक वस्त्र है और जब आत्मा ने केवल वस्त्र बदला, वह मरा नहीं, नश्वर शरीर को ही बदला है, उसकी व्यवस्थायें पूर्ववत् हैं तो इस भोजन (पिण्डदान) आसन, शैय्या, सवारी, आवास या जल इत्यादि से किसे तृप्त किया जाता है? यही कारण है कि योगेश्वर ने इसे अज्ञान कहा। अध्याय १५/७ में इसी पर बल देते हुए कहते हैं कि यह आत्मा मेरा सनातन अंश है, स्वरूप है और मनसहित पाँचों इन्द्रियों के कार्य-कलापजन्य संस्कार को लेकर दूसरे शरीर को धारण कर लेता है और मनसहित षट् इन्द्रियों के द्वारा अगले शरीर में विषय भोगों को भोगता है। आत्मा ने जिस शरीर को धारण किया, वहाँ भी भोग-सामग्री उपलब्ध है, फिर पिण्डदान क्यों दिया जाता है?

इधर एक शरीर को छोड़ा, उधर दूसरे शरीर को धारण किया, वह सीधा उस शरीर में जाता है, बीच में कोई विराम नहीं, कोई स्थान नहीं तो हजारों पीढ़ियों के पितरों का अनादि काल से पड़ा रहना और उनकी जीविका वंश

परम्परा के हाथ निर्धारित करता तथा पिंजड़े के पक्षी की तरह उनका रुदन, पतन एक अज्ञान मात्र है। इसीलिये श्रीकृष्ण ने इसे अज्ञान कहा।

पाप और पुण्य - इस प्रश्न पर समाज में अनेक भ्रान्तियाँ हैं; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार रजोगुण से उत्पन्न यह काम और क्रोध, भोगों से कभी तृप्त न होनेवाले महान पापी हैं। अर्थात् काम ही एकमात्र पापी है। पाप का उद्गम काम है, कामनायें हैं। ये कामनायें रहती कहाँ हैं? श्रीकृष्ण ने बताया कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इसके वास-स्थान कहे जाते हैं। जब विकार तन में नहीं, मन में ही होते हैं, तो शरीर धोने से क्या होगा?

श्रीकृष्ण के अनुसार इस मन की शुद्धि होती है नाम-जप से, ध्यान से, समकालीन किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा से, उनके प्रति समर्पण से, जिसके लिए वे ४/३४ में प्रोत्साहित करते हैं कि 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' सेवा और प्रश्न करके उस ज्ञान को प्राप्त करो, जिससे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

अध्याय ३/१३ में उन्होंने कहा कि यज्ञ से शेष बचे अन्न को खाने वाले सन्तजन सम्पूर्ण पापों से छूट जाते हैं और जो शरीर के लिए कामना करते हैं, वे पापी पाप ही खाते हैं। यहाँ यज्ञ चिन्तन की एक निश्चित क्रिया है, जिससे मन में निहित चराचर जगत् के संस्कार जल जाते हैं। शेष केवल ब्रह्म ही बचता है। अतः शरीर के जन्म का जो कारण है, वही पाप है और जो उस अमृत तत्त्व को दिलानेवाला है, जिसके पश्चात् कभी शरीर धारण न करना पड़े, वही पुण्य है।

अध्याय ७/२९ में वे कहते हैं कि, मेरी शरण होकर जरा-मरण और दोषों से छूटने के लिए यत्न करनेवाले पुण्यकर्मी जिन पुरुषों का पाप नष्ट हो गया है, वे सम्पूर्ण ब्रह्म को, सम्पूर्ण कर्म, सम्पूर्ण अध्यात्म तथा भली प्रकार मुझे जानते हैं और मुझे जानकर मुझमें ही स्थित रहते हैं। अतः पुण्य-कर्म वह है, जो जरा-मरण और दोषों से ऊपर उठाकर शाश्वत की जानकारी और उसी में सदा के लिये स्थिति दिलाता है और जो जन्म-मृत्यु, जरा-मरण, दुःख-दोषों की परिधि में घुमाकर रखता है, वही पाप कर्म है।

अध्याय १०/३ में कहते हैं - जो मुझ जन्म-मृत्यु से रहित, आदि-अन्त से रहित तथा सब लोकों के महान् ईश्वर को साक्षात्कारसहित विदित कर लेता है, वह पुरुष मरणधर्मा मनुष्यों में ज्ञानवान् है और ऐसा जाननेवाला सम्पूर्ण पापों

से मुक्त हो जाता है। अतः साक्षात्कार के साथ ही सम्पूर्ण पापों से निवृत्ति मिलती है।

सारांशतः बार-बार जन्म-मृत्यु का कारण ही पाप है और जो उससे बचाकर शाश्वत परमात्मा की ओर घुमा दे, परम शान्ति की प्राप्ति करा दे, वही पुण्य कर्म है। सच बोलना, केवल अपने परिश्रम का खाना, स्त्रियों में मातृ-भाव, ईमानदारी इत्यादि भी इस पुण्य-कर्म के सहायक अंग हैं; किन्तु सर्वोत्कृष्ट पुण्य है - परमात्मा की प्राप्ति। जो मात्र एक परमात्मा की श्रद्धा को तोड़ता है, वह पाप है।

सन्त सब एक - गीता, अध्याय ४/१ में भगवान श्रीकृष्ण ने बताया कि, इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में मैंने सूर्य के प्रति कहा था; किन्तु श्रीकृष्ण के पूर्वकालीन इतिहास अथवा अन्य किसी भी शास्त्र में कृष्ण-नाम का उल्लेख नहीं मिलता।

वास्तव में श्रीकृष्ण एक पूर्ण योगेश्वर हैं। वे एक अव्यक्त और अविनाशी भाव की स्थिति के हैं। जब कभी परमात्मा से मिलानेवाली क्रिया अर्थात् योग का सूत्रपात् किया गया तो इसी स्थितिवाले किसी महापुरुष ने किया, चाहे वह राम हों या ऋषि जरथुस्त्र ही क्यों न रहे हों? परवर्ती काल में यही उपदेश ईसा, मुहम्मद, गुरुनानक इत्यादि जिस किसी के द्वारा निकला, कहा श्रीकृष्ण ने ही।

अतः सभी महापुरुष एक ही हैं। सबके सब एक ही विन्दु का स्पर्श कर एक ही स्वरूप को पाते हैं। यह पद एक इकाई है। अनेक पुरुष इस पथ पर चलेंगे; लेकिन जब पायेंगे, एक ही पद को पायेंगे। ऐसी अवस्था को प्राप्त सन्त का शरीर एक मकान मात्र रह जाता है, वे शुद्ध आत्म-स्वरूप हैं। ऐसी स्थितिवालों ने कभी कुछ कहा तो एक योगेश्वर ने ही कहा।

सन्त कहीं न कहीं तो जन्म लेता ही है। पूरब अथवा पश्चिम में, श्याम अथवा श्वेत परिवार में, पूर्व-प्रचलित किन्हीं धर्मावलम्बियों के बीच अथवा अबोध कबीलों में, सामान्य जीवन जीनेवाले गरीब अथवा अमीरों में जन्म लेकर भी सन्त उनकी परम्परावाला नहीं होता। वह तो अपने लक्ष्य परमात्मा को पकड़कर स्वरूप की ओर अग्रसर हो जाता है, वही हो जाता है। उनके उपदेशों में जाति-पाँति, वर्गभेद और अमीर-गरीब की दीवारें नहीं रहती हैं। यहाँ तक कि उनकी दृष्टि में नर-मादा का भेद भी नहीं रह जाता (देखें, गीता - १५/१६ - "द्वाविमौ पुरुषौ लोके")।

महापुरुषों के पश्चात् उनके अनुयायी अपना सम्प्रदाय बनाकर संकुचित हो जाते हैं। किसी महापुरुष के पीछे चलनेवाले यहूदी हो जाते हैं, तो किसी के अनुयायी ईसाई, मुसलमान, सनातनी इत्यादि हो जाते हैं; किन्तु इस दीवारों से सन्त का सम्बन्ध कदापि नहीं होता। सन्त न तो कोई साम्प्रदायिक है और न कोई जाति। सन्त, सन्त है। उन्हें किसी सामाजिक संगठन में न समेटें।

अतः संसार भर के सन्तों की, चाहे किसी कबीले में उनका जन्म हुआ है, चाहे किसी मजहब (सम्प्रदाय) वाले उनका पूजन अधिक करते हों, किसी साम्प्रदायिक प्रभाव में आकर ऐसे सन्तों की आलोचना नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे निरपेक्ष हैं। संसार के किसी भी स्थान में उत्पन्न सन्त निन्दा के योग्य नहीं होता। यदि कोई ऐसा करता है तो वह अपने अन्दर स्थित अन्तर्यामी परमात्मा को दुर्बल करता है, अपने परमात्मा से दूरी पैदा कर लेता है, स्वयं अपनी क्षति करता है। संसार में जन्म लेनेवालों में यदि आपका कोई सच्चा हितैषी है, तो सन्त ही। अतः उनके प्रति सहृदय रहना संसार भर के लोगों का मूल कर्तव्य है। इससे वंचित होना अपने को धोखा देना है।

वेद - गीता में वेद का वर्णन बहुत आया है; किन्तु कुल मिलाकर वेद मार्ग निर्देशक चिह्न (Mile Stone) मात्र हैं। मंजिल तक पहुँच जाने पर उस व्यक्ति के लिए उनका उपयोग समाप्त हो जाता है। अध्याय २/४५ में श्रीकृष्ण ने कहा - अर्जुन! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश कर पाते हैं, तू वेदों के कार्यक्षेत्र से ऊपर उठ। अध्याय २/४६ में कहा - सब ओर से परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय प्राप्त होने पर छोटे जलाशयों से मनुष्य का जितना प्रयोजन रह जाता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म के ज्ञाता महापुरुष अर्थात् ब्राह्मणों का वेदों से इतना ही प्रयोजन रह जाता है, किन्तु दूसरों के लिए तो उनका उपयोग है ही। अध्याय ८/२८ में कहा - अर्जुन! मुझे तत्त्व से भली-भाँति जान लेने पर योगी वेद, यज्ञ, तप, दान इत्यादि के पुण्यफलों को पारकर सनातन पद को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जब तक वेद जीवित हैं, यज्ञ करना शेष है, तब तक सनातन पद की प्राप्ति नहीं है। अध्याय १५/१ में बताया - ऊपर परमात्मा ही जिसका मूल है, नीचे कीट-पतंगपर्यन्त प्रकृति जिसकी शाखा-प्रशाखा है; संसार ऐसा पीपल का एक अविनाशी वृक्ष है। जो इसे मूलसहित जानता है, वह वेद का ज्ञाता है। इस जानकारी का स्रोत महापुरुष है; उनके द्वारा निर्दिष्ट भजन है; पुस्तक या पाठशाला भी उन्हीं की ओर प्रेरित करते हैं।

ओम् - श्रीकृष्ण के निर्देशन में ॐ के जप का विधान पाया जाता है। अध्याय ७/८ - ओंकार मैं हूँ, ८/१३ - ॐ को जप और मेरा चिन्तन कर। अध्याय ९/१७ - जानने योग्य पवित्र ओंकार मैं हूँ। अध्याय १०/३३ - अक्षरों में अकार हूँ। १०/२५ - वचनों में एक अक्षर मैं हूँ। अध्याय १७/२३ - ॐ, तत् और सत् ब्रह्म का परिचायक है। १७/२४ - यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ ॐ से ही प्रारम्भ होती हैं। अतः श्रीकृष्ण के अनुसार ॐ का जप नितान्त आवश्यक है, जिसकी विधि किसी अनुभवी महापुरुष से सीखें।

*महापुरुष बाह्य तथा आंतरिक, व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक, लोकरीति और यथार्थ वेद-रीति दोनों की जानकारी रखता है। यही कारण है कि समस्त समाज को महापुरुषों ने रहन-सहन का विधान बताया और एक मर्यादित व्यवस्था दी। वशिष्ठ, शुक्राचार्य, स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण, महात्मा बुद्ध, मूसा, ईसा, मुहम्मद, रामदास, दयानन्द, गुरु गोविन्द सिंह इत्यादि सहस्रों महापुरुषों ने ऐसा किया किन्तु ये व्यवस्थाएँ सामयिक होती हैं। पीड़ित समाज को भौतिक वस्तु प्रदान करना यथार्थ नहीं है। भौतिक उलझनें क्षणिक हैं, शाश्वत नहीं। इसलिए उनका हल भी तत्सामयिक होता है। उसे चिरंतन व्यवस्था के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता।

व्यवस्थाकार - सामाजिक विकृतियों को महापुरुष सुलझाया करते हैं। यदि इन्हें न सुलझाया जाय, तो ज्ञान-वैराग्यजनित परम की साधना कौन सुनेगा? व्यक्ति जिस वातावरण में फँसा है, उसे वहाँ से हटाकर यथार्थ को जानने की स्थिति में लाने के लिए अनेकानेक प्रलोभन दिये जाते हैं। एतदर्थ महापुरुष जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, कोई व्यवस्था देते हैं, वह धर्म नहीं है। उससे सौ-दो सौ साल की व्यवस्था मिलती है, चार-छः सौ साल के लिए उदाहरण बन जाता है और हजार-दो हजार वर्ष में वह सामाजिक आविष्कार नवीन परिस्थितियों के साथ-साथ निष्प्राण हो जाता है। गुरु गोविन्द सिंह की सामाजिक व्यवस्था में शस्त्र अनिवार्य था। क्या अब उस तलवार का शस्त्र के स्थान पर औचित्य है? ईसा गदहे पर बैठते थे। (मत्ती २१) गदहे के सम्बन्ध में उनकी दी हुई व्यवस्थाओं का आज क्या उपयोग है? कहा - किसी का गधा मत चुराओ। आज गधा कौन पालता है? इसी प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उस समय के समाज को सम्यक् व्यवस्थित किया, जिसका उल्लेख महाभारत, भागवत् इत्यादि

ग्रन्थों में है, साथ ही इन ग्रन्थों में उन्होंने यथार्थ का भी यत्र-तत्र चित्रण किया। परमकल्याणकारी साधना और भौतिक व्यवस्थाओं के निर्देश को एक में मिला देने से समाज तत्त्वनिर्णायक क्रम को पूरा-पूरा नहीं समझ पाता। भौतिक व्यवस्थाओं को वह ज्यों-का-त्यों नहीं बल्कि बढ़ा-चढ़ाकर ग्रहण करता है, क्योंकि वह भौतिक है। "महापुरुष ने कहा" - ऐसा कहकर इस व्यवस्थाओं के लिए महापुरुषों की दुहाई भी देते हैं। वे महापुरुष की वास्तविक क्रिया को तोड़-मरोड़ कर उसे भ्रामक बना देते हैं। वेद, रामायण, महाभारत, बाइबिल, कुरान सबके प्रति पूर्वाग्रहयुक्त धूमिल धारणाएँ शेष हैं।

गीता मनुष्य मात्र के लिये - पतंजलि इत्यादि अनेक महापुरुषों ने परमश्रेय की यथार्थ विधि को सामाजिक व्यवस्था से हटाकर अलग प्रस्तुत किया। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी अलग करना कल्याणकारी समझा। उत्तम अधिकारी के प्रति ही उन्होंने उसे व्यक्त किया। श्रीकृष्ण ने बार-बार कहा कि, तुझ अतिशय प्रीति रखनेवाले भक्त के प्रति हित की इच्छा से कहता हूँ। यह अति गोपनीय है। अन्त में उन्होंने कहा - जो भक्त नहीं हो तो प्रतीक्षा करो, उसको उस रास्ते पर लाओ, फिर उसी के लिए कहो। यही मनुष्य मात्र के लिए यथार्थ कल्याण का एकमात्र साधन है, जिसका क्रमबद्ध वर्णन श्रीकृष्णोक्त गीता है।

प्रस्तुत टीका - योगेश्वर श्रीकृष्ण के आशय को ज्यों-का-त्यों व्यक्त करने के कारण प्रस्तुत टीका का नाम 'यथार्थ गीता' है। गीता अपने में पूर्ण साधन-ग्रन्थ है। सम्पूर्ण गीता में सन्देह का एक भी स्थल नहीं है, जहाँ कहीं सन्देह है; वह बौद्धिक स्तर पर इसे जाना नहीं जा सकता है, इसलिये प्रतीत होता है। अतः कहीं समझ में न आये तो किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष के सान्निध्य में समझने का प्रयास करें।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

निवेदन

'यथार्थ गीता' योगेश्वर श्रीकृष्ण की परम पुनीत वाणी श्रीमद्भगवद्गीता का ही अर्थ है। इसमें आपके हृदय में स्थित परमात्मा की प्राप्तिं के विधान का प्राप्ति के पश्चात् किया गया चित्रण है। अवहेलना की दृष्टि से इसका उपयोग वर्जित है, अन्यथा हम अपने लक्ष्य की जानकारी से वंचित रह जायेंगे। इसके श्रद्धापूर्वक अध्ययन से मानव अपने कल्याण के साधन से भरपूर हो जाता है और यत्किंचित् भी ग्रहण करेगा तो परमश्रेय को प्राप्त कर लेगा; क्योंकि इस ईश्वर-पथ में आरम्भ का कभी नाश नहीं होता।

- स्वामी अड़गड़ानन्द

कैसेट प्रसारण में अध्यायों के पूर्व की भूमिका

(१) केवल एक परमात्मा में श्रद्धा और समर्पण का सन्देश देने वाली गीता सबको पवित्र करने का खुला आमन्त्रण देती है। सृष्टि में कहीं भी रहने वाले अमीर अथवा गरीब, कुलीन तथा आदिवासी, पुण्यात्मा और पापी, स्त्री और पुरुष, सदाचारी एवं अत्यन्त दुराचारी - सबका उसमें प्रवेश है। विशेषकर गीता पापियों के ही उद्धार का सुगम पथ बताती है, पुण्यात्मा तो भजते ही हैं। प्रस्तुत है उसी गीता की अद्वितीय व्याख्या `यथार्थ गीता' का कैसेट प्रसारण -

(२) शास्त्र की रचना दो दृष्टियों से की जाती है - एक तो सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति को कायम रखना, जिससे लोग पूर्वजों के पदचिह्नों का अनुकरण कर सकें तथा दूसरा यह कि वे शाश्वत शान्ति को प्राप्त कर लें। रामचरित मानस, बाइबिल, कुरान इत्यादि में दोनों पक्षों का समावेश है किन्तु भौतिक दृष्टि-प्रधान होने के कारण मनुष्य समाजोपयोगी व्यवस्था को ही पकड़ पाता है। आध्यात्मिक सूक्तियों को भी वह सामाजिक व्यवस्था के ही सन्दर्भ में देखने लगता है; कहता है कि ऐसा तो शास्त्र में लिखा है। इसलिये वेदव्यास ने दोनों के लिए एक ही ग्रन्थ महाभारत लिखते हुए भी आध्यात्मिक क्रिया का संकलन गीता के रूप में अलग से किया जिससे कि लोग इस मूल कल्याण-पथ में भ्रान्ति का मिश्रण न कर सकें। उन्हीं आध्यात्मिक मूल्यों के साथ प्रस्तुत है गीता का दिव्य सन्देश -

(३) गीता किसी विशेष व्यक्ति, किसी जाति, वर्ग, पन्थ, देश-काल या किसी रूढ़िग्रस्त सम्प्रदाय का ग्रन्थ नहीं है बल्कि यह सार्वलौकिक तथा सार्वकालिक धर्मशास्त्र है। यह प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति, प्रत्येक आयु के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिये सबके लिये है। सचमुच गीता सम्पूर्ण मानव जाति का धर्मशास्त्र है। और कितने गौरव की बात है कि गीता आंपका धर्मशास्त्र है -

(४) पूज्य भगवान महावीर, तथागत भगवान बुद्ध विज्ञ होते हुए भी लोकभाषाओं में गीता के ही सन्देशवाहक हैं। आत्मा सत्य है और पूर्ण संयम से आत्मस्थिति का विधान है - यह गीता का ही विचार है। बुद्ध ने उसी तत्त्व को सर्वज्ञ तथा अविनाशी पद कहकर गीता के ही विचार को पुष्ट किया है। इतना

ही नहीं अपितु विश्व वाङ्मय मे धर्म के नाम पर जो कुछ भी सार-सर्वस्व है - जैसे एक ईश्वर, प्रार्थना, पश्चाताप, तप इत्यादि - गीता के ही उपदेश हैं। वही उपदेश स्वामी श्री अड़गड़ानन्द जी के मुखाब्ज से निःसृत यथार्थ गीता कैसेट रूप में मानव मात्र की मुक्ति का दिव्य सन्देश बनकर उपस्थित है।

(५) भारत की लोक-गाथाओं में है कि सुकरात की शिष्य परम्परा के मनीषी अरस्तू ने अपने शिष्य सिकन्दर को भारत से गीताज्ञानी गुरु लाने का निर्देश दिया था। गीता के ही एकेश्वरवाद को विश्व की विविध भाषाओं में मूसा, ईसा तथा अनेक सूफी महात्माओं ने फैलाया। भाषान्तर होने से ये पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं किन्तु सिद्धान्त गीता के ही हैं। अतः गीता मानव मात्र का अतर्क्य धर्मशास्त्र है। गीता का आशय 'यथार्थ गीता' के रूप में प्रस्तुत कर स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज ने मानव मात्र को एक अमूल्य निधि दी है जिसका कैसेट रूपान्तरण श्री जीतेन भाई के सौजन्य से हुआ है। गीता के दसियों हजार अनुवादों के वीच देदीप्यमान इस व्याख्या के आलोक में आप सव परमश्रेय के साधक बनें।

(६) संसार में प्रचलित सभी धर्म गीता की दूरस्थ प्रतिध्वनि मात्र हैं। स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज द्वारा इसकी व्याख्या 'यथार्थ गीता' को सुनकर जैन कुलोत्पन्न श्री जीतेन भाई जी ने व्रत ही ले लिया कि कैसेटों के माध्यम से इनका प्रसारण करूँ क्योंकि भगवान महावीर, भगवान गौतम बुद्ध, गुरु नानक, कवीर इत्यादि के श्रद्धापूरित तप-सिद्धान्तों की उच्चतम अभिव्यक्ति गीता है। गीता के वे ही कैसेट सुमन आप सबके समक्ष आत्म-दर्शनार्थ प्रस्तुत हैं।

(७) गीता के दो हजार वर्ष वाद तक धर्म के नाम पर सम्प्रदाय नहीं बने थे। इसीलिये गीता मज़हब मुक्त है। उस समय विश्व मनीषा में एक ही शास्त्र गूँज रहा था - उपनिषद-सार गीता! मोक्ष और समृद्धि की स्रोत गीता!! शास्त्र पढ़ने की अपेक्षा उसका श्रवण अधिक लाभदायक है क्योंकि उच्चारण की शुद्धता इत्यादि में एकाग्रता वँट जाती है। इसीलिए सरल भापा में रूपान्तरित यथार्थ-गीता के ये कैसेट आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं। इनके श्रवण से वच्चे-वच्चे में, पास-पड़ोस में परमात्मा के शुभ संस्कारों का संचार होगा, आपके घर आँगन का वायुमण्डल भी तपोभूमि-सा सुरभित हो उठेगा।

(८) वह घर श्मशान है जिसमें प्रभु चर्चा न हो। आज का मानव इतना व्यस्त है कि चाह कर भी भजन के लिये समय नहीं निकाल पाता। ऐसी परिस्थिति में गीता का सन्देश कर्ण कुहरों तक पहुँच भर जाय तो परमश्रेय और समृद्धि के संस्कारों का बीजारोपण हो जाता है। भगवान की वाणी के इन कैसटों से दिन भर उस परम प्रभु का स्मरण वना रहेगा - और यही भजन .की आधारशिला है।

(९) अपने बच्चों को हम शिक्षा दिलाते हैं कि वह अच्छे संस्कारों का अर्जन करें। अच्छे संस्कारों का आशय लोग लेते हैं कि वह अपनी रोजी-रोटी, आवास-विकास की समस्याओं को हल कर ले। ईश्वर की ओर किसी का ध्यान ही नहीं है। किसी-किसी के पास इतना कुछ है कि प्रभु को पुकारने की आवश्यकता ही नहीं समझता। किन्तु यह सव कुछ पार्थिव ही तो है। न चाहते हुए भी सारा वैभव यहीं छोड़कर जाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में ईश्वर की पहचान ही एकमात्र सम्वल है जिसे प्रदान कर रहा है यथार्थ गीता का यह कैसेट प्रसारण-

(१०) संसार में जितने भी धार्मिक मत-मतान्तर हैं वे सबके सब किसी महापुरुष के पीछे श्रद्धालुओं का संगठित समाज है। महापुरुष की एकान्त भजनस्थली ही कालान्तर में तीर्थ, आश्रम, मठ और मन्दिरों का रूप ले लेते हैं, जहाँ महापुरुष के नाम पर जीविकोपार्जन से लेकर विलासिता तक के साधन जुटाये जाते हैं। गद्दियाँ महापुरुष के बाद बनती हैं, गद्दियों से कोई महापुरुष नहीं वनता। इसीलिए धर्म सदा से ही प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष के क्षेत्र की वस्तु रहा है। गीता ऐसे ही निर्विवाद महापुरुष योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण की वाणी है जिसके चिरन्तन सत्यों से आपका साक्षात् करा रहा है `यथार्थ गीता' का यह कैसेट प्रसारण।

ॐ

- हमारे प्रकाशन -

पुस्तकें	भाषा
यथार्थ गीता	अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, पंजाबी, गुजराती, बंगला, तमिल, तेलगू, मलयालम, जर्मन, फ्रेंच, नेपाली, स्पेनीश, इटालियन, उर्दू।
शंका समाधान	हिन्दी, गुजराती, मराठी।
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति	हिन्दी, मराठी, गुजराती।
अंग क्यों फड़कते हैं ? क्या कहते हैं ?	हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती।
अनछुये प्रश्न	हिन्दी, गुजराती।
एकलव्य का अंगूठा	हिन्दी, मराठी, गुजराती।
भजन किसका करें?	हिन्दी।

कैसेट्स	
यथार्थ गीता	हिन्दी, गुजराती, मराठी अंग्रेजी।
अमृतवाणी (श्री स्वामीजी के मुखारविन्द से निःसृत अमृतवाणियों का संकलन - वाल्यूम १ से ४१ तक।)	हिन्दी।
गुरुवंदना (आरती)	

लेखक के प्रति ....

"यथार्थ गीता" के लेखक एक सन्त हैं जो शैक्षिक उपाधियों से सम्बद्ध न होने पर भी सद्गुरु कृपा के फलस्वरूप ईश्वरीय आदेशों से संचालित हैं। लेखन को आप साधना-भजन में व्यवधान मानते रहे हैं किन्तु गीता के इस भाष्य में निर्देशन ही निमित्त बना। भगवान ने आपको अनुभव में बताया कि आपकी सारी वृत्तियाँ शान्त हो गई हैं केवल छोटी-सी-एक वृत्ति शेष है - गीता लिखना। पहले तो स्वामीजी ने इस वृत्ति को भजन से काटने का प्रयत्न किया किन्तु भगवान के आदेश का मूर्त स्वरूप है, - "यथार्थ गीता"। भाष्य में जहाँ भी त्रुटि होती भगवान सुधार देते थे। स्वामीजी की स्वान्तः सुखाय यह कृति सर्वान्तः सुखाय बने, इसी शुभकामना के साथ।

- प्रकाशक की ओर से

वर्षों के लम्बे अन्तराल के बाद श्रीमद् भगवद् गीता की शाश्वत व्याख्या



शास्त्र

परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाले क्रियात्मक अनुशासन के नियमों का संकलन ही शास्त्र है। इस दृष्टि से भगवान श्रीकृष्णोक्त गीता सनातन, शाश्वत धर्म का शुद्ध शास्त्र है; जो चारों वेद, उपनिषद, समस्त योगशास्त्र, रामचरित मानस तथा विश्व के सभी दर्शनशास्त्रों का अकेले ही प्रतिनिधित्व करती है। गीता मानव मात्र के लिए धर्म का अतर्क्यशास्त्र है।

परमात्मा का निवास

वह सर्वसमर्थ, सदा रहनेवाला परमात्मा मानव हृदय में स्थित है। सम्पूर्ण भावों से उसकी शरण जाने का विधान है, जिससे शाश्वत धाम, सदा रहनेवाली शान्ति तथा अनन्त जीवन की प्राप्ति होती है।

सन्देश

सत्य वस्तु का तीनों कालों में अभाव नहीं है और असत्य वस्तु का अस्तित्व नहीं है। परमात्मा ही तीनों कालों में सत्य है, शाश्वत है, सनातन है।

-स्वामी अड़गड़ानन्द

५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००
५२००

वर्षों के लम्बे अन्तराल के बाद श्रीमद् भगवद् गीता की शाश्वत व्याख्या



श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट
२९-ए, फ्रेंच रोड, मर्चेंट क्लब के सामने, चौपाटी, मुम्बई - ४००००७
फोन: ३६४ ८२०३ / ३६८ ५५२२ फैक्स: ०९-२२-३६३ ४६९०